विजयदेव नारायण साही की आलोचना-दृष्टि

(हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद की पी एच० डी० (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध)

2002

प्रस्तुतकर्त्री

प्रत्यूषा वड्लमूडि

निर्देशक

डा० रवि रंजन
हिन्दी विभाग
हैदराबाद विश्वविद्यालय
हैदराबाद - 500 046

विभागाध्यक्षा

प्रो० शशि मुदिराज
पी एच०डी०, डी०लिट०
हिन्दी विभाग
हैदराबाद विश्वविद्यालय
हैदराबाद - 500 046

CERTIFICATE

Name : **Prathyusha Vadlamudi**

Dept/Centre : **Hindi, Humanities**

University of Hyderabad

This is to certify that, **I Prathyusha Vadlamudi,** have carried out the research embodied in the present thesis for the full period prescribed under the Ph.D. ordinance of the University.

I declare that no part of this thesis was submitted earlier for the award of any research degree or diploma to any university.

27.12.02

Supervisor

(Prathyusha Vadlamudi)

27/12/02

Head, Dept. of Hindi

31.12.02

Dean, School of Humanities

DEAN
SCHOOL OF HUMANITIES
University of Hyderabad
Hyderabad-500 134

भूमिका

विजयदेवनारायण साही 20वीं शताब्दी के प्रमुख साहित्यकारों में एक हैं। कविता और आलोचना के क्षेत्र में उनका योगदान महत्वपूर्ण है। अपनी विलक्षण काव्य-दृष्टि और मौलिक चिन्तन के द्वारा उन्होंने हिन्दी साहित्य में एक नया आयाम जोड़ा है। लेकिन उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का सही मूल्यांकन लगभग नहीं के बराबर है। इसका एक कारण यह बताया जाता है कि उन्होंने बहुत कम लिखा है। पर यह ध्यातव्य है कि उन्होंने लिखा कम नहीं, बल्कि छपवाया कम है। अपने संक्षिप्त जीवन (1924-1982) में वे लगातार लिखते रहे, लेकिन उसे छपवाने में लापरवाह थे। इसका प्रमाण यह है कि उनके जीवन काल में उनकी एक ही किताब 'मछलीघर' (कविता संग्रह) का प्रकाशन हुआ और कुछ कविताएँ 'तीसरा सप्तक' में छपीं। उनका दूसरा काव्य संग्रह 'साखी' उनके मरणोपरान्त ही छपा। उनके वैचारिक लेखन व व्याख्यानों के संकलन के रूप में 'जायसी', 'साहित्य और साहित्यकार का दायित्व', 'छठवाँ दशक' तथा 'वर्धमान और पतनशील' अब तक प्रकाशित रचनाएँ हैं। इनके अलावा अंग्रेजी और हिन्दी के कई लेख और भाषण अभी भी नहीं छपे हैं। यह आश्चर्यजनक बात है कि साही ने केवल कविता और आलोचना ही नहीं लिखी है, बल्कि नाटक, कहानी, ललित निबन्ध आदि में भी उनका प्रवेश था। 'विशाखदत्त की चाय', 'उतरता हुआ नशा', 'छप्पन छुरी', 'तीसरा शर्त' आदि उनकी कुछ अप्रकाशित कहानियाँ हैं और नाटक हैं : 'कुर्सी का उम्मीदवार', 'कोठी का दान', 'एक निराश

आदमी', 'सुभद्र', 'आलोचना शिक्षण शिविर उफ़ गुलिवर की चौथी यात्रा', 'धुले हुए रंग', 'बेबी का कुत्ता', 'रामचरन मिस्त्री का बेटा' आदि । कई ललित निबन्ध, जैसे 'अपनी अपनी ढपली अपना अपना राग', 'हस्ताक्षर', 'कटी उम्र होटलों में, 'उनके साथ यात्रा में', 'ठलुआ बुद्धिजीवि' आदि आज भी पाठकों तक नहीं पहुँचे हैं । साही के अप्रकाशित साहित्य में 'सड़क साहित्य' और अनुवाद साहित्य भी मौजूद है । जाहिर है कि इस पूरे साहित्य के प्रकाशन से न केवल हिन्दी साहित्य के भण्डार को लाभ होगा, बल्कि साही क सही मूल्यांकन भी अनिवार्य हो जाएगा । इसके अप्रकाशित रहने के अन्यान्य कारणों के साथ साही का अपना एक कारण भी है । वे प्रकाशन के प्रति लापरवाह रहे और एक प्रकार का संकोच भी उनके मन में था । अपनी डायरी में एक जगह उन्होंने लिखा है : "क्या मैं सफल आलोचक हो सकता हूँ ? मेरी भाव ग्राहिका शक्ति किस-किस प्रकार कार्य प्रतिक्रिया करती है, उनके व्यवहारों के प्रति कुछ न कुछ निश्चित जागरूकता तो मेरे भीतर अवश्य है । जीवन की विभिन्न अनुभव क्षेत्रों में सिद्धान्तों को लागू करने की भी क्षमता मैं ने अपने में देखी है । अपने सीमित ज्ञान के अनुसार मैं निष्पक्षता भी रख सकता हूँ, परन्तु यह सब होते हुये भी मुझे पूर्ण विश्वास नहीं होता कि मैं आलोचक हो सकता हूँ ।" यह संकोच और उससे जुड़ी विनयशीलता साही के व्यक्तित्व का एक महत्वपूर्ण अंग है । जैसा कि केशवचन्द्र वर्मा ने लिखा है, 'माध्यम के जरिये अपने यश का प्रभामण्डल बनाने की कोशिश साही की प्रकृति में नहीं थी', चाहे वह माध्यम कविता-आलोचना हो या राजनीति ।

साहित्य के साथ-साथ साही राजनीति के क्षेत्र में भी अत्यन्त सक्रिय रहे । मजदूरों के संगठन बनाये, सरकार का विरोध किया, जेल गये और चुनाव भी लडे ।

इस सक्रियता में उन्हें कई चुनौतियों का सामना करना पड़ा फिर भी वे संघर्ष करते रहे, लडते रहे । साथ ही अपने चारों ओर की गतिहीनता, स्वार्थपरता के प्रति खीज भी उनमें दिखाई देती है । उन्होंने लिखा है - "जिस अनवरुद्ध गतिमयता की लालसा ने मुझे राजनीति, समाज और साहित्य आदि में साहस करने के लिए विवश किया उसे नहीं पाता हूँ और विकल हो जाता हूँ । अपने चारों ओर केवल आत्मविश्वास हीनता और जीवन के उबाल की अनुपस्थिति ही दीखती है । मेरी प्रेरणा कुंठित हो जाती है और साहस छीजने लगता है । एक डूबने वाले के साथ यदि दो चार और हों तो शायद डूबना उतना भयानक न लगे ।" भयानक होने के बावजूद वे डूबे क्योंकि वे चाहते थे कि "कोई ऐसा जबरदस्त भँवर पैदा हो कि सभी पत्ते अपने-अपने तिनकों से छूट कर बरबस एक जबरदस्त वेग के साथ चक्र में झिंझोड़ उठते । वे हमेशा एक असाधारण घटना की अपेक्षा करते थे जिससे 'एक बार बदन के रेशे-रेशे हिल जाएँ ।' इसी अपेक्षा ने उन्हें राजनीति की ओर प्रेरित किया । साहित्य में राजनीति, विचारधारा की बातें करना एक बात है और उनमें सक्रिय रुप में भाग लेना दूसरी बात है । साही दोनों क्षेत्रों में एक साथ काम करते रहे, जो उनकी विलक्षण प्रतिभा और क्षमता का परिचायक है । साहित्यकार और राजनीतिक ही नहीं, वे एक कुशल अध्यापक भी थे । उन्होंने अपने विद्यार्थी-काल में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रोफेसर सतीशचन्द्रदेव से साहित्य की समझ प्राप्त की थी और आचार्य नरेन्द्रदेव से प्रभावित होकर समाजवादी आन्दोलन में सक्रिय रुप से भागीदारी की थी । उन्होंने बनारस के कालीन बुरकरों के संगठन बनाये, स्वतन्त्रता आन्दोलन में भी भाग लिया । आचार्य नरेन्द्रदेव के प्रोत्साहन से ही काशी विद्यापीठ में अध्यापन आरंभ किया और बाद में इलाहाबाद विश्वविद्यालय

के अंग्रेजी अध्यापक बने । समाजवादी आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी के साथ अध्ययन-मनन और लेखन का कार्य भी चलता रहा । वे विस्तृत और गहरे अध्येता थे और अपने अध्ययन को जीवन से सम्बद्ध बनाने की कोशिश भी करते थे । उन्होंने लिखा है "अत्यधिक पढ़ना तभी श्रेयस्कर हो सकता है जब दिमाग में एक 'प्रेजुडिस' बन जाय जो इन विचारों के जंगल को अपने प्रकार से छाँट कतर सके । लेकिन मुश्किल यह है कि यह अध्ययन भी इसलिए हो रहा है कि एक प्रेजूडिस बनने में सहायता मिल सके । मार्क्स को पकड़ लेना आसान है लेकिन उसके द्वारा जीवन के प्रत्येक कदम को परखना कठिन है ।" 1944-47 में 'परिमल' संस्था की स्थापना के आरंभिक दिनों में एक प्रमुख रचनाधर्मी छात्र के रूप में साही उसमें शामिल हुए । इससे उनके व्यापक अध्ययन को एक दिशा मिली । वे लगातार 'परिमल' की गोष्ठियों, बहसों में भाग लेते रहे ।

विजयदेवनारायण साही मूलत: कवि हैं । कहना न होगा कि हर बड़ा साहित्यकार पहले सर्जनात्मक लेखक होता है फिर आलोचक, चाहे उसने जितना भी कम सृजनात्मक लेखन किया हो । हालांकि आलोचना भी एक अर्थ में सृजनात्मक लेखन ही है । रचनात्मक समझदारी के अभाव में आलोचना श्रेष्ठ नहीं हो सकती । आलोचना में भी रचनाकार की दृष्टि और संवेदना ही काम करती है । किसी साहित्यकार के रचना-कर्म और समीक्षा-कर्म को पृथक करके नहीं देखा जा सकता । खास तौर पर साही जैसे रचनाकार के संदर्भ में, जिन्होंने 'आलोचना को रचना की सघन और तनावपूर्ण शर्तों पर पाया है ।' साही के काव्य-व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन

नहीं हुआ है । उनकी कविताएँ गंभीर विश्लेषण की माँग करती हैं । उनकी कविता में संवेदनाएँ हैं, जटिलताएँ हैं और अंतर्विरोध है । उसमें यथार्थ और आदर्श के बीच तनाव साफ दिखाई देता है । उन्होंने 'मछलीघर' की भूमिका में अपनी कविता के बारे में लिखा है कि वह 'आन्तरिक एकालाप को पकड़ने की कोशिश है । यह 'आन्तरिक एकालाप 'साखी' तक आते-आते संवाद के रूप में बदल जाता है और यह संवाद आत्मीय संवाद है । अपने जीवन-सापेक्ष दृष्टिकोण के कारण उनकी कविता में यह आत्मीयता झलकती है । इस जीवन सापेक्षता के बावजूद साही में मृत्यु के प्रति अत्यधिक आकर्षण दिखाई देता है । उन्होंने स्वयं लिखा है कि "कभी-कभी बड़ी उद्दाम इच्छा उठती है मृत्यु का साक्षात्कार करने की । ... मैं समझता हूँ मृत्यु जीवन का सबसे आनन्दकारी अनुभव है ।" उनकी एक कविता 'क्रतो स्मर...' में भी यह आकर्षण व्यक्त हुआ है :

"मैं ने तुम्हारी मृत्यु को सामने देखकर
हिरण्मय ढक्कन उघाड़ दिया है
इससे अधिक मैंने कुछ नहीं किया ।
....
मृत्यु के सुनसान दर्पण में प्रतिबिम्ब
केवल यह
फुफकारता हुआ
अग्निकमल बच रहता है :

यही परम्परा है, यही क्रान्ति है
यही जिजीविषा है
यही आयु है, यही नैरन्तर्य है ।
इस निष्कलंक सर्वनाश के अतिरिक्त
कोई नैरन्तर्य नहीं है ।"

(मछलीघर)

इसमें नश्वरता का साक्षात्कार है लेकिन कहीं कोई पराजय नहीं है । उस साक्षात्कार में कोई अमंगलमय भाव नहीं है । साही खुद अपने बारे में कहते हैं कि मृत्यु से साक्षात्कार की इच्छा के बावजूद वे 'मार्बिड' नहीं हैं । यह 'क्रतोस्मर' का भाव वेद ो लिया गया है । दर्शन में भी इसी विराट नश्वरता की बात होती है । साही सच्चाई को दार्शनिक स्तर पर पकड़ने की कोशिश करते हैं । कुछ विचारक पूरे आधुनिक साहित्य में अकेले साही को ही सच्चे अर्थों में दार्शनिक कवि मानते हैं । इस मृत्युबोध के बावजूद साही की कविता में तीव्र जिजीविषा है :

दे दे रे
देदे इस साहसी अकेले को
एक बूंद
ओ सन्ध्या
ओ फ़क़ीर चिड़िया
ओ रुकी हुई हवा

ओ क्रमश: तर होती हुई जाड़े की नर्मी

ओ आस पास झाडों झंखाडों पर बैठ रही आत्मीयता

कैसे ? इस धूसर परीक्षण में पंख खोल

कैसे जिया जाता है ?

कैसे सब हार त्याग

बार बार जीवन से स्वत्व लिया जाता है ?

कैसे, किस अमृत से

सूखते कपाटों को चीर चीर

मन को निर्बन्ध किया जाता है ?

दे दे इस साहसी अकेले को

(मछलीघर)

साही की कविता में संवेदनशीलता की गहराई है जिसको दार्शनिक चिंतन का आधार प्राप्त है । अशोक वाजपेयी ने साही को 'एक बहस करता हुआ आदमी' कहा है और उनकी कविता भी इस बहस में शामिल है । आलोचना में यह बहस करता हुआ आदमी मुखर रूप से सामने आता है । यह शोध प्रबंध उस बहस को समझने और उसके जरिये साही के आलोचनात्मक दृष्टिकोण को पकड़ने का विनम्र प्रयास है । इस प्रयत्न के क्रम में विवेचन-विश्लेषण की सुविधा के लिए शोध प्रबंध को छ: अध्यायों में विभक्त किया गया है ।

प्रथम अध्याय 'विजयदेवनारायण साही की इतिहास-चेतना' पर आधारित है । इसमें उनके इतिहास और परम्परा सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण और साथ ही उनके आलोचना कर्म में प्रकट हुई उनकी इतिहास-चेतना को रेखांकित भी किया गया है । द्वितीय अध्याय साही के सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर केन्द्रित है । इसमें विभिन्न सन्दर्भों में इन मुद्दों पर उनके द्वारा प्रकट किये गये विचार सम्मिलित हैं । तृतीय अध्याय में साही की साहित्य सम्बन्धी सैद्धान्तिक स्थापनाओं का विवेचन-विश्लेषण है जिसमें उनके द्वारा उठाये गये सवाल और उन्हीं के द्वारा दिये गये जवाब और निष्कर्ष तथा अन्य विचारकों के मतों को सामने रखकर साही के दृष्टिकोण का विश्लेषण हुआ है । चतुर्थ अध्याय 'मध्य युगीन काव्य और साही की आलोचना-दृष्टि' पर आधारित है । इसके केन्द्र में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'जायसी' है । किन्तु साथ ही अन्य मध्ययुगीन कवियों और उनकी रचनाओं के सन्दर्भ में साही के आलोचनात्मक विवेक की पड़ताल भी है । पंचम अध्याय साही की व्यावहारिक समीक्षा पर केन्द्रित है । इसमें साही द्वारा जायसी, प्रसाद, प्रेमचन्द, शमशेर आदि रचनाकारों और उनकी रचनाओं के बारे में प्रस्तुत व्यावहारिक आलोचना का विवेचन है । छठवाँ अध्याय साही की आलोचना की भाषा-शैली पर केन्द्रित है, जिसमें उनकी भाषा व रचना-शैली पर विचार हुआ है और साही के भाषा सम्बन्धी वक्तव्यों का भी विश्लेषण किया गया है ।

इस शोध कार्य के आरंभ से अन्त तक मेरे निर्देशक डॉ. रवि रंजन जी से जो सहायता और प्रोत्साहन मुझे मिलता रहा, उसके लिए मैं उनकी बहुत अभारी हूँ ।

उनके सहृदयतापूर्ण व्यवहार और मार्गनिर्देशन के बिना तो यह कार्य सफल नहीं हो पाता ।

विभागाध्यक्षा प्रो. शशि मुदिराज तथा विभाग के उन सभी सदस्यों के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिनका प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग मुझे मिलता रहा है ।

मैं श्रीमती सुष्मा शर्मा जी की भी आभारी हूँ जिन्होंने अपने आत्मीय व्यवहार से हमेशा मेरा उत्साहवर्द्धन किया है ।

इस शोध कार्य को सफल बनाने में दिल्ली में जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्षरुप से मेरी सहायता की, उन सब के प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ ।

मैं अपने परिवार के सदस्यों और अपने सभी मित्रों की आभारी हूँ जिनकी सहायता मुझे समय-समय पर मिलती रही है ।

प्रत्यूषा वी०

विषय-सूची

	पृ.सं.
भूमिका	I-IX
अध्याय - एक	
विजयदेवनारायण साही की इतिहास-चेतना	**1-47**
अध्याय - दो	
आलोचक विजयदेवनारायण साही : सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक दृष्टिकोण	**48-85**
अध्याय - तीन	
साही की साहित्य विषयक सैद्धान्तिक स्थापनाएँ	**86-134**
अध्याय - चार	
मध्ययुगीन काव्य और साही की आलोचना-दृष्टि	**135-176**
अध्याय - पाँच	
व्यावहारिक समीक्षा और साही का आलोचनात्मक-लेखन	**177-258**

अध्याय - छः

साही की आलोचना की भाषा 259-281

उपसंहार 282-300

सन्दर्भ ग्रंथ-सूची 301-305

****

अध्याय – एक

विजयदेवनारायण साही की इतिहास – चेतना

21वीं शताब्दी के आरम्भ में किसी साहित्यकार की इतिहास–चेतना पर विचार करते हुए सवाल उठना स्वाभविक है कि क्या इतिहास का अंत हो गया है ? वस्तुतः यह घोषणा रुस में साम्यवादी शासन एंव सोवियत गणराज्य के अवसान के परिप्रेक्ष्य में फ्रांसिस फुकू यामा ने अपनी पुस्तक 'इतिहास का अंत और अंतिम मनुष्य' (The End of History and the Last Man) में की थी। जबकी वास्तविकता यह है कि इतिहास कभी खत्म नहीं होता। इतिहास की गति और उसकी व्याख्या को लेकर समय–समय पर अनेकानेक मतवाद प्रचलित रहें हैं। इतना ही नहीं इतिहास में बार–बार युग के साथ फैशन भी बदला है। फ्रांस के 'एनल्स स्कूल', खासकर मार्क ब्लाक, लूसीय फेबर, फेर्नद ब्रॉडले अनन्तर लादुरी और सबके बाद फुकू–देरिदा का पथ पकड़कर नियो–स्टक्चरिस्ट लोग भी नित्य नानाविद फैशन बदल रहें हैं। स्पष्ट ही आजकल देरिदा का मंतव्य सर्वाधिक चर्चित है।

विजयदेवनारायण साही ने अपने ढंग से इतिहास को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''इतिहास सिर्फ वही नहीं है, जो दो हजार बरस पहले घटित हुआ था, बल्कि वह भी है, जो पिछले सौ वर्षों में गुजरा है और वह भी, जो कल घटित हाने की सम्भावना की तरह आज हमारे मानस को व्याकुल कर रहा है। आज जो कुछ हमारे मन में इच्छाओं, आवेगों, विचारों, अभावों या उपलब्धियों की तरह गुजर रहा है, वह भी इतिहास है और हम उससे बचकर निकल नहीं सकते। इस इतिहास में सिर्फ स्वर्ण गुण नहीं हैं, सिर्फ महान् परम्पराएँ नहीं हैं, बल्कि उँचा–नीचा, सोना–लोहा, हार–जीत – वह सब है, जो हमारे भीतर हमें सृजन करने, निर्मित करने, बिना पुरखों के दामन में मुँह छिपाये पूरी जिम्मेदारी के साथ परिस्थितियों का सामना करने के लिए तैयार

करता है। इस दृष्टि से पिछले सौ वर्षों का इतिहास और परम्परा के बारे में लोगों की सतर्कता हमारे लिए ज्यादा नज़दीक और संगत इतिहास है।[1]

कहना न होगा कि इतिहास केवल अतीत की घटनाओं का लेखा–जोखा नहीं हुआ करता। वस्तुतः वह एक प्रवाहमान धारा है जिसके विकास के नियमों की शिनाख़्त करते हुए अनेकानेक इतिहास दार्शनिकों ने कई बार परस्पर विरोधी मत व निष्कर्ष सामने रखे हैं । साही जब कहते हैं कि 'इतिहास वह भी है जो कल घटित होने की सम्भावना की तरह आज हमारे मानस को व्याकुल कर रहा है,' तो उनका यह वक्तव्य हमें अनायास मार्क्स के एक कथन की याद दिलाता है कि 'इतिहास प्राक्–भविष्य होता है'। तात्पर्य यह है कि सच्चा इतिहास केवल अतीत का नहीं, बल्कि भविष्य का होता है। अर्थात्, अतीत को उसकी पूरी वर्तमानता में रखकर विवेचन–विश्लेषण करते हुए, उसमें से भविष्य के लिए किसी संदेश का संधान करने की काशिश ही इतिहास के अध्ययन का उद्देश्य होता है। संभवतः इसी कारण सुप्रसिद्ध विचारक इ. एच. कार ने इतिहास को 'अतीत के साथ वर्तमान का निरन्तर चलने वाला संवाद' कहा है।

इतिहास के साथ–साथ एक दूसरी जिस महत्वपूर्ण अवधारणा पर साही ने विचार किया है, वह है परम्परा। उनके शब्दों में '' परम्परा इतिहास बरता जाने वाला वह अवशेष है, जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित होता है। ''[2] अपने विश्लेषण–क्रम में साही परम्परा और परम्परावाद में फर्क करते हैं। स्मरणीय है कि परम्परा के गतिशील तत्व जब समाप्त हो जाते हैं और वह एक जड़ रुप धारण कर लेती है, तो परम्परावाद का जन्म होता है। इसी वजह से कई बार '' सामाजिक रिश्तों और संस्कृति के स्तरों पर परम्परा कुछ अधिक बलवती दिखती है। लेकिन यहाँ भी परम्परा जनित आत्मविश्वास और सृजनशील आत्मविश्वास में टकराव की स्थिति होती है। कला और साहित्य में

यह संघर्ष काफ़ी मुखर है। यह कहना कठिन है, कि जैसे–जैसे परिवर्तन की गति तेज होती जाती है, परम्परावाद या तो कमजोर होता है या अपनी शक्ल बदलने के लिए मजबूर होता जाता है। ''3 कहने का तात्पर्य यह है कि इतिहास की गति प्रायः परम्परा के विरुद्ध पड़ती दिखती है। सच तो यह है कि इतिहास के किसी काल–खण्ड विशेष में परम्परा के सहिष्णु और उदीयमान तत्वों के बीच अंतः संघर्ष की स्थिति हुआ करती है। इसमें उदीयमान तत्वों का संबंध जनता के सृजनात्मक स्फुरण में निहित होता है। साही का कहना है कि '' राजनीति में भी जनतन्त्र को स्थापित करने के साथ, ऐसी बहुत सी चीजें आज हमारे जीवन का अंग बन गई हैं, जिन्हें, परम्परा से सीधे जोड़ना कठिन है। संसद, मंत्रिमंडल, राजनैतिक दल, इत्यादि सैकड़ों संस्थान बिल्कुल नये हैं। इनकी जड़ें परम्परा में नहीं बल्कि हिन्दुस्तान के निवासियों के सृजनात्मक स्फुरण में है। इनका स्रोत हमारे उस आत्मविश्वास में नहीं है, जो सोचता है, कि यह सब हमारे पहले भी था, बल्कि उस दूसरे प्रकार के आत्मविश्वास में है, जो सोचता है, कि आज, इसी क्षण हम अपने विवके से इनका सृजन करते हैं, और भविष्य का सामना करते हैं। ''[4]

परम्परा को व्यावहारिक धरातल पर स्पष्ट करने के लिए साही ने आर्थिक क्षेत्र तथा खेती और उद्योग का एक उदाहरण दिया है। उनका कहना है कि हमारे समय में यदि इन क्षेत्रों में नये ढंगों और नये औजारों की मदद नहीं ली जाए तो हमारा अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। बाबजूद इसके इनमें अभी भी बहुत सारा काम परम्परा के आधार पर ही चलता है, जो वस्तुतः हमारी अक्षमता का प्रतीक है, परम्परा के अन्धानुसरण का प्रमाण नहीं। '' बैलगाड़ी अब भी चलती है। यह विवशता है। इस तरह जिन्हें संतोष न हो, वे चाहें तो कह लें – मजबूरी का दूसरा नाम परम्परा है। ''[5] भारतीय पुनर्जागरण काल के संदर्भ में साही ने इतिहास और परम्परा के बीच टकराव की स्थिति को रेखांकित किया है। स्पष्ट ही पुनर्जागरण काल में परम्परा एक अति प्रतिष्ठित शब्द था। लेकिन उसी काल में नये रास्ते इजाद करने की

कोशिश भी की गई। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी का हिन्दुस्तान विशुद्ध अर्थों में परम्परावादी था। उस हिन्दुस्तान की सीमाओं और परम्पराओं को तोड़कर समाज को नये ढंग से एकत्र करने की कोशिश ही पुनर्जागरण की असली प्रेरणा है। चूंकि सत्रहवीं–अठारहवीं सदी के भारतवासियों के लिए परम्परा और रिवाज में कोई अन्तर नहीं रह गया था, इसलिए हम कह सकते हैं कि उस जमाने के लोग परम्परावादी थे और पुनर्जागरण काल में इस परम्परावाद को ध्वस्त करने वाले लोगों के मन में भी परम्परा के प्रति आसक्ति थी इसलिए उन्होंने परम्परा की नई परिभाषा गढ़ना ज्यादा उचित समझा। दूसरे शब्दों में कहें तो मध्यकाल के विपरीत पुनर्जागरण काल के लिए परम्परा वह है, जो इतिहास के निःकलंक स्वर्णिम युगों में सार तत्व या मूल तत्व की तरह अन्वेषित की गई। इस परम्परा के लिए इतिहास का नैरन्तर्य आवश्यक नहीं है। इस परम्परा के साथ 'महान' का विशेषण लगाना जरूरी और आसान, दोनों हो गया। फलतः इतिहास में बहुत–सी खाली जगह छूट गयीं। साथ ही परम्परा बरती जाने वाली चीज़ न रह कर, दार्शनिकों, अध्यापकों, शोधकर्ताओं और प्रचारकों की तलाश की चीज हो गयी। इस नयी परिभाषा के बल पर दयानन्द सरस्वती के लिए लम्बे इतिहास को नकार कर एक नये आन्दोलन का सूत्रपात करना संभव हो सका। लेकिन इतिहास शास्त्रार्थ और तत्व–मीमांसा से ज्यादा प्रबल है। उसने बदला लिया। उसने सिद्ध किया, कि आर्यसमाज वैदिक युग की वस्तु न होकर हिन्दुस्तान की उन्नीसवीं सदी के मानस की एक लहर है, और इसी हैसियत से वह इतिहास में गिना जायगा।[6]

साही के इतिहास और परम्परा विषयक विवेचन–विश्लेषण में जिस रूप में द्वन्द्वात्मक पद्धति का इस्तेमाल किया गया है, वह उनकी भारतीय मानसिक बनावट का परिचायक है। सच तो यह है कि उनका लेखन उनके चिंतन में क्रमशः विकसित और उत्तरोत्तर प्रौढ़ होती मानसिकता का प्रतिफलन है। एक आलोचक के रूप में साही की इस अंतर्यात्रा के विकास का सम्बन्ध

इतिहास, विज्ञान और तद्युगीन राजनीतिक वस्तु–स्थिति से उनके जुड़ाव में निहित है। इतिहास और परम्परा विषयक उनकी धारणा में अन्तर्विरोधों की द्विविधता का विकास दिखाई पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह कि हमें विकास के न्याय को ध्यान में रखते हुए अन्तर्विरोधों की द्विविधता की दृष्टि से विजयदेवनारायण साही की इतिहास चेतना की छानबीन करनी चाहिए। इस छानबीन से ही उनकी इतिहास–चेतना की सामर्थ्य और सीमाओं का उद्घाटन संभव है। वस्तुतः विरोधी तत्वों का सामंजस्य देख सकने की क्षमता के कारण ही साही ने लिखा है कि परम्परा को सिर्फ सार–तत्व या मूल–तत्व की तरह पहचानने की कोशिश में हमारे हाथ से यह नजदीकी इतिहास छूट जाता है। कोई वजह नहीं कि हम ''परम्परा को सिर्फ तात्विक विवेचन की चीज मानें, खासतौर पर यदि हम दर्शन के क्षेत्र में तत्ववाद के कायल न हों। यदि हम इस दार्शनिक लबादे को उतार फेंके, तो एक और प्रश्न खड़ा होता हैः परम्परा या परम्पराएँ ? इतिहास में हमें परम्पराओं के दर्शन होते हैं, और उनका मतलब भी समझ में आता है। लेकिन यह एकवचन 'परम्परा' तत्ववादी दर्शन की उपज है। अगर सबको आत्मसात् करने वाली परम्परा जैसी कोई चीज है भी, तो वह काल–प्रवाह या ऐतिहासिक निरन्तरता का ही दूसरा नाम होगी। उस हालत में भी समूचा इतिहास पुनर्जागरण काल की सारग्राही परम्परा के विरूद्ध खड़ा होगा। ''[7]

प्रायः यह देखा जाता है कि समाज विज्ञान के विद्वान और सामाजिक परिवर्तन के लिए काम करने का दावा करने वाले लोग समय–समय पर अपनी सुविधा के अनुसार किसी मुद्दे को तोड़–मरोड़कर पेश कर देते हैं। उदाहरण के लिए 'रूढ़ि' और 'परम्परा' की धारणा को लिया जा सकता है, जिसकी व्याख्या में प्रायः एकरूपता का अभाव रहा है। साही ने परम्परा और रूढ़ि की धारणा को गड्ड मड्ड करने वाले 'सीमित परम्परावादियों' की खबर लेते हुए लिखा है कि ''जिसे वे बदलना चाहते थे, उसका नाम उन्होंने रूढ़ि दे दिया,

जिसे नहीं बदलना चाहते थे, उसे परम्परा कह कर पुकारा। दहेज–प्रथा रूढ़ि है, वेदान्त–दर्शन परम्परा। लेकिन यह फर्क तभी तक चल सकता था, जब तक सब दहेज–प्रथा को बदलना चाहते थे, और वेदान्त–दर्शन को छोड़ना नहीं चाहते थे। अन्य ऐसी कोई कसौटी नहीं है, जिसके आधार पर हम कह सकें, कि जातिप्रथा रूढ़ि है या परम्परा। बदलना चाहते हैं, तो रूढ़ि है, नहीं बदलना चाहते, तो परम्परा। एक साँस में रूढ़ियों को तोड़ने की बात कहना और परम्परा को बचाये रखने का आग्रह करना एक तरह के सामाजिक अवसरवाद की शब्दावली है, जो उपयोगी चाहे जितनी भी हो, नाकाफी है।"[8] इस लम्बे उद्धरण से गुजरते हुए यह कहना अयुक्तियुक्त न होगा कि एक विचारक के रूप में विजयदेवनारायण साही अतीत के बोझ एवं परम्परा के ऐतिहासिक बोध के बीच के फर्क को भली भांति समझते हैं।

इतिहास की छानबीन करने वालों को मानना पड़ा है कि हर राष्ट्र कुछ खास वर्गों, कुछ भाषाई–इलाकाई–सांस्कृतिक समुदायों के हित में बनता है, और कुछ की ही मांगों को पूरा करने की बहुरूपी मुहिम–सा बनकर रह जाता है, राष्ट्र

अगर कई तरह के तत्वों, श्रेणियों ओर पुरुषों के लिए नए रास्ते खोलता है, तो औरों के लिए कुछ रास्ते बंद भी कर देता है। इतिहास–दर्शन के संदर्भ में इसके कुछ नतीजे स्पष्ट हैं। आधुनिक काल में 'इतिहास मूलतः' राष्ट्रीय इतिहास ही रहा है, मगर अब 'इतिहास' इसी राष्ट्रीय इतिहास के रूप में, यानी राष्ट्रीय एकता या राष्ट्र कायम करने का प्रचार बनकर नहीं रह सकता। ऐसे इतिहास का औचित्य क्षीण हो गया है। साथ में एक और बात तय है। 'इतिहास' के अपने अंतर्विरोधों और इतिहास की अपनी ऐतिहासिकता से अब मुंह नहीं मोडा जा सकता।[9]

अंतर्विरोधों की द्विविधता की दृष्टि से विजयदेवनारायण साही द्वारा किये गये मध्ययुगीन काव्य 'आल्हखण्ड' के विश्लेषण के मद्दे नजर स्पष्ट होता है कि एक आलोचक के रूप में उनकी क्षमता इस बात में निहित है कि वे आलोचना–कम में तद्युगीन सामन्तवाद की अन्तःप्रकृति यानि शील की गहरी छानबीन करते हैं। कहना न होगा कि सामन्ती व्यवस्था ने एक खास प्रकार के शील की रचना की थी और वह शील उस जमाने के काव्य में अभिव्यक्त हुआ है। स्पष्ट ही अंतर्विरोध दो प्रकार के होते हैं – आंतरिक अंतर्विरोध और बाह्य अंतर्विरोध। वीरगाथा काव्य के आविर्भाव के कारणों में बाह्य अंतर्विरोधों की भी एक हद तक भूमिका है। पर वहाँ ये बाह्य अंतर्विरोध मुख्य नहीं हैं। मुख्य है आतंकवाद की आंतरिक प्रकृति, जिसकी झांकि प्रस्तुत करते हुए साही लिखते हैं कि चूंकि उस जमाने में बनाफरों की जाति ओछी मानी जाती थी, और आल्हा–उदल का सम्बन्ध उसी जाति से था इसलिए शूर–वीर होने के बावजूद उनको कोई सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं थी। जिसकी वजह से उनमें बदले की भवना पैदा हो गई थी।

इसी प्रकार जब वे 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' पर विचार करते हैं, तो उसमें मौजूद एक तरह की वैष्णव भावना तथा अर्पित निरीहता को रेखांकित करना नहीं भूलते। इसके साथ ही वे जहाँ एक ओर उनकी कविता की आत्मपरकता में वस्तुपरकता देखते हैं, वही दूसरी ओर कुछ कविताओं में वस्तुपरकता में निहित आत्मपरकता की तलाश करते हैं। उनके शब्दों में "बाहय यथार्थ, सामाजिक सत्य, वस्तुजगत, भिन्न रूचि अथवा अतल वह है जो आन्तरिकता पर, कविता पर, जीवनानुभूति पर 'टिक' लगाता है, उसकी पुष्टि करता है :

" मैं मींच कर ऑखें
कि जैसे क्षितिज

तुमका खोजता हूँ।
ओ हमारे साँस के सूर्य!
साँस की गंगा
अनवरत बह रही है
तुम कहा डूबे हुए हो ? ''

समाज सत्य को निजी उपलब्धि बनाना उसे आत्मसात् करना या उपयोग में लाना है। लेकिन शमशेर के लिए काव्यानुभूति के केन्द्र में, उसके साथ सायुज्य में उसकी सत्ता नहीं है। प्रगतिवाद से उलझाव के दौर में भी वह एक तरह से हाशिये पर स्थित है। वह काव्यानुभूति की 'पहुँच के बाहर' एक क्षितिज, एक अतल, एक काव्येतर अनुभूति की तरह अस्तित्व ग्रहण करता है। काव्यानुभूति के साथ इस खास रिश्ते में जुड़ना ही उसका एक साथ निजी उपलब्धि भी होना है, 'पहुँच के बाहर' भी होना है। जहाँ तक उसकी यह अवस्था शमशेर के काव्य में है, वहीं तक वह औरों के लिए भी उपयोगी है। आजकल की शब्दावली में कहें तो काव्यानुभूति और प्रगतिवाद एक तरह के सह–अस्तित्व में आमने–सामने दर्पण की तरह रखे हुए हैं – कविता और हाशिये पर की लिखावट की तरह। लेकिन यह निरपेक्षता नहीं है, साक्षात्कार है; रिश्ते का अभाव नहीं है, रिश्ते की सम्भावना है। वस्तुतः सम्भावना ही वह आधारभूमि है जिसमें आत्म और वस्तु दोनों का अस्तित्व होता है। इस संभावना को सिर्फ दिमागी कौल की तरह नहीं बल्कि सीधी मध्यमहीन, जीवन की धड़कन की तरह अनुभूत करना ही काव्यानुभूति है। ''[10]

स्मरणीय है कि किसी कवि के सर्जनात्मक विवेक की ऐतिहासिक सीमाबद्धता एक बात है और सर्जनात्मक विवके को जानबूझकर कर विचारधारा की सीमाओं में बाँध देना बिल्कुल दूसरी बात है। वस्तुतः लेखकीय स्वतंत्रता ऐतिहासिक अनिवार्यता का ही अभिज्ञान है। किन्तु एक बार जब लेखक उस

अनिवार्यता के दबाव से अवगत हो जाता है, तो वह उसके लिए चुनौती बन जाता है। इसलिए जब कोई कवि सृजनशीलता से प्रवृत्त होता है, तो एक तरह की आंतरिक बन्धनहीनता उसे सृजन की पहली और अनिवार्य शर्त हो जाती है। शमशेर के सन्दर्भ में कदाचित साही यही कहना चाहते हैं, वे जब काव्यसृजन में प्रवृत्त होते हैं तो प्रगतिशील विचारधारा की सीमाओं को अतिक्रमित करते हैं। साही के शब्दों में " आरंभ में शमशेर जिसे मार्क्सवाद कहते थे, उसके लिए दस वर्ष बाद कुछ अधिक ढीली शब्दावली 'समाज सत्य' या उससे भी अधिक ढीली शब्दावली 'समाज सत्य का मर्म', 'इतिहास की धड़कन' आदि का प्रयोग करते हैं। .... इस अर्थ में यह अनुभूति की मुख्य बनावट में थोड़े से परिवर्तन का सूचक है। बाहर आकार से मर्म की ओर जाने का यह आग्रह इस निजी उपलब्धि को काव्येतर अनुभूति से अलग एक स्वायत्तता देने का उपक्रम है। लेकिन अभी भी इसका रूप आत्मपरक और वस्तुपरक, चित्त और अचित्त के सायुज्य का नहीं है।"[11] साही के उपर्युक्त लम्बे उद्धरण से गुजरते हुए स्पष्ट होता है कि यहाॅ उन्होंने 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' के विश्लेषण के क्रम में वस्तुतः स्वाधीनता के बाद उभरते नये मध्यवर्ग के शील की ही छानबीन की है और स्पष्ट ही इस क्रम में उन्होंने 'नई कविता' के विकास की भीतरी शक्ति – विकास के मुख्य कारण को बहुत हद तक सही परिप्रेक्ष्य में उभारा है क्योंकि उस युग का मुख्य अन्तर्विरोध केवल पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी के बीच द्वन्द्व में निहित न होकर मध्यवर्गीय मनुष्य की अपनी प्रकृति में निहित है। मुक्तिबोध की कविता मध्यवर्ग के इस आत्मसंघर्ष की महागाथा है।

साही के सामाजिक–सांस्कृतिक विश्लेषण में हमें कई बार इतिहास की गति के आंतरिक और बाहय अन्तर्विरोधों के सन्तुलन की खोज की कोशिश दिखाई पड़ती है। उनके निम्न उद्धृत एक कथन से गुरजते हुए हम उनकी इस कोशिश की शिनाख़्त कर सकते हैं " परम्पराएॅ उन रस्स्यिों की तरह हैं,

जो सामाजिक इकाई को बाँधती हैं। जब किसी समाज में बड़े परिवर्तन होते हैं, और परम्पराएँ टूटती हैं, तो एक खतरा यह बराबर बना रहता है, कि समाज बँधा न रह सके, टूट जाय। लेकिन हम देखते हैं, कि सत्रहवीं–अठारहवीं सदी का भारतीय समाज जितना खण्ड–खण्ड था, उसके मुकाबले में सामाजिक गठन और व्यापक ही हुआ है, टूटा नहीं है। इसका मतलब यह हुआ, कि परम्पराओं के अलावा और चीजें भी हैं, जो सामाजिक इकाई को बाँधती हैं। सच तो यह है, कि सामाजिक इकाई की लम्बाई–चौड़ाई में प्रसार होने का मतलब ही यह है कि बाँधने वाली कल्पनाओं के पुंज को नये सिरे से परिभाषित किया जाय। परम्परा की शब्दावली के भीतर ही परिवर्तित परिभाषाओं के दो स्वरूप हमें दिखलायी पड़ते हैं – धर्म और संस्कृति। ''[12]

गौरतलब है कि कोई भी सामाजिक एवं सांस्कृतिक चिन्तन तभी सार्थक हो सकता है, जब कि विवेचन विश्लेषण के कम में इतिहास के किसी बिन्दु पर पैदा हुए अन्तर्विरोध को सन्दर्भ से काटकर देखने के बजाय उसे ऐतिहासिक धारावाहिकता में रखकर देखने की पेशकश हो। कारण यह कि इतिहास के किसी काल खण्ड विशेष में मौजूद परिस्थिति–जन्य अन्तर्विरोध प्रायः पहले से चले आ रहे अन्तर्विरोधों के ही विकसित रूप हुआ करते हैं। साही ने उदाहरण देकर समझाया है कि सत्याग्रह युग के अधिकतर विचारकों साहित्यकारों कलाकारों में हम जो एक विचित्र कातरता पाते हैं, उसका कारण यह है कि उस युग में विचार, दर्शन या सिद्धांत विवेकपूर्ण खोज के विषय न होकर श्रद्धा और आस्था से पूर्ण पूजा–भावना के विषय थे। यह बात अचानक नहीं थी कि उस युग में बारम्बार श्रद्धापूर्ण प्रतिश्रुति की इसलिए माँग की जाती थी कि वह अनेकता में एकता, भेद में अभेद का दिग्दर्शन कराने में सक्षम है, और तटस्थ वैज्ञानिक विश्लेषण से बचने को इसलिए कहा जाता था कि इसके कारण मिथ्या वितंडा, भेद और वैषम्य उत्पन्न होता है। उस युग का दृढ़ विश्वास था कि विवके सत्य का मार्ग खोलने के बजाय विवाद को जन्म देती

है। साही के अनुसार ऐसे आधारहीन विश्वास का कारण यह था कि सत्याग्रह युग में असीम धैर्य, मानसिक आत्मबलिदान आदि प्रवृत्तियों का वर्चस्व था। उस जमाने के लोग जिस संघर्ष से जूझ रहे थे उसमें उनका प्रतिद्वन्दी विदेशी था। उन्हें उसके बराबर खड़े होकर उससे बड़ा व्यक्तित्व ओढ़कर लड़ना था। अतः वे सत्य को विष की तरह चुपचाप पीकर पचा पाने और भूल जाने तक के लिए तैयार रहते थे।[13]

साही का कहना है कि कोई भी पीढ़ी अपने ऐतिहासिक दायित्व से मुँह नहीं मोड़ सकती। उसे अपनी भावुकता पर अंकुश रखकर सामाजिक ऐतिहासिक अन्तर्विरोधों की शिनाख्त करनी ही होगी। उनके शब्दों में " हमें बहुत–से कलंक–स्थलों को उजागर करना होगा, बहुत–सी दुर्बलताओं को स्वीकार करना होगा, बहुत–सा विष पचाना होगा – और यह सब शक्ति, साहस और निर्ममता के साथ। कभी–कभी ऐसा भी लगेगा कि हम केवल विध्वंस कर रहे हैं, केवल खण्डित कर रहे हैं। केवल स्वर्ण मुकुटों पर तेजाब डालकर उनका पीतल दिखला रहे हैं। लेकिन स्नायविक दुर्बलता से काम नहीं चलेगा। पीतल की जगह सोना लाकर रख देने वाला उपकारी होता है। परन्तु पीतल को ही सोना मानकर चलने वालों को पीतल और सोने का फर्क बताने वाला कम उपकारी नहीं होता। जब भी युग करवट लेकर आगे बढ़ता है तो बुराई को बुराई कहने वालों की जरूरत पड़ती है। दूसरे क्या कहेंगे, इस डर से सत्य को रोका नहीं जा सकता। "[14]

ध्यातव्य है कि इतिहास के विकास–क्रम में नया पुराने को, जैसा कि वह है, पूर्णतया ग्रहण नहीं कर लेता। पुराने से वह केवल कुछ तत्वों या पहलुओं को ही लेता है। इसके अलावा वह उन्हें यांत्रिक ढंग से ग्रहण नहीं करता बल्कि आत्मसात करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो अपनी प्रकृति के अनुरूप बनाने के लिए नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी से लिये गये कुछ तत्वों या पहलुओं को परिवर्तित करती है। काव्य रचना के क्षेत्र में

ऐतिहासिक विकास के द्वन्द्व न्याय के विरूपण के प्रसंग में विजयदेव नारायण साही ने इसे न केवल समझा है बल्कि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की एक कविता को उद्धृत करते हुए उजागर भी किया है :–

" बात क्या मैंने बड़ी कही थी?
आज इतना भी असम्भव है
दूसरो की दृष्टि से ही
तुम्हें खुद को देखना
इतना जरूरी है ?
मैं नहीं कुछ रहा ?
इसलिए मैं पूछता हूँ यह
कि शायद ज्ञात तुमको
यह न हो–
मैं आज अन्धा हूँ
क्योंकि तुम
सदा अनदेखी करते रहे ;
मैं आज बहरा हूँ–
क्योंकि तुम
अनसुनी करता रहूँ
इसके लिए मजबूर करते रहे;
और अब–
पैरों तले का साँप तक
मुझको दिखायी नहीं देता। "

– सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

साही कहते हैं कि गाँधी युग की नैतिकता वस्तुतः अयथार्थ पर आधारित नैतिकता थी और लगभग यही स्थिति उस युग में इंग्लैंड की

भी थी। उनका मानना है कि विक्टोरियन युग के साहित्यिक एवं सामाजिक जीवन में नैतिकता और छल का सम्मिश्रण है। सत्य यह है कि साम्राज्यवाद न केवल शासित देशों का नैतिक पतन करता है, बल्कि शासक देश की आत्मा में भी कपट, आडम्बर और ह्रास उत्पन्न करता है। बावजूद इसके दोनों में बुनियादी अंतर यह है कि शासित देशें का छल वस्तुतः आत्मछल होता है जबकि शासकों का छल शक्तिवान और शोषक का छल होता है। तद्‌युगीन अंग्रेजी साहित्य का हवाला देते हुए साही साम्राज्यवादी ब्रिटेन और गुलाम भारत की अन्तरात्माओं में प्रवेश करके कहते हैं " कपट हममें भी था, अॅग्रेज में भी था। लेकिन हमारा कपट दुर्बल का, सर्वहारा का, आजादी के लिए प्राण होम करने वाले का कपट था। हम दुनिया को कम, अपने को ज्यादा धोखा दे रहे थे। अॅग्रेज का कपट शक्तिवान का, शोषक का, गोली चलाने वालों का कपट था। वह अपने को कम, दुनिया को ज्यादा धोखा दे रहा था। इसीलिए हमें जब कपट की याद आ जाती थी तो हमें घबराहट होती थी, बस। अंग्रेजी को जब कपट की याद आती भी तो उसका अन्तर असीम पीड़ा से कुरेदने लगता था। इस चुभन से व्याकुल होकर ही ऑस्कर वाइल्ड जिन्दगी को एक नकाब मान लेता है और केवल उत्तेजक इन्द्रिय–सुख में डूबकर कहता है : नैतिकता ? नैतिकता कोई वस्तु नहीं है। साम्राज्यवाद एक नैतिक चुनौती था जिसके जबाब में गलत बुनियादों पर ही सही हम शीघ्रातिशीघ्र अन्तरात्मा (conscience) का निर्माण करने में लग गए और अंग्रेज शीघ्रातिशीघ्र अंतरात्मा का विध्वंस करने में। अंग्रेज ही क्यों, उन्नीसवीं शताब्दी और उसके बाद का सारा यूरोपीय दर्शन, चिन्तन और अन्तरात्मा के विध्वंस की दर्दनाक कहानी हैं।"[15] साही ने उपर्युक्त ऐतिहासिक संदर्भ में मार्क्सवादी विचारधारा की महती भूमिका को रेखांकित करते हुए लिखा है कि इस विध्वंस प्रकिया में जिस चिन्तक ने सबसे

जबर्दस्त चोट की उसका नाम था कार्ल–मार्क्स। इसके बावजूद उन्होंने मार्क्सवादी चिन्तन की सीमाओं को नजर अंदाज नहीं किया है। उनके अनुसार कार्ल मार्क्स ने यूरोप की सभ्यता को समस्त मानवता की शीर्षस्थ और अनुकरणीय सभ्यता सिद्ध करने का भी प्रयास किया, उसमें अन्तरात्मा का कहीं नाम–निशान नहीं है।

जाहिर है कि विजयदेवनारायण साही ने बुनियादी तौर पर डॉ. राममनोहर लोहिया की विचारधारात्मक जमीन पर खड़े होकर इतिहास की प्रक्रिया को अपने तई व्याख्यायित करने की कोशिश की है। ध्यान देने की बात यह है कि डॉ. लोहिया ने अपनी पुस्तक 'इतिहास–चक्र' में मार्क्स द्वारा की गई इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या पर गहराई के साथ विचार करते हुए उसकी शक्ति और सीमा को रेखांकित किया है :

"The effort of Marx was, after all , a colossal Construction of the mind to keep the smile on the visage of Europe over dancing. It was a peerless attempt of the European spirit. what European mind would able or want to drag up by its roots this highly spiritual effort at Europe's everlasting glory? Like most other modern doctrines emanating from Europe, the materialist interpretation of history is also a doctrine in the service of the status quo, at least that part of the status quo which means European glory. This examination of the internal logic of dialectical materialism as applied to history reveals it to be as spiritual as it is undialectical, and altogether unhistorical. [116]

डॉ. लोहिया इतिहास के द्वन्द्वात्मक विकास और सिर्पल गति की मार्क्सवादी अवधारणा के बरक्स इतिहास–चक्र की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं।

"It is a view of history which admits of rise as well as fall, an ascent over again after a fall has been reached. It seems to coincide with what actually happens in human life, where a people emerge victorious in their struggle with evil, attain to heights of glory and power, of goodness, or truth, or beauty and then the spirit wearies. They start descending again into in cohesion and weakness and general lack of purpose, when through inevitable light after darkness, the spirit flowers and an ascent is possible again. ... ... The essential quality of this view lies in the recognition of temporal events as that which passes, the good as well as the bad not even the bad endures and, as

surely as that a people must descend after exhausting its energies, it must rise again."[17]

मार्क्स द्वारा की गई इतिहास की व्याख्या में ऐतिहासिक–चक्रवाद की अवधारणा को नकारते हुए कहा गया है कि यह धारणा लक्ष्यहीन प्रगति तथा मानव–सभ्यता के एक प्राणि की तरह जन्म, प्रौढ़ावस्था और मृत्यु के प्राप्त होने की प्रकिया का समर्थन करती है। ग़ौरतलब है कि सभ्यता की

मृत्यु की धारण अन्ततः उत्तर आधुनिकनावादियों के 'इतिहास का अन्त' की धारणा से जुड़ जाती है। इसके दुष्परिणाम स्वरूप विकास की निरन्तरता का खण्डन होता है जबकि सचाई यह है कि परिवर्तनशीलता के साथ–साथ निरन्तरता मानव–चेतना व मानव–समाज की एक विशेषता है। ऐतिहासिक–चक्रवाद की सबसे बड़ी विशेषता है। ऐतिहासिक–चक्रवात की सबसे बड़ी सीमा यह मानी गई है कि इसके तहत मानव सभ्यता का विकास दो तत्वों के परस्पर संघर्ष का इतिहास या क्रिया–प्रतिक्रिया का सिलसिला मात्र बनकर रह जाता है।

विजयदेवनारायण साही इतिहास की प्रक्रिया में दो विरोधी तत्वों के बीच क्रिया–प्रतिक्रिया के साथ ही अतीत और वर्तमान के बीच एक सामंजस्य की स्थिति को भी रेखांकित करते हैं। उनके शब्दों में '' अपने साकार अतीत के साथ सह–अस्तित्व के अलावा और कोई सार्थक एवम् ऋजु सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता और 'सह–अस्तित्व' के महत्वपूर्ण शील हैं दोनों की अखण्ड प्रभुता की स्वीकृति और परस्पर अतिक्रमण का निषेध। इतिहास से ऑख बचा लेना सम्भव नहीं हैं और इतिहास एक अनिरूद्ध गति है। किन्तु इस गति का अर्थ मात्र प्रवाह नहीं है। वह एक रासायनिक प्रक्रिया है जो निरन्तर तत्वों को घुलाती रहती है और सर्वथा नवीन तत्वों को जन्म देती रहती है। इसीलिए इतिहास की स्वीकृति समसामयिकता की स्वीकृति है। या तो हम अधूरेपन और पूर्वग्रह के कारण उस स्वीकृति को अनैतिक और अयथार्थ बना दें या नितान्त समसामयिकता के नैतिक दायित्व को मानें, चाहे इसमें कितनी ही पीड़ा हो इतिहास के साथ हमारा उलझाव तो हर हालत में अनिवार्य है। यही नहीं, हमने इसे स्वीकार भी कर लिया है और काफी हद तक यह विवाद का विषय नहीं रह गया है। ''[18]

साही ने इतिहास, दर्शन, राजनीति–विज्ञान और साहित्य विषयक नये–पुराने चिन्तन की वैचारिक यात्रा करने के बाद एक सुनिश्चित समाजोन्मुखी, विकासशील वस्तुवादी इतिहास–दृष्टि अर्जित की और अपनी इस अर्जित नई दृष्टि से ही परम्परा के मूल्यांकन, अपने समय की जरूरतों की पहचान, वर्तमान की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक वास्तविकताओं की समझ और भावी विकास की दिशाओं को खोजने का प्रयास किया। एक समालोचक और विचारक के रूप में उनकी इतिहास–चेतना के निर्माण में राष्टीय स्वाधीनता संग्राम, छायावादी और प्रगतिवादी काव्यान्दोलन तथा डॉ. लोहिया के नेतृत्व में बड़े पैमाने पर चलाये जाने वाले समाजवादी आन्दोलन की चेतना मौजूद है। इस चेतना के कारण ही वे साहित्य और समाज के विकास के बीच सम्बन्ध की खोज करते हैं और समाज–भाषा और साहित्य की परम्परा के निर्माण में जनता की महत्वपूर्ण भूमिका की पहचान करते हैं। हिन्दी के रचनात्मक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में साही की इतिहास–चेतना पर विचारने से स्पष्ट होता है कि उसके निर्माण में 'नई कविता' युगीन साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका है और यही उनकी आलोचना का केन्द्रीय विषय भी है। यहां तक कि वे जब जायसी पर विचार करते हैं तो कुछएक अपवादों को छोड़कर उनकी वैचारिक आधारभूमि नई कविता की ही है। इसलिए यह कहना बहुत हद तक गलत न होगा कि एक आलोचक के रूप में साही का इतिहास–बोध उनके वर्तमान से गहराई के साथ जुड़ा हुआ है। उनके पास अपने समय की रचनाशीलता की वास्तविक सामर्थ्य और सीमा की गहरी पहचान थी। इसीलिए वे साहित्य परम्परा के आलोक में अपने समय के साहित्य का मूल्यांकन करते हुए उसके विकास की दिशा का संकेत देने में सक्षम हो सके।

यह ठीक ही कहा गया है कि कला में प्रगति न तो पूर्णतः होती है और न अनवरत; बल्कि एक काल–विशेष में एक सीमित अर्थ और निश्चित

दिशा में प्रगति होती है। इसलिए समय के बीतने के साथ–साथ यह कतई जरूरी नहीं है कि हर समय किसी रचनाधारा विशेष का पुनर्मूल्यांकन अपरिहार्य हो प्रसंगात् विजयदेवनारायण साही लिखते हैं कि बहुत बड़े उलट फेरों के बावजूद इतिहास की ऐसी शताब्दियाँ बीती हैं जब कोई बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। " इतिहास का प्रसार कहीं लम्बी चीज़ है। वस्तुतः अतीत से सम्बन्ध निर्मित करने की कोशिश का अर्थ है, समूचे इतिहास को आत्मसात् करने की कोशिश। इस प्रयास में ऐतिहासिक समय के समकक्ष हमारे मानवीय समय का निर्माण होता है। मानवीय समय के फासलो और उसकी गतियाँ इतिहास के समय की दूरियों और गतियों के साथ बिल्कुल एकात्म नहीं होतीं। इसलिए आत्मसात् करने की प्रक्रिया सिर्फ ऐतिहासिक क्रम को ज्यो–का–त्यों प्रस्तुत नहीं करती, बल्कि तारतम्य में उलटफेर कर देती है। अतः साहित्यिक पुनर्मूल्यांकन का आधार सिर्फ इतिहास के क्रम की साक्षी देना नहीं है, न देखनेवाले के लिए और न उस साहित्य के लिए जो पुनर्मूल्यांकन का विषय है। "[19] अपने विश्लेषण में साही ने साहित्यिक कृतियों के पुनर्मूल्यांकन से सम्बन्धित विडम्बना की दो शक्लों का जिक्र किया है। उनका कहना है कि पुनर्मूल्यांकन के क्षेत्र में यह विडम्बना इतिहास की सतत क्रमबद्धता और हर मूल्यांकन की युग सापेक्षता मानने से होती है। इनमें से एक का सम्बन्ध इस मान्यता से है कि हर मूल्यांकन अन्ततः अपने युग बोध से इतना बंधा हुआ होता है कि ऐसा कोई भी प्रयास युगाभिव्यक्ति से अधिक कुछ नहीं होता। कल का मूल्यांकन अगर केवल समय बीतने के कारण आज झूठा पड़ गया तो आज का पुनर्मूल्यांकन भी कल उसी तरह झूठा पड़ जाएगा। इस प्रकार पुनर्मूल्यांकन के प्रयासों से यह समूची श्रृंखला के व्यर्थ हो जाने का खतरा पैदा हो जाता है। इस विडम्बना की दूसरी शक्ल यह है कि पुनर्मूल्यांकन ऐतिहासिक क्रमबद्धता का भरा–पुरा आलेखन है। हमारे हाथ में इतना ही है कि हर वृत्ति की चूल बड़े परिश्रम से, निरन्तर शोध करते हुए तथ्य पर

तथ्य जमाते हुए, उसके अपने युग के साथ बैठा दे। पुनर्मूल्यांकन के दावेदार अक्सर अपने आप को अधिक समीचीन या प्रासंगिक बताने के लिए भी खुद को नितांत अपने युग से जोड़ते हैं। साही कहते हैं कि यह भी कमबद्धता की रहस्यमय शक्ति के प्रति आत्मसमर्पण का एक तरीका है। जिसके तहत यह मानकर चला जाता है कि प्रत्येक पुनर्मूल्यांकन केवल बाद का होने के कारण पहले की अपेक्षा एक कदम आगे का दावेदार है। इसके चलते एक ऐसी स्थिति पैदा हो सकती है, जब किसी कलाकृति या काव्यधारा के बारे में सारे संभव तथ्य उद्‌घाटित हो चुके होंगे और आगामी पीढ़ी के लिए कुछ भी नया उपलब्ध नहीं रह जाएगा। साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की विडम्बना की ऊपर कथित दोनों शक्लों की सीमा को रेखांकित करते हुए साही लिखते हैं कि '' पहली शक्ल जहॉ पुनर्मूल्यांकन को इतनी आत्मपरकता प्रदान कर देती है कि वह एक माहौल के पूर्वाग्रह या झक से ज्यादा नहीं रह जाती, वहॉ दूसरी शक्ल उसे इतनी वस्तुपरकता प्रदान कर देती है कि हम एक अंधी गली में पहुॅचकर रूक जाते हैं। हर हालत में यह स्थिति ऐतिहासिक समय और मानवीय समय को या एक दूसरे की सत्ता में समाहित कर देने से पैदा होती है। ''[20] एक जिम्मेदार आलोचक के रूप मे साही पुनर्मूल्यांकन के नाम पर कालांतर में अपनी ही मान्यताओं में बेमतलब फेर बदल करने की प्रवृत्ति को अच्छा नहीं मानते। उन्होंने लिखा है कि '' सिर्फ कालान्तर अपने आप में पुनर्मूल्यांकन का प्रमाण नहीं हो सकता। कालान्तर से मदद जरूर मिल सकती है, विशेषतः उन लोगों के लिए जो एक प्रचलित अफ़वाह से दूसरी प्रचलित अफ़वाह तक पर्यटन करते रहते हैं। लेकिन वस्तुतः कालान्तर के अतिरिक्त कुछ और भी चाहिए। पुनर्मूल्यांकन पहले की आलोचना और आज की आलोचना के बीच गंभीर संवाद है, महज ताजे द्वारा वासी को चुटकी में उड़ा देना नहीं है। ''[21] उपर्युक्त उद्धरण की अंतिम पंक्ति से गुंजरते हुए ई.एच.कार के इतिहास विषयक कथन की याद स्वाभाविक है

कि 'इतिहास वर्तमान का अतीत से चलने वाला निंरतर संवाद है।' अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि साही की साहित्यिक – सांस्कृतिक पुनर्मूल्यांकन विषयक धारणा उनके संतुलित इतिहास विवके का परिचायक है।

साहित्यिक मूल्यांकन या पुनर्मूल्यांकन के दरम्यान बासी बनाम ताजा के विवाद को अनैतिहासिक समझ से उत्पन्न मानते हुए साही लिखते हैं कि ''रीति कविता से भी ज्यादा पुरानी भक्ति कविता, उससे भी ज्यादा पुराना संस्कृत साहित्य या आपटे के शब्द–कोश के शब्द, उससे भी ज्यादा पुराने उपनिषद् – ये सब बासी नहीं पड़े हैं। ''[22] सुमित्रानन्दन पंत ने अपने काव्य संग्रह 'पल्लव' के प्रवेश में काव्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा के चुक जाने की घोषणा करते हुए खड़ीबोली के नवोन्मेष को जिस रूप में पहचाना था और और रीति काव्य का विरोध करते हुए नई संवेदनशीलता से ओतप्रोत छायावादी कविताओं की जो पुरजोर वकालत की थी उसे भी विजयदेवनारायण साही कवि पन्त की एकांगी दृष्टि की उपज मानते हैं '' ऐसा नहीं है कि स्वयं उन कवियों के पास अपनी कविता में अच्छे बुरे का विवेक करने की बुद्धि नहीं थी। वे भी जानते थे कि पिटे पिटाये शब्दों का प्रयोग कविता को खेल बना देता है। आप सब ठाकुर के प्रसिद्ध कवित्त 'सोख लीनो खंजन........' आदि से परिचित हैं। विचित्र बात यह है कि रीति काव्य के अन्तर्निहित विवेक–बुद्धि से पन्त नहीं उलझते। इस तरह उलझने पर 'बासीपन' की अधिक गहरी छानबीन करनी पड़ती जिसके लिए वे तैयार नहीं थे। ''[23] उनकी धारणा है कि हिन्दी कविता को ब्रजभाषा से खड़ीबोली की ओर उन्मुख करने के लिए भारतेन्दु और उनके बाद मैथिलीशरण गुप्त और उनके समकालीनों ने अनेकानेक साहित्यिक कृतियों की रचना करके क्रान्तिकारी प्रयास तो किया, किन्तु पहले के कवियों को ललकारने की जरूरत उन्होंने नहीं समझी। '' जब युद्ध खतम हो गया, शत्रु गिर गया तब पन्त जी खाह–म–खाह भुजदण्ड फड़का रहे हैं!

बसीपन की शब्दावली का क्या अर्थ है? .... पन्त पराजित शत्रु से लड़ रहे हैं, इसलिए बात को बासीपन से आगे नहीं बढ़ा पाते। ''[24] अपने इसी इतिहास विवेक के तहत साही की स्थापना है कि '' पूनर्मूल्यांकन सिर्फ सतत मुर्झाती हुई श्रृंखला की आख्रिरी कड़ी नहीं है। यह नहीं है कि जो आज कहा जाएगा वह कभी मुर्झाएगा नहीं। इतिहास के समय की गति तो यह है ही। लेकिन पहले का इतिहास गति के कारण मुर्झा चुका है, यह अपने आप में पुनर्मूल्यांकन के लिए यथेष्ट नहीं है। आज के प्रेरणास्रोत के रूप में, आज के सम्बन्धों को निर्मित करने के लिए, सत्य के प्रति प्रतिबद्धता अनिवार्य शर्त के रूप में उपस्थिति होती है। मतभेद का मुकदमा पुराने बनाम नये का नहीं है, उसे हर हालत में गलत बनाम सही, झूठ या अपर्याप्त सच बनाम सच का रूप ग्रहण करनाहोगा। देखने में यह अन्तर महत्वपूर्ण नहीं लगता। लेकिन इसका सम्बन्ध आलोचना के मुहावरे से है और आलोचना सिर्फ दृष्टिकोण नहीं है, उसका अस्तित्व उसकी गहराई उस समूची बनावट में है जो उसके मुहावरे से निकलती है। पुनर्मूल्यांकन की दिशा युगबोध नहीं, सत्य है। ''[25]

साही जब 'युगबोध' के बजाय 'सत्य' को पुनर्मूल्यांकन की दिशा के रुप में रेखांकित करते हैं, तो इसे उनकी इतिहास–विरोधी दृष्टि समझ लेना भ्रामक होगा। क्योंकि उन्होंने प्रसाद और अज्ञेय के संदर्भ में उदाहरण देकर 'सत्य' को 'तथ्य' से अलगाया है। 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' शीर्षक अपने विख्यात निबन्ध में उन्होंने 'कामायनी' की भूमिका से एक अनुच्छेद उद्धृत किया है। '' आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं। तब भी उसके तिथिक्रम–मात्र से सन्तुष्ट न होकर, मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूल में क्या रहस्य है ? आत्मा की अनुभूति! हॉ, उसी भाव के रूप–ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर

वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती हैं, किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरंतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग के पुरूषों और पुरूषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है। ''[26] तत्पश्चात् 'सत्य' और 'तथ्य' के अन्तर को लेकर वहॉं अज्ञेय का मंतव्य उद्धृत किया गया हैः '' आज हम घटना ; तथ्य द्ध का अर्थ सत्य कर लेते हैं।''[27] साही के अनुसार दोनों को जोड़ने वाली कड़ी है अनुभूति। लेकिन यह भाव के रूप ग्रहण की चेष्टा नहीं है – रूप के भाव–ग्रहण की चेष्टा है : दूसरे शब्दों में 'तथ्य' का सहसा अर्थ से आलोकित हो जाना है।. ....प्रसाद जी का सत्य

एक दार्शनिक सत्य है जो 'मान्य' अथवा 'आस्था–सम्मत' मूल्यों की तरह हमारे मानस में सूक्ष्म रूप से वर्तमान रहता है। अज्ञेय का सत्य 'साक्षात्कार' का एक क्षण है, एक द्वीप है जिसे हम अपने भीतर के जड़ और चेतन के संकल्पित संयोग से अनुभूत करते हैं। इस प्रकार 'कामायनी' में जो अनुभूति दर्शन में परिवर्तित हो जाती है, उसे अज्ञेय फिर दर्शन से अनुभूति में परिवर्तित करते हैं। कविता–सम्बन्धी हमारी धारणाओं में इससे गहन परिवर्तन हो जाता है, विशेषतः अनुभूति की सार्वजनीनता को लेकर। यह सार्वजनीनता अपनी 'अनुभूति' के प्रति कृतिकार की तटस्थता अथवा 'निर्वैयक्तिकता' से उत्पन्न होती है – इसलिए नहीं कि हमारे बीच के 'मान्य सत्य' या 'आस्थाएँ' चिरन्तन एवं समान हैं, बल्कि इसलिए कि जिस चिरन्तन 'तथ्य' के दबाव में हम रह रहे हैं, वह तथ्य समान है। कवि और पाठक के बीच की जोड़ने वाली कड़ी 'आस्था' नहीं, 'यथार्थ' है।[28] इस लम्बे उद्धरण में 'सत्य' और 'तथ्य' के बीच सम्बन्ध बताते हुए 'तथ्य' को जिस रूप में महत्वपूर्ण माना गया है, और अन्ततः 'यथार्थ' को कवि और पाठक के बीच की जोड़ने वाली कड़ी के रूप में जैसी मान्यता दी गई है, वह आलोचक विजयदेवनारायण साही की यथार्थदर्शिता का प्रमाण है। इसी बात को कायदे से नहीं समझ पाने के कारण कुछ लोगों ने सवाल खड़ा

किया है कि " उनकी मनोभूमि के वे कौन–से तत्व हैं जो‍ उन्हें इतिहास–विरोधी चिंतन के लिए ही प्रेरित करते हैं? उस मनोभूमि के आर्थिक–सामाजिक आधार क्या हैं और किन राजनैतिक ; सिर्फ नैतिक नहीं द्ध उद्देश्यों से वह मनोभूमि संचालित होती है ? "[29] साही पर इतिहास–विरोधी' होने का आरोप लगाने वालों ने भी स्वीकार किया है कि वे कला के आर्थिक–सामाजिक आधारों के वजूद से इनकार नहीं करते या साफ उनकी अवहेलना नहीं करते। लेकिन उन आधारों के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उतरने पर खुद के नंगा हो जाने का डर है। इसलिए वह सिर्फ ऊपरी, सतही टकराहटों के बीच से चुनौती–विहीन, धुँधले 'संदर्भों' की रचना करते हैं, जिससे अन्ततः उनकी आन्तरिकता की तुष्टि होती है। इतिहास–विरोध का एक और प्रचलित तरीका है, जिसे नयी कविता के अधिकांश कवियों ने खूब इस्तेमाल किया है। वह है मिथकों का माया–जाल। मिथकों का इतना प्रचुर और भोंडा प्रयोग इस दौर के पहले कभी नहीं हुआ। साही की मनोभूमी इससे इस कदर ग्रस्त है, कि उनकी आलोचना की भाषा और मान–मूल्य तक उसकी चपेट में आ गये हैं।"[30] वस्तुतः साही का दृष्टिकोण किसी भी प्रकार के कट्टरतावाद को तर्जीह देने के बजाय वैचारिक खुलापन के पक्ष में है। इसीलिए उनके कुछ छिट–फुट वक्तव्यों को जोड़–तोड़कर उन्हें नितांत इतिहास–विरोधी आलोचक सिद्ध कर देना जायज नहीं है।

मैनेजर पाण्डेय ने आलोचना और इतिहास के बीच अन्तःसम्बन्ध को रेखांकित करते हुए माना है कि " आलोचना के मुख्यतः दो प्रयोजन होते हैं : व्याख्या और मूल्यांकन। व्याख्या और मूल्यांकन के लिए ही आलोचक विश्लेषण और तुलना का सहारा लेता है। रचना में रूपायित रचनाकार के जीवनानुभव और उस अनुभव को व्यक्त करने वाले माध्यम का विश्लेषण करते हुए आलोचक रचना की व्याख्या करता है। रचना के विश्लेषण के

दौरान ही आलोचक रचना की अंतर्वस्तु, अंतर्वस्तु को निर्मित करने वाली रचनादृष्टि और रचना से व्यक्त होने वाले संदेश की भी मीमांसा करता है। संदेश को सम्प्रेष्य बनानेवाले माध्यम की सृजनशीलता के विश्लेषण के साथ साथ उस सृजनलशीलता को प्रभावित करने वाली साहित्यिक और भाषिक परम्परा और परिवेश से रचना के संबंध के विश्लेषण के बिना किसी रचना की मौलिकता और नवीनता का मूल्यांकन नहीं हो सकता। यहीं आलोचना में इतिहासविवेक की आवश्यकता होती है, क्योंकि परम्पराबोध तो इतिहासविवेक से ही प्राप्त होता है। जो लोग आलोचना को केवल व्याख्या तक सीमित रखना चाहते हैं, उन्हें भी यह याद रखना चाहिए कि इतिहासविवेक रचना की व्याख्या में भी सहायक होता है; क्योंकि इतिहास ही रचना का संदर्भ प्रस्तुत करता है और संदर्भ के बिना रचना की प्रामाणिक व्याख्या नहीं हो सकती। आलोचक अपने इतिहासविवेक से रचना के सामाजिक, सांस्कृतिक और भाषिक संदर्भ का पुनर्निर्माण करके रचना की व्याख्या करता है। आलोचना में रचना के केवल कलात्मक मूल्यों की चिंता करने वालों को भी कलात्मक मूल्यों की सार्थकता की परख के लिए रचना के सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भ की जरूरत होती है। ''[31]
उपर्युक्त दृष्टि से साही की आलोचना पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि उनकी 'जायसी' नामक पुस्तक इतिहासविवेक और आलोचनात्मक चेतना के बीच सामंजस्य का अनोखा उदाहरण है। गौरतलब है कि साही से पूर्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पद्मावत' का मार्मिक विश्लेषण किया था। शुक्ल जी ने अपनी आलोचनात्मक अन्तर्दृष्टि के माध्यम से इतिहास प्रवाह में कतिपय कारणों से महत्वहीन सी मानी जाने वाली काव्य कृति 'पद्मावत' को दुर्लभ पुनर्जन्म प्रदान किया और जायसी को सूर और तुलसी के बराबर का कवि घोषित करते हुए उन्हें भक्तिकाल की 'बृहद्त्रयी' में स्थान दिया। उन्होंने 'पद्मावत' के उत्तरार्ध के ऐतिहासिक आधार को स्वीकार करते हुए ऐतिहासिक अंश के

स्पष्टीकरण के लिए टॉड द्वारा दिया हुआ चित्तौड़गढ़ पर अलाउद्दीन की चढ़ाई का वृतान्त और 'आइने अकबरी' में इस सम्बन्ध में मिलने वाले वृत्तान्त को प्रमाणिक माना है। शुक्ल जी के शब्दों में ''टॉड ने जो वृत्त दिया है वह राजपुताने में रक्षित चारणों के इतिहास के आधार पर है। दो चार ब्योरों को छोड़कर ठीक वही वृत्तांत 'आइने अकबरी' में भी दिया हुआ है। आइने अकबरी में रतनसेन के मारे जाने का ब्योरा भी दूसरे ढंग पर है। आइने अकबरी में लिखा है कि अलाउद्दीन दूसरी चढ़ाई में हारकर लौटा, वह लौटकर चित्तौर से सात कोस तक पहुँचा था कि रूक गया और मैत्री का नया प्रस्ताव भेजकर रतनसी को मिलने के लिये बुलाया। अलाउद्दीन की बार बार की चढ़ाइयों से रतनसी ऊब गया था इससे उसने मिलना स्वीकार किया। एक विश्वासघाती को साथ लेकर वह अलाउद्दीन से मिलने गया और धोखे से मार डाला गया। उसका संबंधी अरसी चटपट चित्तौर के सिंहासन पर बिठाया गया। अलाउद्दीन चित्तौर की ओर फिर लौटा और उस पर अधिकार किया। अरसी मारा गया और पद्मिनी स्त्रियों के सहित सती हो गयी। ''[32]

शुक्लजी ने आगे अपने विश्लेषण में विस्तार से बताया है कि जायसी को इतिहास की जानकारी थी, किन्तु अपनी कथा को काव्योपयोगी स्वरूप देने के लिए उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं के ब्योरों में जरूरी फेर फाड़ किया है। उनके शब्दों में 'पद्मावत' में '' सबसे पहले तो हमें राघव चेतन की कल्पना मिलती है। इसके उपरांत अलाउद्दीन के चित्तौरगढ़ के घेरने पर संधि की जो शर्त ;समुद्र से पाई हुई पॉच वस्तुओं के देने की द्ध अलाउद्दीन की ओर से पेश की गई, वह भी कल्पित है। इतिहास में दर्पण के बीच पद्मिनी की छाया देखने की शर्त प्रसिद्ध है। पर दर्पण में प्रतिबिंब देखने की बात का जायसी ने आकस्मिक घटना के रूप में वर्णन किया है। इतना परिवर्तन कर देने से नायक रत्नसेन के गौरव की पूर्ण रूप से रक्षा हुई। पद्मिनी की छाया भी दूसरे को दिखाने पर संमत होना

रत्नसेन जैसे पुरूषार्थी के लिए कवि ने अच्छा नहीं समझा। तीसरा परिवर्तन कवि ने यह किया कि अलाउद्दीन के शिविर में बंदी होने के स्थान पर रत्नसेन का दिल्ली में बंदी होना लिखा है। रत्नसेन को दिल्ली में ले जाने से कवि को दूती और जोगिन के वृत्तांत, रानियों के विरह और विलाप तथा गोरा बदल के प्रयत्न विस्तार का पूरा अवकाश मिला है। इस अवकाश के भीतर जायसी ने पद्मिनी के सतीत्व की मनोहर व्यंजना के अनंतर बालक बादल का वह छात्र तेज तथा कर्तव्य की कठोरता का यह दिव्य और मर्मस्पर्शी हृदय दिखाया है जो पाठक के हृदय को द्रवीभूत कर देता है। देवपाल और अलाउद्दीन का दूती भेजना तथा बादल और उसकी स्त्री का संवाद ये दोनों प्रसंग इसी निमित्त कल्पित किए गए हैं। देवपाल कल्पित पात्र है। पीछा करते हुए अलाउद्दीन के चित्तौर पहुँचने के पहले ही रत्नसेन का देवपाल के हाथ से मारा जाना और अलाउद्दीन के हाथ से न पराजित होना दिखाकर कवि ने अपने चरित्रनायक की आन रक्खी है।"[33]

मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' को गुमनामी के अँधेरे से निकालकर हिन्दी साहित्येतिहास की मुख्य धारा में लाने का श्रेय रामचन्द्र शुक्ल को देते हुए विजयदेवनारायण साही लिखते हैं कि " शायद अकेले ग्रियर्सन के या पंड़ित सुधाकर द्विवेदी के बूते का काम नहीं था कि जायसी को लगभग गुमनामी से उठाकर हिन्दी के शीर्ष पर पहुँचा देते। यह सही है कि शुरुआत ग्रियर्सन और उनके साथ कार्य कर रहे सुधाकर जी ने किया। लेकिन उन दोनों की भूमिकाओं का शुक्ल जी की भूमिका से मिलान करें तो स्पष्टतः दिखता है कि हिन्दी साहित्य के शीर्ष पर अकेले अपने सामर्थ्य से जायसी को उन्होंने ही पहुंचाया। तब यह और भी आश्चर्यजनक लगता है जब हम देखते हैं कि जायसी और शुक्ल जी के बीच तीन–चार सौ वर्षों का वक्त गुजरा है। इस दौरान प्रच्छन्न रूप से तो जायसी बहुत तरह से लोगों के सर पर सवार रहे हैं, लेकिन जायसी

का नाम कोई नहीं लेता था। जायसी के तत्काल बाद जो फारसी के इतिहासकार हैं, जैसे जियाउद्दीन बरनी वे मौलाना दाऊद के 'चन्दायन' की तो बड़ी प्रशंसा करते हैं, लेकिन जायसी का नाम नहीं लेते, जैसे उनके लिए जायसी उपस्थित ही नहीं हैं। केशवदास ने 'छिताई वार्ता' का जिक्र किया है, लेकिन जायसी का जिक्र नहीं किया है। रीतिकाल में भी लगता है कि तुलसीदास के साथ गंग का एक जगह उल्लेख करना जरूरी है। जायसी का नहीं है। तुलसीदास, सूरदास और केशव की त्रिवेणी जरूर रीतिकाल के कवियों को दिखाई पड़ती है। जायसी उसमें भी उपस्थित नहीं है और मिश्रबन्धुओं तक ने जायसी का नाम हिन्दी के रत्नों में नहीं रखा है।"[34] साही का मानना है कि यह शुक्ल जी की अत्यंत सूक्ष्म और विवेकपूर्ण आलोचना बुद्धि की ही उपज माननी पड़ेगी। उन्होंने न सिर्फ जायसी को उठाया, बल्कि उठाकर उस जगह रखा जहॉ हिन्दी के शिर्षस्थ तीन कवियों की त्रिवेणी है। उनके अनुसार शुक्ल जी की जो भी व्यावहारिक बुद्धि थी, साहित्य की पकड़ थी, वह कोई ऐसी अजूबे की चीज नहीं थी, जिसे व्यक्ति रूचि के आधार पर उन्होंने किया हो। जो भी उन्होंने किया उसमें एक ऐसी वस्तुनिष्ठता थी, जिसकी वजह से जायसी को उनका स्थान मिला। प्रकारान्तर से साही कहना यह चाहते हैं कि साहित्येतिहास लेखन के दरम्यान केवल व्यक्तिगत रूचि के बजाय वस्तुनिष्ठ निर्णय की महती भूमिका होती है। इसी क्रम में एक और महत्वपूर्ण तथ्य की ओर इंगित करते हुए साही कहते हैं कि जायसी के बहाने शुक्ल जी को प्रबन्ध–काव्य की प्रकृति पर पुनर्विचार करने का सैद्धांतिक अवसर मिला। जो साहित्यिक वस्तु उनके सामने थी, यानि 'पद्मावत', उसको ध्यान में रखकर उन्होंने परम्परा से चली आती हुई परिभाषाओं को बदला, काटा–छॉटा और पुनः परिभाषित किया। इससे यह प्रमाणित होता है कि साही की दृष्टि में इतिहास प्रवाह या साहित्यिक परम्परा का महत्व तो है, लेकिन उस प्रवाह के नैरन्तर्य में विस्फोट की तरह

प्रकट होने वाली साहित्यिक कृतियॉ किसी मायने में कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। अतः साही का यह कहना शत्–प्रतिशत सही है कि जिस प्रकार परम्परा से मान्य सिद्धांत कृति को परखते हैं उसी प्रकार महत्वपूर्ण कलाकृतियॉ भी सिद्धांत को परखकर उनके नवोन्मेष का कारण बनती हैं। स्पष्ट ही यह आदान–प्रदान जब तक नहीं होगा, तब तक आलोचना अपना गंभीर दायित्व पूरा नहीं कर सकती है। यह ठीक है कि साहित्य परम्परा एक विकासशील और गतिशील परम्परा है और साहित्यिक कृतियॉ उस प्रक्रिया का अनिवार्य अंग हैं। किन्तु इतिहास विवेक से लैस किसी आलोचक के लिए कोई भी महत्वपूर्ण रचना केवल साहित्य परम्परा की एक कड़ी या एक सौन्दर्यबोधी वस्तु ही नहीं होती, बल्कि एक सांस्कृतिक परिघटना भी होती है। साही जब जायसी पर लिखते हुए वस्तु के रुप में 'पद्मावत' के स्वरुप की मीमांसा और सांस्कृतिक परिघटना के रुप में उसके कारण, प्रभाव और महत्व का मूल्यांकन करते हैं, तो इससे उनके प्रखर इतिहास विवेक और गहरी आलोचनात्मक चेतना का पता चलता है।

यह ठीक ही कहा गया है कि आलोचना के प्रतिमान रचना की परम्परा और रचना के परिवेश से ही प्राप्त होते हैं, केवल रचना से नहीं। काव्यमूल्यों का गहरा संबंध समकालीन जीवनमूल्यों से होता है और जीवनमूल्यों से रचनादृष्टि ही नहीं, आलोचना–दृष्टि भी अनुशासित होती है। रचना मूल्यों के सृजन का काम करती है और आलोचना सार्थक मूल्यों के संरक्षण का। समर्थ रचनाशीलता पुराने मूल्यों के संरक्षण का। समर्थ रचनाशीलता पुराने मूल्यों को तोड़ती है, नए मूल्य रचती है और नए मूल्यों को विकसित करती है। आलोचना रचना से निर्मित मूल्यों की सार्थकता और प्रासंगिकता की परख करती है, जिससे नए मूल्यबोध और नई मूल्यदृष्टि का विकास होता है। ऐतिहासिक चेतना से शून्य आलोचक रचनागत मूल्यों की सार्थकता और प्रासंगिकता की पहचान नहीं कर सकता।35

विजयदेवनारायण साही के 'पद्मावत' के विश्लेषण से गुजरते हुए हमें उनकी इतिहास–चेतना और कला–चेतना के बीच अद्भुत सामंजस्य की स्थिति दिखाई पड़ती है। स्मरणीय है कि इतिहास–चेतना का सम्बन्ध जहाँ किसी कलाकृति की समाजशस्त्रीय प्रामाणिकता की परख से है, वहीं कला–चेतना का सम्बन्ध उस कृति विशेष में निहित मानवीय सौन्दर्यबोध के उद्घाटन से सम्बद्ध है। साही जब कहते हैं कि " एक अर्थ में जायसी हिन्दी के पहले विधिवत् कवि हैं " –तो यह उनकी कला–चेतना की अभिव्यक्ति प्रतीत होती है। किन्तु अपनी इस स्थापना के ठीक बाद साही जब रेखांकित करते हैं कि कबीरदास ने कविता के द्वारा एक अत्यन्त कठिन समय में अभिव्यक्ति की समर्थ और शक्तिशाली राह बनायी। कबीरदास के पथ प्रदर्शन और क्षमता के बिना शायद जायसी के लिए 'पद्मावत' को लिख पाना भी संभव न होता, तो उनकी यह दूसरी स्थापना साहित्य के गहरे इतिहास–बोध से उत्पन्न लगती है। गौरतलब है कि कलात्मक चेतना से सम्पन्न आलोचक किसी रचना के कलात्मक मूल्यों की पहचान करता है और उसकी कलात्मक विशेषताओं की व्याख्या करता है, लेकिन ऐतिहासिक चेतना से ही रचना में व्यक्त नैतिक और सौन्दर्यबोधी मूल्यों के स्रोत और निर्माण प्रक्रिया की परख होती है।[36] इसलिए यह कहना अयुक्तियुक्त न होगा कि हिन्दी साहित्य की विशाल परम्परा में साही द्वारा 'पद्मावत' की महत्ता और मूल्यवत्ता का निर्धारण उसकी विशिष्टता और मौलिकता का विश्लेषण, परम्परा और परिवेश के संदर्भ में 'पद्मावत' की सार्थक नवीनता की पहचान उनके आलोचक व्यक्तित्व में ऐतिहासिक चेतना और कला–चेतना के मेल का अनोखा उदाहरण है। कहना न होगा कि प्रायः आलोचना में इतिहास–चेतना के नाम पर कृतियों की कलात्मक विशिष्टता की उपेक्षा करके केवल रचना या रचनाकार की ऐतिहासिकता के आधार पर उसका मूल्यांकन कर दिया जाता है और ऐसे में रचना और रचनाकार के अवमूल्यन की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता।

'पद्मावत' का विश्लेषण करते हुए विजयदेवनारायण साही उसके ऐतिहासिक चरित्र का विवेचन–विश्लेषण करने के साथ ही ऐतिहासिक सीमाओं को पार करके उसकी अपनी जीवन्तता प्रमाणित करने वाली रचनात्मक निजता को भी संपूर्णता के साथ रेखांकित करते हैं। जाहिर है कि जॉर्ज अब्रहाम ग्रियर्सन ने जायसी को एक मुसलमान सन्यासी बताते हुए उनकी साम्प्रदायिक लोकप्रियता का बखान किया है। साही ने इसकी गहरी छानबीन की और लिखा कि बहुत खोज करने पर भी जायसी के मुसलमान सन्यासी होने का उल्लेख किसी तजकिरे या इतिहास में नहीं मिलता। इस क्रम में उन्हें बदायुनी के प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ 'मुन्तखाबुल तवारीख' में मौलाना दाऊद के 'चन्दायन' का प्रशंसापरक उल्लेख प्राप्त हुआ, जिसमें कहा गया है कि यह पुस्तक इतनी लोक प्रसिद्ध है कि वह बदायुनी की प्रशंसा की मोहताज नहीं है। किन्तु इस इतिहास ग्रन्थ में 'पद्मावत' का कोई जिक्र नहीं है। प्रसंगात् साही ने लिखा हैः '' दाऊद जायसी से कोई डेढ़ सौ साल पहले और बदायूँनी से प्रायः दो सौ वर्ष पहले हुए। 'चन्दायन' में जगह–जगह काव्य–दीप्ति है। परन्तु जायसी के पद्मावत की तुलना में वह कहीं नहीं ठहरता। फिर भी बदायूँनी ऐसा बोलता है, जैसे मलिक मुहम्मद जायसी का उसने नाम न सुना हो। बदायूँनी ने कालपी वाले शेख बुरहान का भी तजकिरा लिखा है। माना गया है कि ये शेख बुरहान वही है जिनको अपनी गुरू–सूची में जायसी ने 'अगुआ भएउ शेख बुरहानूँ' कहकर प्रणाम किया है। शेख बुरहान का उल्लेख 'आईने–अकबरी' में उन सन्तों में है जिन्हें आभ्यन्तरिक ज्ञान पर अधिकार प्राप्त था। बदायूँनी ने यह भी बताना जरूरी समझा है कि शेख बुरहान हिन्दी में कविता भी लिखते थे। ''[37] साही का कहना है कि किसी भी छानबीन के बगैर जायसी के बारे में ग्रियर्सन के कथन पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी प्रतिष्ठित मूहर लगायी और कालान्तर में तर्क कुछ इस तरह बन गया कि चूंकि जायसी सूफी सिद्ध थे, अतः पद्मावत मूलतः

सूफी काव्य है। परिणामतः समूचा ग्रन्थ अध्यापकों, साहित्य–प्रेमियों और लेखकों की दृष्टि से ओझल हो गया। वास्तविकता यह नहीं है कि जायसी का पद्मावत लोकप्रिय नहीं हुआ। वह हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों में लोकप्रिय हुआ। पद्मावत काव्य की शक्ति ही ऐसी थी कि एक बार सुन या पढ़ लेने पर भूलना कठिन था। फिर भी यदि जायसी का जिक्र अगर नहीं मिलतातो इस चुप्पी के कारण उस समय के साम्प्रदायिक और राजनैतिक वातावरण में ही खोजने पड़ेंगे।[38] इस उद्धरण की अन्तिम पंक्ति से गुजरते हुए यह निष्कर्ष निकालना गलत न होगा कि साही यहॉ किसी रचना पर विचार करने के क्रम में उसके बारे में निर्मित पूर्व धारणाओं की पुनर्परीक्षा जरूरी मानते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो वे किसी कृति की लोकप्रियता अथवा उसके बारे में चुप्पी के कारणों की भी पड़ताल की अनिवार्यता महसूस करते हैं। 'पद्मावत' के संदर्भ में उसकी समाजशस्त्रीय प्रामाणिकता पर विचार के दरम्यान साही को लगता है कि यदि इस ग्रन्थ को केवल तसव्वुफ से जोड़कर देखने की परिपाटी खत्म नहीं हुई तो लोग 'पद्मावत' की ओर दृष्टि डालना ही बन्द कर देंगे। वे लिखते हैं कि " जब तक हिन्दी साहित्य में सैद्धांतिक और मतवादी आध्यात्मवाद का जोर था, तब तक अधूरा ही सही, कुछ आकर्षण जायसी के लिए तसव्वुफ के माध्यम से वर्तमान था। अब जब कि तसव्वुफ के लिए हिन्दी तो छोड़ दे, उर्दू और फारसी साहित्य में भी कोई आकर्षण नहीं रह गया है ; आधुनिक इरानी और उर्दू शयरी में तो तसव्वुफ के विरूद्ध प्रतिक्रिया ही दिखती है द्ध इस बात की प्रचुर संभावना है कि लोग 'पद्मावत' की ओर इसी क्रम में दृष्टि डालना ही बंद कर दें कि यह सब सूफीमत का झमेला है और आज के लिए नितान्त अप्रासंगिक है। इसलिए आवश्यक है कि हम अच्छी तरह उधेड़ बुन करके अपने को पूर्वग्रहों के जाल से मुक्त करें ताकि जायसी को समूचा, उनके संपूर्ण सृजनात्मक कृतित्व के साथ देख सकें और एक समर्थ और श्रेष्ठ कवि का साक्षात्कार

कर सकें। हमारी पतिबद्धता तसव्वुफ के प्रति नहीं है, हमारी प्रतिबद्धता जायसी की कविता के प्रति है। '' [39]

'पद्मावत' में वर्णित अलाउद्दीन और रतनसेन के बीच युद्ध के ऐतिहासिक आधार की खोज करते हुए साही ने अमीर खुसरो द्वारा रचित 'खजायनुल–फतूह' अथवा 'तारीखे–अलाई' नामक ग्रन्थ की छान–बीन की है, जिसमें खुसरो ने अलाउद्दीन की चित्तौड़–विजय का ऑखों देखा हाल बयान किया है। साही का कहना है कि जायसी ने खुसरो की इसी किताब को 'पद्मावत' के उत्तरार्ध की कथा का आधार बनाया। किन्तु दोनों की दृष्टि में जमीन आसमान का फर्क है। खुसरो के वर्णन का मुहावरा कट्टर साम्प्रदायिक काफिर हिन्दू–बनाम पवित्र इस्लाम का है। रणथम्भौर में किला टूटने के समय जो जौहर हुआ था, उसका जिक्र खुसरो और जायसी ने अपनी–अपनी दृष्टि से किया है। खुसरो के अनुसार इस्लाम की सेना ने जहन्नुमी हिन्दुओं को रणथम्भोर में घेर लिया। कुछ दिन के घेरे के बाद जब किले में पानी और अन्न की कमी हो गयी और दुर्ग का पतन निकट आ गया तो राजा ने पहाड़ की चोटी पर लाल फूलों के पर्वत की भॉति ऊँची आग जलाई और अनार की तरह स्तनों वाली सुन्दरियों को, जो उस किले में पली थीं, आग में झोंक दिया, यों कि आग से भी फरियाद उठने लगी। जब राजा ने उन बहिश्त की परियों–जैसी स्त्रियों को अपने सामने जहन्नुम में भेज दिया तो एक–दो और काफिरों को साथ लेकर किले में उतरा, ताकि अपने नाम की रक्षा करते हुए जान दे दे। यद्यपि सुबह की हवा चल रही थी, लेकिन पहरेदारों की नरगिसी ऑखें नींद में डूबी थीं। जब राजा वहॉ पहुँचा, बुलबुल की तरह आवाज करने वाला मुतरिब वहॉ आया। उसने पुकार दी। सभी सिपाही अपनी तलवारें खींचकर वहॉ कूदकर आ गये और राजा का सर उड़ा दिया।

खुसरो ने इस पर टिप्पणी की है कि यह किस्सा रणथम्भोर की विजय का है जो इस प्रकार ईश्वर की मर्जी से दारूल–कुफ़ से दारूल–इस्लाम बन गया।

'' दास्ताने फतहे रणथ्म्भोर कन्दर यक गजा।
गश्त अजॉसॉ दारे–कुफ़े दारे–इस्लाम दर क़ज़ा।।

चित्तौड़ के किले के टूटने और जौहर का उल्लेख जायसी ने 'पद्मावत' के अन्त में इस दोहे से किया है :

जौहर भई इस्तिरी पुरूख भये संग्राम।
पातसाहि गढ़ चूरा चितउर भा इसलाम।। ''[40]

खुसरो और जायसी को उद्धृत करने के बाद विजयदेव नारायण साही ने उन दोनों की मनः स्थिति की तुलना करते हुए जो निष्कर्ष प्रस्तत किया है, वह उनके धर्म निपरेक्ष इतिहास–विवेक और गहरी मानवीय करूणा से ओतप्रोत कला–चेतना का परिचायक है :'खुसरो काफिरों के खून के धुलकर पृथ्वी को पाक होता देखता है और उल्लसित होकर इस साम्राज्यवादी सत्ता–संघर्ष को इस्लाम की विजय मानता है। जौहर करती हुई स्त्रियों के अनार की तरह कठोर स्तन ही उसे दीखते हैं। इसके विपरीत, जायसी उड़ती हुई दो मुट्ठी राख की तरह इस पृथ्वी–विजय को झूठा देखते हैं और उनकी आवाज में ट्रेजडी, व्यंग्य और एक गहरे विषाद का सम्मिश्रण है जो जायसी के इस्लाम और अलाउद्दीन में गंभीर अन्तर की अनुभूति प्रस्तुत करता है।41

साही ने भले ही हिन्दी साहित्य का कोई इतिहास ग्रन्थ न लिखा हो, पर उन्होंने साहित्यकारों अथवा साहित्यिक कृतियों का समुचित मूल्यांकन करते हुए जो लिखा है, वह किसी भी इतिहास से कम महत्वपूर्ण नहीं है।

क्योंकि चाहे इतिहास लिखा जाए या आलोचना लिखी जाए सबसे अहम सवाल ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का है, जो सम्पूर्णता के साथ साही के आलोचनात्मक लेखन में मौजूद है।

साही ने अपने आलोचनात्मक लेखन में साहित्य के क्षेत्र में सम–सामयिकता के चलते उत्पन्न कुछ गुत्थियों पर भी विस्तार से विचार किया है। प्रसंगात उन्होंने लिखा है " समसामयिकता से आमना–सामना मुख्यतः हमें बेचैन और तिलमिलाया छोड़ जाता है। यथार्थ से हमारा सीधा साक्षात्कार होता है। जीवन की गहरी वास्तविकताओं के बीच, परस्पर विरोधी भावनाओं के बीच, सीमित परिस्थितियों के बीच मानव–मूल्यों का प्रश्न पूरी विराटता के साथ हमारे सामने आकर खड़ा हो जाता है। अर्जुन की भॉति हम डरकर ऑखें मूँद लेते हैं – नहीं, नहीं, हमें सत्य का वही चतुर्भुज सौम्य रूप ही चाहिए। समसामयिकता एक असुविधाजनक चुनौती है जो हमें ठोस, सार्थक शब्दों में सोचने को बाध्य करती है, आदर्श और यथार्थ के बीच उग्र सार्थकता का सम्बन्ध स्थापित करने की मॉग रखती है और हमारी निर्लिप्त आत्मतुष्टि की नींव को हिला देती है। नैतिकता और मानव–मूल्य निर्जीव, सुभाषित वाक्य मात्र नहीं रह जाते, बल्कि वे जीवन्त प्रश्न बन जाते हैं। इसीलिए यह हमारे लिए दायित्व ही नहीं, नैतिक दायित्व है। "[42]

प्रकारान्तर से साही कहना यह चाहते हैं कि अनुभूति की नितान्त समसामयिकता बिना किसी पूर्वग्रह के जीवन को उसकी समग्रता, तात्कालिकता एवं आग्रह के साथ ग्रहण क्रती है। इसका अर्थ है कि हमारे साथ के मानव जिन समस्याओं से जूझ रहे हैं वे समान हैं। साही के अनुसार एक रचनाकार के लिए चिन्तन और अनुभूति को अन्त में तिरोधित कर देना उचित नहीं है। क्योंकि इसके चलते मानव–मूल्यों के अनन्त और यथार्थ के दो स्तरों में विभाजित हो जाने की स्थिति उत्पन्न हो सकती है जिससे अन्ततः अनैतिकता

या उदासीनता पैदा होगी। इसके बजाय लेखक के लिए अपनी अनुभूति को समसामयिक संदर्भ में साकार करना समीचीन है। तात्कालिकता की कसौटी पर जब किसी चिन्तन को लगातार कसने की पेशकश की जाती है, तो इससे उसकी प्रासंगिकता का सही अन्दाजा होता रहता है। ऐसा करते हुए हम '' अनावश्यक अतीत से छूटकर हम वर्तमान में फैल जाते हैं और जीवित मानवता के साथ समन्वित हो जाते हैं।

समसामयिकता पर प्रायः चौंकाने की प्रवृत्ति, फैशन, प्रवंचक नयापन, संस्कारहीनता आदि आरोप यह कहकर लाये जाते हैं कि यह हमें स्थायी मूल से विच्छिन्न करके क्षिप्र गति भंवर में बहने के लिए निराधार छोड़ देती है इस प्रकार समसामयिकता के विरूद्ध स्थायित्व और उत्तेजक व्यक्तित्व प्रदान करने के लिए अतीत एवं परम्परा को लाकर खड़ा किया जाता है। इसके पीछे नीयत यह होती है कि परम्परा स्वतः सिद्ध प्रमाण है। वह विवेक का स्थान ले सकती है। इसलिए परम्परा के साथ जुड़ते ही हमारा अपना कथ्य नैतिक आलोक से मण्डित हो जाता है। परम्परा की चेतना एक आत्मिक शक्ति, अडिग निष्ठा अवश्य प्रदान करती है। सवाल यह उठता है कि परम्परा की दुहाई देने और उससे खुद को जोड़ने से हमारी इच्छा शक्ति को अपूर्व दृढ़ता तो प्राप्त हो जाती है, पर क्या इससे ही हमारे समय की समस्या का समाधान भी प्राप्त हो जाता है ? स्मरणीय है कि परम्परा का तात्पर्य पुनरूक्ति को प्रमाणित करना नहीं है क्योंकि पुनरूक्ति इतिहास, चिन्तन अथवा कलात्मक सृजन के क्षेत्र में लगभग निरर्थक है। दूसरी बात यह है कि वर्तमान में हमारा अस्तित्व अतीत के बजाय वर्तमान और भविष्य के मद्दे नजर निर्मित होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता, तो हम परम्परा के नाम पर प्रतिक्रियावाद की गिरफ्त में जा फ़सेंगे। साही ने अपनी सुपरिचित शैली में इस मुद्दे पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि '' आज जो कहा, लिखा, सोचा, समझा, खोजा या सिरजा गया है, उसे जब हम परम्परा से प्रमाणित करते हैं तो इसके तीन

तात्पर्य हो सकते हैं : (1) यह कथ्य अथवा कृति हूबहू वही है जो पहले थी, दोनों में तिल–मात्र भी अन्तर नहीं है; (2) यह कथ्य अथवा कृति रूप में भिन्न है, परन्तु अर्थ में पहले के समान है; तथा (3) यह कथ्य अथवा कृति रूप में एवम् अर्थ, दोनों में भिन्न है, केवल परिप्रेक्ष्य लक्ष्य, ऐषणा की सूक्ष्म समानता देखी जा सकती है। अल्प चिन्तन से ही स्पष्ट हो जायेगा कि इन तीनों तात्पर्यों में आकाश–पाताल का अन्तर है, परस्पर–विरोध भी है। होता यह है कि हम इस अन्तर्विरोध को समझाये बिना सुविधानुसार इन तीनों तात्पर्यों का प्रयोग करते हैं और इस तर्क–दुष्टता एवम् कुटिलता को जन्म देते हैं। ''[43]

वस्तुतः साही की समसामयिकता विषयक अवधारणा और साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में उसकी महत्ता पर बल देना बहुत हद तक अनुचित नहीं है। कारण यह कि हर युग की अपनी संवेदनशीलता होती है और ऐसी संवेदनशीलता के निर्माण में पुरानी रचनाशीलता के बोध के संस्कार और नये जीवनानुभवों को अभिव्यक्त करने वाली रचनाएँ दोनों का योग होता है। नई रचनाशीलता के समानान्तर ही नई आलोचनात्मक संवेदनशीलता समकालीन रचनाशील संवेदनशीलता से प्रेरित और समकालीन पाठकीय संवेदना से प्रभावित होती है। आलोचना समकालीन संवेदनशीलता के संदर्भ में ही अतीत की रचनाओं की व्याख्या और मूल्यांकन का प्रयत्न करती है। इस प्रकार किसी युग का इतिहास विवेक उस युग की आलोचनात्मक संवेदनशीलता से अनुशासित होता है। इतिहास विवेक से संपन्न आलोचक परम्परा और समकालीनता के संबंधों का विवेचन करते हुए ही समकालीन रचनाशीलता की मौलिकता और नवीनता की व्याख्या करता है। इस प्रकार समकालीन रचनाशीलता से उत्पन्न साहित्यविवेक इतिहास की नई व्याख्या को संभव बनाता है और इतिहास विवेक से नई रचनाशीलता की सार्थकता का बोध होता है।[44]

एक आलोचक के रूप में साही इतिहास के नैरन्तर्य और परम्परा का निषेध करने के बजाय उसे समसामयिकता से नियमित करने के हिमायती प्रतीत होते हैं शश्वतता और पूर्णता के नाम पर अपने जमाने के सत्य की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति को वे उचित नहीं मानते। समसामयिकता की अनुभूति को सार्थक काव्य की पहली शर्त घोषित करते हुए उन्होंने धर्मवीर भारती के एक काव्यांश को उद्धृत किया है।

" बौना जिसको केवल दो पग देख रहा है
दो पग आगे
दो पग पीछे
दो पग ऊपर
दो पग नीचे
दो पग की हो केवल जिसकी ज्ञान परिधि है!
कहाँ पड़ेगा गलत कदम
औ ' मीलों लम्बी घाटी उसको खा जायेगी ?
* * * * * * * * * * * * * * * * * * *
हारो मत, साहस मत छोड़ो
मैं भी हूँ बौना, वामन हूँ
किन्तु तीन पग माँगे हैं मैं ने धरती से
दो पग तुमको दीख रहा है
उसे पार कर बढ़ो –
तीसरा पग तो तुझमें सार्थक होगा
मुझ पर छोड़ो
–हर मनुष्य बौना है

लेकिन मैं बौना ही बनकर रहता हूँ
हारो मत, साहस मत छोड़ो
इससे भी अथाह शून्य में
बौनों ने ही तीन पगों में धरती नापी। ''

–धर्मवीर भारती

उपर्युक्त काव्यांश के मद्‌देनजर साही की स्थापना है कि मनुष्य को नित्य अपूर्ण वर्तमान में ही पूर्णता के बोध और अनुभूति का कोई मार्ग ढूंढना होगा। प्रत्येक क्षण एक ही साथ काल का निस्सीम स्रोत भी है और अखण्ड इकाई भी। क्षण की इस दोहरी चेतना के आधार पर ही हम अपनी ईमानदारी और गहराई के साथ क्रियाशीलता को कायम रख सकते हैं। इस सतत प्रवाहशील जगत में हम केवल अस्थाई साम्प्रतिक आस्था को ही सार्थकता दे सकते हैं। समसामयिकता का तत्व इसी साम्प्रतिकता, तात्कालिकता में है।

समसामयिकता किस कदर इतिहास लेखन को अनुशासित करती है, इसे निम्नवर्गीय इतिहास लेखन (सबालटर्न हिस्टरी) के संदर्भ में उजागर करते हुए शाहिद अमीन और ज्ञानेन्द्र पाण्डेय ने लिखा है कि '' इतिहास आखिर आज के मनुष्य द्वारा–आज के मनुष्य के लिए रचा हुआ एक वृत्तान्त है। .... इतिहास बनते बदलते हैं – लिखित रूप में भी बनाए और बदले जाते हैं। इस तथ्य से जुड़ा एक और तथ्य है – जो इतिहास पर पुनर्विचार करने वालों के लिए महत्वपूर्ण है – कि भाषा और कल्पना के बाहर कोई तथ्य नहीं होता। 'तथ्य' कोई शून्य में लटके पूर्णतः स्वतन्त्र, स्वायत्त चीज नहीं होते हैं, जिन्हें हम उसी तरह स्रोतों के माध्यम से पकड़ या देख सकते हैं, जैसे फ्रेम किये शीशे के पीछे के चित्र को, बल्कि फ्रेम का रूपक आगे बढ़ाएँ तो

चित्र भी फ्रेम के जरिये बनता है। फ्रेम कितना बड़ा है ?, कहाँ चित्र की सीमाएँ निर्धारित कर देता है ?, चित्र किस किस्म के प्रकाश में किस जगह पर रखा गया है ? यही नहीं, चित्र के अर्थ, चित्र का 'सच' देखने वाले के नजरिये पर भी निर्भर है। ठीक यही बात इतिहास और ऐतिहासिक तथ्यों पर भी लागू होती है। आज इतिहासकारों में आम सहमति होगी कि इतिहासकार के सवालों के आधार पर ही 'स्रोत' पैदा होते हैं और अपना 'सच' बतलाते हैं; और हमारा तात्कालिक संदर्भ और हमारी लेखनी (हमारी गाथाएँ) ही उन्हें खास मायने प्रदान करते हैं। इन गाथाओं में, इन संदर्भो में जगह पाने से ही 'तथ्य' 'तथ्य' बनते हैं और तथ्यों के बीच के रिश्तों को परखा जा सकता है। ''[45] गौरतलब है कि उपर उद्धृत मंतव्य में इतिहास लेखन के क्षेत्र में तात्कालिक संदर्भ की महत्ता को जिस पुरजोर ढंग से स्थापित किया गया है, वह साही की 'नितान्त समसामयिकता' की अवधारणा के बहुत करीब प्रतीत होता है।

अंततः साही द्वारा मार्क्स के इतिहास सम्बन्धी चिंतन पर की गई टिप्पणि विचारणीय है। जाहिर है कि कार्ल मार्क्स ने इतिहास की व्याख्या के लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति का इस्तेमाल किया है, जिसे ऐतिहासिक भौतिकवाद भी कहा जाता है। मार्क्स एंगल्स के इतिहास–विषयक चिन्तन तथा उनके द्वारा व्याख्यायित ऐतिहासिक परिवर्तन की अवस्थाओं को वहाँ मुख्यतः तीन नियमों के तहत समझाया गया है। 1) विरोधी समागम 2) गुणात्मक परिवर्तन और 3) प्रतिषेध का प्रतिषेध । ''वस्तु के उदर में विरोधी प्रवृत्तियाँ जमा होती हैं, इससे परिवर्तन के लिए सबसे आवश्यक चीज – गति–पैदा होती है। फिर हेगेल के द्वन्द्ववादी प्रक्रिया के वाद और प्रतिवाद के संघर्ष से सम्वाद रूप में नया गुण पैदा होता है, इसे दूसरी सीढ़ी गुणात्मक परिवर्तन कहते हैं। पहले जो वाद था, उसको भी उसकी पूर्वगामी कड़ी से मिलाने पर वह किसी का प्रतिषेध करने वाला संवाद या, अब गुणात्मक

परिवर्तन – आमूल परिवर्तन – जबसे उसका प्रतिषेध हुआ, तो यह प्रतिषेध का प्रतिषेध है। ''[46]

दो परस्पर विरोधी शक्तियों (वस्तुओं, घटनाप्रवाहों) का मिलना ही गति पैदा करने के लिए पर्याप्त है। '' गति का नाम विकास है – या लेनिन के शब्दों में कहिए – 'विकास विरोधियों के संघर्ष का नाम है।' विरोधी जब मिलेंगे तो संघर्ष जरूर होगा, और, संघर्ष नये स्वरूप, नयी गति, नई परिस्थिति अर्थात्, विकास को जरूर पैदा करेगा, यह बात साफ है। ''[47] इसी प्रकार परिमाणात्मक परिवर्तन ही एक खास सीमा पार होने पर गुणात्मक (नये गुणों वाले) भेदों में बदला जाता है। जहाँ तक प्रतिषेध के प्रतिषेध नियम का प्रश्न है, एक पीढ़ी पहली पीढ़ी का प्रतिषेध करती है, फिर इस नई पीढ़ी का प्रतिषेध अगली पीढ़ी करती है। राहुल जी ने इसे समझाते हुए बताया है कि पूंजीवाद ने अलग–अलग, छोटे–छोटे व्यवसायियों, शिल्पियों को हटाकर उत्पादन के साधनों तथा व्यवसाय को पूंजीवादी संगठन के हाथ में दे दिया। समाजवाद उसका प्रतिषेध कर प्रतिषेध का प्रतिषेध बना। इतिहास प्रवाह में विरोधी समागम होने पर ही संघर्ष द्वारा गुणात्मक परिवर्तन होता है, जिसका ही परिणाम प्रतिषेध का प्रतिषेध होता है।[48]

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि मार्क्स–एंगेल्स ने इतिहास की गति को व्याख्यायित करने के लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी तर्क पद्धति का व्यवहार किया है। मार्क्स के एतद्‌विषयक मंतव्य पर टिप्पणी करते हुए डॉ. विजयदेवनारायण साही लिखते हैं कि मार्क्स ने समाजवाद को यूटोपिया से विज्ञान

तक पहुँचाया और ऐतिहासिक, सामाजिक परिवर्तन की एक व्याख्या प्रसतुत की। उसने उस परिवर्तन के कुछ नियम खोजकर निकाले और उनके आधार पर कुछ भविष्यवाणियाँ की। साही की आपत्ति केवल एक बात को लेकर है कि मार्क्स द्वारा खोज कर निकाले गये ऐतिहासिक, सामाजिक परिवर्तन के नियम प्रगति का एकमात्र माध्यम है। बावजूद इसके वे इस बात से इनकार नहीं करते कि "मार्क्स की प्रणाली मूलतः मानव विवेक प्रणाली है और वर्तमान में कर्तव्य–अकर्तव्य का निर्णय करने के लिए सहायक हो सकती है।"[49] साही का कहना है कि हम इतिहास की विवेचना से नये–नये निष्कर्ष निकालते हैं, जो कि एक हद तक जरूरी भी है, परन्तु हमें यदि वर्तमान में जीना है तो निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया से हम बच नहीं सकते। साही की दूसरी आपत्ति कम्युनिस्ट पार्टी को इतिहास के अस्त्र (Instrument of History) के रूप में मान्यता देने को लेकर है। "कम्युनिस्ट चिन्तन में पार्टी मात्र ऐसे व्यक्तियों का समुदाय नहीं है, जो एक विशेष दिशा में सामाजिक परिवर्तन की कामना रखते हैं, जिस तरह से अन्य समाजवादी पार्टियाँ होती हैं। कम्युनिस्ट पार्टी व्यक्तियों और उनके समुदायों से ऊपर एक दार्शनिक तत्व है, जिसमें 'इतिहास स्वज्ञ हो जाता है' (History has become conscious of itself)। इस तरह कम्युनिस्ट होने के लिए केवल इतना ही मानना काफी नहीं है कि समाज में परिवर्तन होता है या प्रयास करके लाया जा सकता है, बल्कि यह भी कि उस परिवर्तन का एक मात्र अस्त्र कम्युनिस्ट पार्टी है। कम्युनिस्ट पार्टी के अतिरिक्त इतिहास का एक और अस्त्र है – वह है सोवियत रूस। चूंकि ये दोनों वर्तमान की सारी नैतिकता, कर्म–प्रणाली और सार्थकता इनकी सफलता और शक्ति पर निर्भर करती है। जो इनके पक्ष में है, वह प्रगतिशील और नैतिक है, जो नहीं है, वह इसके विपरीत है।"[50]

उपर्युक्त विवेचन के मद्देनजर यह कहा जा सकता है कि साही ने मार्क्स के इतिहास विषयक चिंतन पर विचार करने के क्रम में मार्क्स के वैज्ञानिक दृष्टिकोण और कम्युनिस्ट पार्टी की राजनीति में भेद किया है। उन्होंने साफ लिखा है – " पहली मान्यता में हम वैज्ञानिक विवेक का दामन नहीं छोड़ते। लेकिन हम कितना भी वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न क्यों न हो जायँ, या हमारा विश्लेषण कितना भी सम्पूर्ण क्यों न हो जाय, हम किसी तरह इस नतीजे पर नहीं पहुँच सकते कि अमुक पार्टी भी राज्य–दार्शनिक अर्थो में इतिहास का अस्त्र है। "[51]

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि विजयदेवनाराण साही यदि एक ओर इतिहास की निरन्तरता को स्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर वे उसके किसी बिन्दु पर घटित होने वाली परिवर्तन की प्रकिया को नितान्त सामयिक ढंग से देखना भी जरूरी मानते हैं। इतिहास के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करने के बावजूद वे कम्युनिस्ट राजनीति की विसंगतियों

.......44

से भली भांति परिचित हैं। उनकी इतिहास–दृष्टि डॉ. राममनोहर लोहिया के इतिहास–दर्शन का अतिक्रमण करती हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार दृष्टि का खुलापन उनकी इतिहास–चेतना की सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है।

सन्दर्भ सूची :

1. साहित्य क्यों ? ; पृ–75
2. साहित्य क्यों ? ; पृ–74
3. साहित्य क्यों ? पृ–74
4. साहित्य क्यों ? ; पृ–74
5. साहित्य क्यों ? ; पृ–73
6. साहित्य क्यों ? ; पृ–75
7. साहित्य क्यों ? ; पृ–75
8. साहित्य क्यों ? ; पृ–76
9. शाहिब अमीन / ज्ञानेन्द्र पांडे, हंस, 1997 अक्टूबर ; पृ–83–84
10. छइवाँ दशक ; पृ–206–207
11. छठवॉ दशक ; 207
12 साहित्य क्यों ? ; पृ –77
13 छठवॉ दशक ; पृ–176
14 छठवॉ दशक ; पृ–179
15 छठवॉ दशक, पृ–181
16 Wheel of History ; Page no. 20

17 Wheel of History ; Page no.

18 छठवॉ दशक ; पृ–146–147
19. साहित्य क्यों ? ; पृ–34
20 साहित्य क्यों ? ; पृ–36
21 साहित्य क्यों ? ; पृ–36
22 साहित्य क्यों ? पृ–37
23 साहित्य क्यों ? पृ–37

24 साहित्य क्यों ? ; पृ–37

25 साहित्य क्यों ? ; पृ–38

26 छठवॉ दशक ; पृ–320 पर उद्धृत

27 छठवॉ दशक ; पृ–320 पर उद्धृत

28 छठवॉ दशक ; पृ–321

29 हिमांशु रंजन 'अभिप्राय' (मई 1985) ; पृ–83

30. अभिप्राय, मई 1985 ; पृ–83

31. साहित्य और इतिहास दृष्टि ; पृ–74

32. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – त्रिवेणी ; पृ–16

33 त्रिवेणी ; पृ–16–17

34. विजयदेचनारायण साही – वर्धमान और पतनशील ; पृ–90

35 डॉ. मैनेजर पाण्डेय ; साहित्य और इतिहास दृष्टि, पृ–74–75

36. साहित्य और इतिहास दृष्टि, पृ–75

37 जायसी ; पृ–25

38 जायसी, ; पृ–26

39 जायसी, ; पृ–26

40 जायसी, ; पृ–59 पर उदृत

41 जायसी, ; पृ–59

42. छठवॉ दशक ; पृ–14

43 छठवॉ दशक ; पृ–142

44 डॉ. मैनेजर पाडेय – साहित्य और इतिहास दृष्टि ; पृ–77

45. हंस, अक्टूबर, 1997 ; पृ–85

46 वैज्ञानिक भौतिकवाद ; पृ–159

47 वैज्ञानिक भौतिकवाद ; पृ–160

48 वैज्ञानिक भौतिकवाद ; पृ–189

49 छठवॉं दशक ; पृ–155

50 छठवॉं दशक ; पृ–156

51 छठवॉं दशक ; पृ–156

अध्याय - दो

आलोचक विजयदेवनारायण साही :
सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक दृष्टिकोण

साहित्य और समाज के बीच द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को रेखांकित करते हुए गजानन माधव मुक्तिबोध ने लिखा है कि " साहित्य तथा युग के परस्पर सम्बन्ध के विषय में मूलभूत जिज्ञासा एक ऐसी जिज्ञासा है, जो ऐतिहासिक विकास की मानवीय प्रक्रियाओं की साहित्यिक अभिव्यक्ति का अनुसंधान करना चाहिती है। निश्चय ही साहित्य–विश्लेषण के लिए ऐसी जिज्ञासा को मनुष्य–जीवन के सभी पक्षों का अध्ययन आवश्यक होता है। जो लोग साहित्य के केवल सौन्दर्यात्मक–मनोवैज्ञानिक पक्ष को चरम मानकर चलते हैं, वे समूची मानव–सत्ता के प्रति दिलचस्पी न रख सकने के अपराधी तो हैं ही, साहित्य के मूलभूत तत्व, उनके मानवीय अभिप्राय तथा मानव विकास मं उनके ऐतिहासिक योगदान अर्थात्, दूसरे शब्दों में, साहित्य के स्वरूप का विश्लेषण तथा मूल्यांकन न कर पाने के भी अपराधी हैं। साहित्य का अध्ययन एक प्रकार से मानव–सत्ता का अध्ययन है। अतएव, जो लोग केवल ऊपरी तौर पर साहित्य का ऐतिहासिक विहंगावलोकन अथवा समाजशास्त्रीय निरीक्षण कर चुकने में ही अपनी इति–कर्तव्यता समझते है ; वे भी एकपक्षीय अतिरेक करते हैं। ऐसे व्यक्ति साहित्य के ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय परिवेश की बात करके चुप हो जाते हैं। आवश्यकता तो इस बात की है कि आलोचन में ऐतिहासिक–समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक–सौन्दर्यात्मक विवेचना की सम्पूर्ण एकात्मकता रहे "[1]

जाहिर है कि साहित्य की अन्तर्वस्तु कुल मिलाकर सामाजिक अन्तर्वस्तु ही होती है। इसलिए कोई भी बड़ा रचनाकार या आलोचक अपने लेखन की समाज–सापेक्षता से इनकार नहीं कर सकता। जहां तक रचनात्मक साहित्य का सवाल है, स्पष्ट ही लेखक के विचार उसमें सीधे–सीधे अभिव्यक्त नहीं होते। दूसरे शब्दों में कहें तो रचनात्मक साहित्य में विचार–तत्व घुलकर संवेदना–तत्व के रूप में शब्दबद्ध होता है। किन्तु आलोचनात्मक लेखन में यह प्रयास किया जाता है कि कृति में छिपे विचारों को खोज निकाला जाए।

आलोचक इस क्रम में अपने दृष्टिकोण के तहत रचना से बार–बार टकराता है और अन्ततः कृति विशेष के बारे में अपनी राय कायम करता है। कहना न होगा कि आलोचक की यह राय उसके अपने सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण के तहत ही बनती है। तात्पर्य यह कि जब कोई आलोचक किसी कृति की व्याख्या करने के लिए तत्पर होता है, तो वह रचनाकार के सामने निहत्था खड़ा नहीं होता। वह अपने जीवनानुभवों व जीवन–मूल्यों के मद्दे नजर ही किसी रचना का मूल्यांकन करता है। चूंकि साहित्यालोचन में कट्टरतावादी दृष्टिकोण बहुत उपयोगी नहीं होता इसलिए प्रायः बड़े आलोचक के दृष्टिकोण में एक लचीलापन अवश्य होता है। प्रसंगात् विजयदेवनारायण साही ने लिखा है कि " आलोचना के लिए, चाहे वह मूल्यांकन हो या पुनर्मूल्यांकन, सीधे सुथरे गिनाये जाने लायक प्रतिमान बहुत काम के नहीं होते। सबसे अधिक आकर्षक आलोचना तो वही होती है जो एक साथ बहुत से पहलुओं को उजागर करती चलती रहती है और पाठक को मूल कृति या कृतियों के बारे में एक विशिष्ट उन्मुख अवस्था में छोड़ देती है जो कभी–कभी प्रतिमान जैसी लग सकती है। लेकिन यह विशिष्टता समूचे आलोचनात्मक प्रबन्ध में दीप्त रहती है। बिना भ्रान्ति का खतरा उठाये, उसे सूत्रवत संक्षिप्त कर देना सम्भव नहीं होता। "[2]

इसी बात को न समझ पाने के चलते एक जमाने में प्रगतिशील साहित्य लेखन के क्षेत्र में कट्टरवाद का प्रवेश हो गया था। मुक्तिबोध ने इसे संसूचित करते हुए तब लिखा थाः– " जो अपने से भिन्न है, वह अपना विरोधी भी है। जो काव्य के अपने माने हुए ढाँचे में जमा हुआ नहीं है, वह गलत भी है, असुन्दर भी है, प्रतिकियावादी है। इस प्रकार का सोच–विचार समीक्षकों को मानव–यथार्थ से दूरी लम्बे–चौड़े फासले–सूचित करता है। और इन

फासलों ही के कारण साहित्य–क्षेत्र में एक विशेष प्रकार की परिस्थिति पैदा हो जाती है, जो साहित्य–विकास के अनुकूल नहीं कही जा सकती।

प्रगतिवादियों के व्यवहार द्वारा यह सूचित होता (था) कि वे मुक्ति–संघर्ष, राष्ट–प्रेम, प्राकृतिक सौन्दर्य, नारी–सौन्दर्य, यथार्थ–आलोचना, भावना, आशा, उत्साह तथा तत्समान अन्य भावों को प्रगतिशील समझते हैं। किन्तु शेष सब भावनाएँ, जैसे, भयानक ग्लानि, निराशा–अनाशा, वैफल्य तथा इसी श्रेणी की अन्य भावनाएँ प्रतिकियावदी हैं। यह उनकी पसन्दगियों से, उनके व्यवहार से, उनकी बातचीत के ढंग से, और उनके सम्पादकीयों अथवा लेखों से, सूचित होता था। इस प्रकार लगता था मानों वह एक योजनाबद्ध विभाजनीकरण हो।

कोई भी भावना न अपने–आपमें प्रतिक्रियावादी होती है, न प्रगतिशील। वह वास्तविक जीवन–सम्बन्धों से युक्त होकर ही उचित या अनुचित, संगत या असंगत सिद्ध हो सकती है। किसी भी भावना के जीवन–सम्बन्धों को देखना आवश्यक है। घृणा यदि उचित के प्रति है तो वह स्वयं घृण्य है, यदि वह अनुचित के प्रति है तो प्रशंसनीय है। उसी प्रकार, वैफल्य और निराशा किन जीवन–सम्बन्धों के आधार पर है ? उस निराशा की जन्मभूमि जो मानव–जीवन है, उसको ध्यान में रखकर ही, उसका विश्लेषण और मूल्यांकन किया जा सकता है।

यह कैसा अजीब आग्रह है कि कविता एक खास किस्म के ढाँचे में ही बँधी हुई होनी चाहिए! ''[3]

कहना न होगा कि गजानन माधव मुक्तिबोध शब्द और कर्म दोनों ही क्षेत्रों में शत्–प्रतिशत कम्युनिस्ट थे। किन्तु उन्होंने भी साहित्यालोचन के

क्षेत्र में कट्टरता का पूर्णतः निषेध किया है। विजयदेवनारायण साही का सम्बन्ध मार्क्सवाद के बजाय डॉ. राममनोहर लोहिया, आचार्य नरेन्द्रदेव एवं जयप्रकाश नारायण द्वारा प्रवर्तित समाजवादी विचारधारा से था। इनमें भी वे डॉ. लोलिया के ज्यादा करीब थे। इसलिए उनके लेखन में बहुत हद तक विचारधारात्मक कट्टरता से परहेज रखने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। दूसरे शब्दों में यदि कहें तो साही का सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण बहुत दूर तक उनके समाजवादी दृष्टिकोण की सर्जनात्मक फलश्रुति है।

इस मुद्दे पर विचार करते हुए जो सबसे पहली बात हमारे सामने उभरकर आती है, वह है, साही का सेक्युलर दृष्टिकोण। दुर्भाग्य से आजादी के बाद भारतीय समाज उस जटिल समस्या को जड़ मूल से उखाड़ फेंकने में असफल रहा है जिसके चलते बीसवीं शताब्दी के मध्य में भारत को विभाजन की त्रासदी झेलनी पड़ी। गौरतलब है कि भाषा एवं संस्कृति के क्षेत्र में इस समस्या का बीजवपन उन्नसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में साम्राज्यवादी विचारधारा के समर्थक कुछ विद्वानों द्वारा किया गया था। इस संदर्भ में हिन्दी–उर्दू विवाद पर नये सिरे से विचार किया जाना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इस विवाद के साम्प्रदायिक आयाम को उजागर करते हुए लिखा है कि " अदालती भाषा उर्दू बनाई जाने पर भी विक्रम की 20वीं शताब्दी के आरंभ से पहले से ही हिन्दी खड़ीबोली गद्य की परम्परा हिन्दी साहित्य में अच्छी तरह चल पड़ी, उसमें पुस्तकें छपने लगीं, अखबार निकलने लगे। पद्य की भाषा ब्रजभाषा ही बनी रही। अब अंग्रेजी सरकार का ध्यान देशी भाषाओं की शिक्षा की ओर गया और उसकी व्यवस्था की बात सोची जाने लगी। हिन्दी को अदालतों से निकलवाने में मुसलमानों को सफलता हो चुकी थी। अब वे इस प्रयत्न में लगे कि हिन्दी को शिक्षा–क्रम में भी स्थान न मिले, उसकी पढ़ाई का भी प्रबन्ध न होने पाये।

अतः सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए जगह जगह मदरसें खुलने की बात उठी और सरकार यह विचारने लगी की हिन्दी का पढ़ना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक रखा जाए, तब प्रभावशाली मुसलमानों की ओर से गहरा विरोध खड़ा किया गया। ''[4]

आचार्य शुक्ल ने इसी क्रम में आगे लिखा है कि इस विरोध से तंग आकर किसी प्रकार अंततः सरकार को अपना विचार छोड़ना पड़ा और सन् 1839 में एक अधिसूचना जारी करनी पड़ी जिसमें कहा गया था कि '' ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है, हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी, जिनकी संख्या देहली कॉलेज में बड़ी है, इसे अच्छी नजर से नहीं देखेंगे। ''[5] शुक्ल जी ने विस्तार से चर्चा की है कि किस प्रकार अंग्रेजों के बीच उस जमाने में अति सम्माननीय सर सय्यद अहमद साहब ने हिन्दी को एक गंवारी बोली बताकर अंग्रेजों को उर्दू की ओर झुकाने कि लगातार कोशिश की, जिसका प्रतिकार अपनी शक्ति और सीमा में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने किया था। बावजूद इसके यह विवाद भारतेन्दु के जमाने तक चलता रहा। शुक्ल जी के अनुसार गार्सा द तासी ने भी फ्रान्स में बैठे–बैठे इस झगड़े में योग दिया क्योंकि उस समय के अधिकांश और योरोपियनों के समान उनका भी मजहबी संस्कार प्रबल था। '' जहाँ जब हिन्दी–उर्दू का सवाल उठा, तब सर सैयद अहमद, जो अंग्रेजों से मेल रखने की विद्या में एक ही थे, हिन्दी विरोध में और बल लाने के लिए मजहबी नुसखा भी काम में लाये। अंग्रेजों को सुझाया गया कि हिन्दी हिन्दुओं की जबान है, जो बुत–परस्त हैं और उर्दू मुसलमानों की जिनके साथ अंग्रेजों का मजहबी रिश्ता है – दोनों सामी या पैगंबरी मत के मानने वाले हैं। ''[6] शुक्ल जी ने गर्सा द तासी के बारे में भी साफ लिखा है कि ''हिन्दी–उर्दू का झगड़ा उठने पर आपने मजहबी रिश्ते के ख्याल से उर्दू का पक्ष ग्रहण किया और कहा

–'हिन्दी में हिन्दी धर्म का आभास है........' इसके विपरीत उर्दू में इसलामी संस्कृति और आचार व्यवहार का संचय है इसलाम भी सामी मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धांत है : इसीलिए इसलामी तहजीब में इसाइया मसीही तहजीब की विशेषताएँ पाई जाती हैं।''[7]

उपरू के उद्दरणों से गुजरते हुए यह साफ पता चलता है कि भारत में साम्प्रदायिक्ता की जड़ें कितनी गहरी हैं और हिन्दी–उर्दू विवाद उसका एक ज्वलंत आयाम है हिन्दुस्तान की गंगा–जमनी तहजीब को नकारकर भाषा एवं संस्कृति के क्षेत्र में कट्टरतावाद के प्रचारक तब भी थे और आज भी हैं। इनकी बखियाँ उधेड़ते हुए विजयदेवनारायण साही ने लिखा है कि '' हिन्दी–उर्दू विवाद की गाथा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की सबसे उत्तेजनापूर्ण विवाद की गाथा है और उसके अंतर्गत हुए सार्थक और निरर्थक वादों और वितण्डाओं की कथाएँ बड़े जोशखरोश से कही जाती रही हैं। जो समाधान प्रस्तुत किये गये, वे अधिकांशतः साम्प्रदायिक फसाद और शान्ति, प्रशसनिक सुविधा, कोशिक विरूपताओं या पाठ्य पुस्तक प्रकाशन आदि को मद्दे–नजर रखकर किये गये हैं और उनमें हमेशा यह मानकर चला गया है कि साहित्याकार चाहे उर्दू का हो, चाहे हिन्दी का, चाहे हिन्दुस्तानी का उसे अपनी शब्दावली का चुनाव अपनी कला के तर्क से नहीं, बल्कि साम्प्रदायिकता, साम्प्रदायिकता–विरोध या सर्वसाम्प्रदायिकता के बाह्य उद्दिष्टों के आधार पर करना होता है। ''[8]

अपने विवेचन में साही ने बल देकर एक बात कही है कि '' अन्ततः हिन्दी–उर्दू और कुछ नहीं शैली परियोजना के प्रकार ही तो हैं। ''[9] इस मुद्दे की तह में जाने पर पता चलता है कि मध्यकाल में मुसलमानों के आगमन के समय हिन्दी क्षेत्र में आधुनिक भारतीय भाषाओं का प्रचार था। इनमें से राजधानी के पास की भाषा खड़ीबोली उनकी जबान पर आसानी से चढ़ गई

और फिर बाद में सारे भारत में समझी जाने लगी। चूंकि मुसलमानों को यहाँ की भाषा की जरूरत थी, इसलिए एक तो वे फारसी बोलते थे, दूसरे, भारतीय भाषा के रूप में उन्होंने खड़ीबोली को स्वीकार किया एवं शासकों द्वारा गृहीत किये जाने पर खड़ीबोली का चलन, आवश्यकतानुसार, सारे देश में होने लगा। यद्यपि, खड़ीबोली इसी देश के एक प्रान्त विशेष के हिन्दुओं की ही बोली थी, परन्तु मूसलमान शासकों और साहित्यिकों के द्वारा पहले अपनाये जाने के कारण हिन्दु उसे विशेष रूप से मुसलमानों की भाषा समझने लगे। दिनकर जी ने लिखा है कि '' उर्दू भाषा हिन्दू–मुस्लिम–एकता की भाषा के रूप में उत्पन्न हुई।........ साम्प्रदायिक सद्भावना के वातावरण में दक्षिण के मुस्लिम कवियों ने खड़ीबोली में कविताएँ लिखनी शुरू की जिनके छन्द तो फारसी के, लेकिन अधिकांश शब्द इसी देश के थे। ''[10]

अपने विवेचन के दरम्यान दिनकर जी ने विस्तार से अनेकानेक उदाहरणों के साथ यह बताया है कि जब खड़ीबोली के कवियों में ''यह ध्येय प्रमुखता पाने लगा कि भाषा हिन्दुस्तान की और भाव इरान के होने चाहिए, तभी भारतीय शब्दों का स्थान अरबी और फारसी के शब्द लेने लगे। यदि उर्दू का जन्म अकबर के समय हुआ होता तो बहिष्कार की नीति मुसलमान कवियों को सूझती ही नहीं। मतरूकात (बहिष्कार की नीति) की नीति पर चलने की प्रेरणा उन्हें इसलिए मिली कि जब उर्दू का जन्म हो रहा था, तब इस देश की राजनीति साम्प्रदायिक हो गई थी और उस राजनीति का प्रभाव साहित्य पर भी जोरों से पड़ा। ''[11] स्पष्ट ही अंग्रेजों के आगमन के उपरान्त जब पुनः साम्प्रदायिक राजनीति सुगबुगाने लगी तो हिन्दुस्तान की गंगा–जमनी तहजीब में भी दरार के स्पष्ट चिह्न उभरने लगे। चूंकि बीसवीं शताब्दी में स्वाधीनता संग्राम के दौरान बहुत सारे नये पुराने अंतर्विरोध उभर रहे थे, इसलिए हिन्दी–उर्दू का मामला भी साम्प्रदायिक रंग लेकर नये सिरे से

उभरा। विजयदेवनारायण साही ने हिन्दी और उर्दू की साम्प्रदायिक राजनीति करने वालों पर प्रहार करते हुए लिखा है कि "सबसे दुर्भाग्यपूर्ण और बेतुकी बात जो इस विवाद में हुई वह हिन्दी और उर्दू की पहचान का हिन्दू–मुस्लिम सम्प्रदायों के साथ नत्थी हो जाना था। वे भी, जिन्होंने सद्‌भावना से प्रेरित होकर हिन्दुस्तानी नाम की खिचड़ी पकाई, वे भी परोक्ष रूप से हिन्दी–उर्दू की इस पहचान को स्वीकार करते हैं और मसले से ध्यान हटाने को जादूगर की तरह टोपी से हिन्दुस्तानी नाम का खरगोश प्रगट करते हैं, सिर्फ स्थिति को सम्हालने के लिए। इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि जानबूझकर शब्द–योजना का एक विकृतीकरण संस्कृत तथा अरबी–फारसी के पक्ष में किया जाने लगा और भीषण विरूपताओं के कारण अभिव्यक्ति में एक नकलीपन, एक झूठापन आ गया।"[12]

उनका मानना है कि अन्तिम विश्लेषण में हिन्दी उर्दू एक ही भाषा हैं। उसमें जो फर्क है, वह हिन्दी और गुजराती या बंगाली की तरह का नहीं है। उसमें बहुत कम भेद है और भिन्नता मुख्यतः शब्दयोजना और गलत पारम्परिकता के भाव तक सीमित है। जब हम इस तथ्य को स्वीकार कर लेते हैं तो फिर यह बात निरर्थक सिद्ध हो जाती है कि कौन दूसरे की केवल एक शैली, एक बानगी मात्र है उनका विश्वास है कि हिन्दी उर्दू को साथ करने का काम अन्ततः साहित्य के लेखकों द्वारा ही होगा। उनके शब्दों में " इसकी वांछनीयता के पक्ष में शायद कुछ कहने की जरूरत नहीं है। अलगाव और उस अलगाव पर बलाघात दोनों कृत्रिम थे और विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों से उपजे थे।.......... लेकिन अपनी संस्कृति के प्रवक्ताओं को द्विभाजित करने के अतिरिक्त इससे और कुछ काम सिद्ध नहीं होता।"[13] अपने विश्लेषण में साही भाषाई अनुदारता के चलते साहित्य के रचनात्मक एवं आलोचनात्मक मानदण्डों के लिए पैदा हुए खतरे को लेकर सबसे ज्यादा चिन्तित है। यह इतना नाजुक मामला है कि " आदमी सखते में आ जाता है, जब देख्ता है कि खासे

समझदार और सन्तुलित लोग भी बेतरह बौखला जाते हैं। ''[14] वस्तुतः साही द्वारा कथित समझदान और सन्तुलित लोगों का बेतरह बौखला जाने का मूल कारण भाषा को लेकर ऐसे लोगों की साम्प्रदायिक दृष्टि में निहित है। इस मुद्दे पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करते हुए उनका दो टूक निष्कर्ष है कि '' जब मैं यह कहता हूँ कि हिन्दी और उर्दू को निकट लाना चाहिए, तो मेरा मतलब है कि इस द्विभाजन का अन्त होना चाहिए। साफ–साफ कहूं तो इसके दो ही अर्थ निकलते हैं या तो दोनों का सम्बन्ध होगा या फिर दो में से एक सूख जाएगी। पुनः साफ–साफ कहूँ तो समन्वय असंभव है उसके स्पष्ट साहित्यिक कारण है। उर्दू और हिन्दी का भेद ब्रजभाषा और आज की खड़ीबोली हिन्दी के भेद की तरह है।

यह कल्पना करने का प्रयास करना व्यर्थ है कि कोई ऐसी बहुमुखी प्रतिभावाला साहित्यकार आयेगा, जो दोनों का समन्वय एक शैली में कर पायेगा। भारतेंदु हरश्चिंद्र ने प्रयास किया और असफल हुए। ''[15] आगे इस मुद्दे पर उन्होंने कदाचित समाजशस्त्रीय दृष्टि से विचार करते हुए स्वीकार किया है कि उन्नीसवीं शताब्दी में आधुनिक हिन्दी का आगमन नये युग के आगमन के साथ भारत के पुनर्जागरण के साथ हुआ। यदि वह एक सम्प्रदाय के विरूद्ध दूसरे सम्प्रदाय के विरोध का माध्यम होती तो अब तक वह प्राक्प्रलय पण्डितों द्वारा रचित अजायबघर में रखने लायक अजूबा बनकर रह गई होती। बिना एक सच्ची सांस्कृतिक आवश्यकता के कोई साहित्यिक माध्यम जीवित नहीं रहता। उर्दू भाषा के उद्भव तथ उर्दू साहित्य की अन्तः प्रकृति को रेखांकित करते हुए साही कहते हैं कि ब्रिटिश पूर्व उर्दू के दोनों छोरों पर दो बादशाह स्थित हैं – महमद शाह रंगीले और वाजिद अली शाह। उर्दू के अस्तित्व पाने का कारण सबसे रंगीन, सबसे चित्रोपम पतनकाल था जो हमारे देश में या शायद संसार के किसी देश ने देखा हो। जन्म से परिपक्वता प्राप्ति तक के दो सौ वर्षों के अन्दर उर्दू के नक्श पर, आकृति पर

पतनोन्मुखता की अमिट छाप उत्कीर्ण हो गई। यदि यह नया माध्यम किसी उर्जापूर्ण जीवनशक्ति की उपज होता तो उसने अंततः ब्रजभाषा को स्थानापन्न कर दिया होता। अगर वह पर्याप्त रूप से बहुमुखी प्रतिभावाली भाषा होती, जो पूरे पतनकाल को आच्छादित कर देती, तो भी वह ब्रजभाषा को अप्रासंगिक बना देती। लेकिन सब होने पर भी पतनकाल का एक हिस्सा उर्दू की पकड़ के बाहर रह गया और वह कार्य ब्रजभाषा के रीतिकालीन कवि करते रहें। साही की दृष्टि में उर्दू के तद्युगीन लेखकों में पहले के रजनाकारों की सजीव और उद्दीपन परम्पराओं से सम्बंध विच्छेद कर लिया।

स्पष्ट ही उर्दू भाषा और साहित्य के बारे में साही की उपर्युक्त टिप्पणि उनकी सामन्तवाद–विरोधी चेतना और समाजवादी दृष्टि का परिचायक है। वे इस मुद्दे को ऐतिहासिक धारावाहिकता में रखकर विचारते हैं और अपनी समाजवादी दृष्टि के तहत नीर–क्षीर विवेक करते हैं। इस क्रम में उन्हें सबसे बड़ा खतरा साम्प्रदायिक मानसिकता के चलते उत्पन्न हुआ जान पड़ता है। स्मरणीय है कि हिन्दू–मुस्लिम सम्प्रदाय के तथाकथित प्रवक्ताओं की साम्प्रदायिक मानसिकता को हवा देने में अंग्रेजी राज की भूमिका से साही पूरी तरह अवगत थे। तभी उन्होंने लिखाः " यह याद रखना चाहिए कि हिन्दी उतनी ही ब्रजभाषा के विरूद्ध प्रतिकिया की भाषा थी, जितनी कि उर्दू थी। सामाजिक रूप में वह उठते मध्यमवर्ग, निम्न मध्यम वर्ग और किसानों की भाषा थी, जिन्हें उर्दू ने नकारा और जिन्हें ब्रजभाषा ने भुला दिया था। पतनोन्मुख सामन्तशाही को एक नया प्रोत्साहन दिया ब्रिटिश राज्य ने और हमें उर्दू और ब्रजभाषा दोनों में लम्बी साहित्यिक पदछाइयाँ मिलती हैं। ब्रिटिश राज्य के डूबते हुए सूरज की पूनर्जागरण के एक हिस्से ने प्रतिगामी पुनः प्रवर्तनवादियों के हाथ में साम्प्रदायिक रूप ग्रहण कर लिया और यही भाषाओं और साहित्यों की साम्प्रदायिकता के साथ दुर्भाग्यपूर्ण एकात्मता स्थापित हुई। फिर भी वह प्रवाह का एक अंश मात्र था। "[16]

डॉ. राममनोहर लोहिया ने अपनी पुस्तक 'मार्क्स, गान्धी अण्ड सोशलिजम' की प्रस्तावना में सत्य को जानने के लिए परिप्रेक्ष्य की संगत निर्धारण पर बल देते हुए लिखा है कि " All truth is discovered from the aspect or the angle which the seeker or knower adapts. Error may lie in not looking up the angle properly "[17] स्पष्ट ही डॉ. लोहिया ने किसी मुद्दे की सार्थकता, निरर्थकता को तत्सम्बन्धी परिप्रेक्ष्य की जांच परख से ही जोड़कर देखना उचित समझा है। इस दृष्टि से विचार करने पर साही के हिन्दी–उर्दू विवाद–विषयक मन्तव्य और उसके समाधान हेतु सुझाये गये उपायों में कुछ असंगतियाँ दिखाई पड़ती हैं। प्रविधि की दृष्टि से यदि विचार करने पर स्पष्ट होता है कि साही कई बार परिप्रेक्ष्य को सत्य के संधान की पद्धति के बजाय निष्कर्ष मान लेते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो " इस्तेमाल जहां होता है, परिप्रेक्ष्य का होता है। लेकिन साही उसे सत्य का इस्तेमाल होना समझ बैठते हैं।"[18] उदाहरण के लिए जब वे हिन्दी उर्दू विवाद की साम्प्रदायिकता के समस्या से जोड़कर देखते हैं तो वे वस्तुतः एक महान साहस का परिचय दे रहे होते हैं। कारण यह कि इस मुद्दे की संवेदनशीलता के चलते और तो और प्रगतिशील और वामपन्थी कहे जाने वाले बुद्धिजीवी भी कन्नी काट लिया करते हैं। या कई बार कुछ गोल–मोल बातें कहकर मुद्दे पर बहस को स्थगित करने की कोशिश करते देखे जाते हैं। किन्तु साही जब लिखते हैं कि " उर्दू को वैसे ही सूख जाने देना चाहिए जैसे ब्रजभाषा "[19] – तब वे सरलीकरण का शिकार हो गये से प्रतीत होते हैं।

जाहिर है कि यह ठीक ही कहा गया है कि साहित्य विवेक मूलतः जीवन विवेक ही होता है। इसलिए किसी लेखक की साहित्यिक रचनाओं या विमर्श में कहीं न कहीं अपने समय, समाज, जीवन–जगत आदि के बारे में

उसका दृष्टिकोण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रतिध्वनित होता है। तमाम दूसरे साहित्यकारों की तरह यह बात विजयदेव नारायण साही के लेखन के संदर्भ में भी लागू होती है। सच तो यह है कि चूंकि साही केवल साहित्य के ही समीक्षक नहीं थे, और जाने–अनजाने 'सभ्यता–समीक्षा' को आदर्श मानते थे, इसलिए उनके सांस्कृतिक दृष्टिकोण में किसी न किसी रूप में सामाजिक व राजनीतिक दृष्टिकोण भी अनुस्यूत है। उदाहरण के लिए अपने एक व्याख्यान में वे जब भारतीय काव्य परम्परा में दलितों के योगदान पर प्रकाश डालते हैं, तो उनका समाज–दार्शनिक रूप उभरकर सामने आता है। मध्ययुगीन हिन्दी वीरगाथात्मक काव्य की एक महत्वपूर्ण कृति है 'परमाल रासो' जो अपने मूल रूप में अब उपलब्ध नहीं है। उसी रासो ग्रन्थ का एक अंश 'आल्ह खण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है और उत्तरप्रदेश के बैंसवाड़ा, पूर्वांचल तथा मध्यप्रदेश के बुन्देलखण्ड में निंरतर पीढ़ी–दर–पीढ़ी गाया जाता रहा है। लोक कण्ठ में बसे इस लोकप्रिय युद्ध–काव्य (ballad) को सन् 1865 में फर्रूखाबाद के तत्कालीन जिलाधीश चार्ल्स इलियट ने अनेक भाटों की सहायता से लिपिबद्ध कराया था। इस काव्य में महोबा नरेश परमाल तथा उनके सामन्त आल्हा–ऊदल के वैयक्तिक शौर्य का वर्णन है और इसमें लगभग 52 छोटी–बड़ी लड़ाइयों का जिक्र है।[20]

विजयदेवनारायण साही ने इस युद्ध–काव्य पर विचार करते हुए भारतीय समाज में सदियों से प्रचलित वर्ण–व्यवस्था के चलते जो असंगतियाँ पैदा होती रही हैं, उन पर दृष्टिपात किया है। साही कहते हैं " आल्हा ऊदल के सारे संघर्ष मुठभेड़ों और लड़ाइयों के केन्द्र में जो खास मुद्दा था, वह था आल्हा–ऊदल को क्षत्रिय के रुप में सामाजिक–स्वीकृति से वंचित रखा जाना। उन्हें योद्धापन के गौरव के अयोग्य माना गया और अपने योद्धापन को स्थापित करने के लिए उन्हें अपने शौर्य का प्रदर्शन करना पड़ा।

आल्हा ऊदल की जो कथा है और उसीसे सम्बद्ध लोकगाथाओं को जिस पूरी श्रृंखला का उद्भव जगनिक नाम के कवि से माना जाता है, वह सारी की सारी श्रृंखला आल्हा–ऊदल के शौर्य और उनके युद्धों की ही प्रशस्ति में है। मैं इसका जिक्र इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि जहाँ भक्ति–आन्दोलन घोषित करता है कि ईश्वर या ईश्वरत्व में निष्ठा जाति के दायरों से ऊपर उठने का एक तरीका है, एक और अप्रकट अघोषित 'थीम' मध्ययुग में यह भी थी कि शौर्य भी जाति के दायरे से ऊपर उठाता है। शूर–वीरता और रण–कुशलता भी जाति के दायरे से ऊपर उठाता है। उदाहरण के लिए एक पंक्ति है, बहुत से ऐसे अवसर आये जब आल्हा–ऊदल को अपमानित किया गया – यह याद दिलाकर कि वे छोटी जाति के हैं :

जाति बनाफर को ओछी है
कोउ न पियें हाथ कौ नीर !

उस लोककाव्य की यह एक पंक्ति कहती है कि बनाफरों की जाति ओछी है और कोई उनके हाथ का पानी नहीं पीता। आल्हा–ऊदल जिस जाति के थे, माना जाता है कि वह बनाफ़र जाति थी। "[21]

प्रो.एम.एन. श्रीनिवास ने भारतीय समाज के संदर्भ में वर्ण, जाति और वर्ग के मुद्दे पर विचार करते हुए मुख्य रूप से जो दो सिद्धांत प्रतिपादित किये वे हैं– संस्क्रिटाइजेशन या संस्कृतीकरण और सहभागितामूलक पर्यवेक्षण (Participatory observation) स्मरणीय है– कि वर्ण–व्यवस्था और जाति–व्यवस्था में बंधे भारतीय समाज के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं जिनमें समाज में पिछड़ी कही जाने वाली जातियों के लोगों ने खुद को सवर्णों का वंशज घोषित करते हुए अपनी कथित खोई हुई

प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने की कोशिश की। इस संदर्भ में डॉ. बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर की पुस्तक 'हू वेयर द शूद्राज' का उल्लेख जरूरी है जिसमें उन्होंने एक जमाने में शूद्रों को क्षत्रिय सिद्ध करने की कोशिश की थी। वस्तुतः उस समय डॉ. अम्बेडकर भी जाने–अनजाने संस्कृतीकरण की प्रकिया के प्रभाव में थे। पर जल्दी ही इस भाव से वे मुक्त हुए। प्रसंगात् डॉ. राममनोहर लोहिया ने भी हिन्दू समाज में निम्न वर्ण के लोगों के भीतर निहित इस प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए लिखा है : '' इस प्रवृत्ति से शूद्र स्वयं द्विज बन जाने की कोशिश करता है और द्विजों के गुणों के बजाय उनके अवगुण अपनाता है। जब कोई अहीर पैसे वाला हो जाता है तो अपनी बीवी को ठकुराइन की तरह परदे में बंद करता है और इस तरह ठाकुर की बराबरी हासिल करने की कोशिश करता है। जरूरत इस बात की है कि शूद्रों में से ऐसे नेता निकलें जो न तो जलन वाले हों और न सिर झुकाने वाले, बल्कि जो नयी मानवता हासिल करें और जिनके पीछे न सिर्फ शूद्र, बल्कि द्विज भी चलने में गौरव अनुभव करें। ''[22]

इस दृष्टि से साही द्वारा किये गये 'आल्ह–खण्ड' के विश्लेषण पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि मध्यकाल में आल्हा, ऊदल जैसे शूरवीरों की भी आकांक्षा यही थी कि उन्हें उनके गुण की वजह से जाति व्यवस्था में क्षत्रिय पथ का अधिकारी माना जाए। साही ने विस्तार से यह बताया है कि आल्हा और ऊदल के भीतर क्षत्रियों के विरूद्ध प्रतिशोध का भाव क्यों पैदा हुआ था। उनके शब्दों में '' आल्हा–ऊदल के पितामह और पिता जिनको अपमानित किया गया था क्षत्रियों के द्वारा, उनकी जाति के कारण – जब उनकी मृत्यु हो गई तो वे चाहते थे कि उनकी सन्तति इस अपमान का बदला ले और एक स्थान पर जब आल्हा–ऊदल विशेषकर आल्हा, जो बड़ा था और जिसे युधिष्ठिर का अवतार तथा ऊदल को अर्जुन का अवतार माना गया है उस लोककाव्य में तो एक समय आल्हा को इतना असह्य विरोध मिला और शौर्य

के बावजूद कोई उसको मान्यता देने को तैयार नहीं था, कोई अपनी बेटी उसके परिवार में देने को तैयार नहीं था। उसे हमेशा जब भी वह बुन्देलखंड के राजाओं–रजवाड़ों के यहाँ या कन्नौज में – जहाँ भी वह गया उसे अपमान ही मिला। तो एक समय वह इस सबसे इतना ऊब गया कि उसने वैराग्य लेने की सोची और युद्ध छोड़कर वन में चला गया। इन कथाओं की श्रृंखला में एक स्थान पर आल्हा–उदल वन की तरफ जा रहे हैं तो कथावाचक बताता है कि जसराज और बछराज जो आल्हा–ऊदल के पिता और पितामह थे – उन दोनों के कपाल (खोपड़े) पीपल के एक पेड़ से लटके हुए थे और जब आल्हा उस पेड़ के नीचे से गुजरता है तो वे कपाल उन्हें उलाहना देने लगते हैं। वे कहते हैं :–

'' हम तो जानी अपनी मन में, लरिका जब हुई हैं हुसियार
गया हमारी ता दिन कटि हैं जा दिन लै हैं बदलो आप
आस टूट गई अब तौ हमारी लरिका जोगी भये हमार
घर–घर टुकड़ा मॉगन डोलैं छत्री बंस लजायो आप

तो उन्होंने स्पष्टतया कहा कि तुम्हें जोगी या फकीर नहीं बना चाहिए, तुम्हें बदला लेना चाहिए। यह बदला–इस बदले की सारी कहानी उनके इस दावे की कहानी है कि वे क्षत्रियों के बराबर हैं और उन्हें इस बराबरी का दर्जा उस समय के स्थापित क्षत्रिय परिवारों द्वारा नहीं दिया जा रहा था। अतः उन्होंने अनगिनत लड़ाइयॉ–विवाह के लिए, शौर्य–प्रदर्शन के लिए, प्रतिरोध के लिए लड़ी।'' [23]

डॉ. राममनोहर लोहिया ने अपने निबन्ध 'हिन्दू बनाम हिन्दू में लिखा है कि '' कट्टरपंथी और उदारवादी वर्ण व्यवस्था के अन्दर ही एक दूसरे से जुड़े रहते हैं और हिन्दू इतिहास के दो कालों में एक दूसरी धारा के

प्रभाव का ही अन्तर होता है। इस समय उदारवादी का जोर है और कट्टर पंथियों में इतनी हिम्मत नहीं कि वे मुखर हो सकें। लेकिन कट्टरता उदारवादी विचारकों में घुस कर अपने को बचाने की कोशिश कर रही है। अगर जन्मना वर्णों की बात करने का समय नहीं तो कर्मणा जातियों की बात की जाती है। अगर लोग वर्ण व्यवस्था का समर्थन नहीं करते तो उसके खिलाफ काम भी शायद ही कभी करते हैं और एक वातावरण बन गया है जिसमें हिन्दुओं की तर्क बुद्धि और उनकी दिमागी आदतों में टकराव है। ''[24]

डॉ. लोहिया द्वारा ऊपर कथित 'टकराव' के मद्देनजर 'आल्हाखण्ड' पर विचार करने से जाहिर होता है कि बुनियादी तौर पर आल्हा–ऊदल और उनके प्रतिद्वन्दियों के बीच का संघर्ष 'क्षत्रिय बनाम क्षत्रिय' का संघर्ष था। डॉ. लोहिया ने माना है कि भारतीय समाज की मुख्य समस्या वर्ण, स्त्री सम्पत्ति और सहिष्णुता के चार मूल प्रश्नों की है। इन्हें वे चार बड़े और ठोस सवाल कहते हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि इन्हीं चार बड़े सवालों के बारे में हिन्दू–धर्म बराबर उदारवाद और कटुता का रूख बारी–बारी से लेता रहा है। लेकिन यह धर्म इन सवालों को कभी पूरी तरह से हल नहीं कर पाया है। उन्होंने इस क्षेत्र में बहुत विचार किया है और इन चार बड़े सवालों का दर्शन से भी सम्बन्ध जोड़ना चाहा है।[25]

गैरतलब है कि विजयदेवनारायण साही बुनियादी तौर पर साहित्य और संस्कृति के आलोचक हैं। आलोचना उनके लिए साहित्य समाज और संस्कृति की प्रक्रिया में वैचारिक हस्तक्षेप का एक साधन रहा है। यह ठीक ही कहा गया है कि '' कविता यदि सांस्कृतिक प्रक्रिया है तो आलोचना सांस्कृतिक रणनीति है। ''[26] साही अपनी सांस्कृतिक रणनीति के तहत जब अतीत की सृजनात्मकता का पुनरुद्घाटन करते हैं, तो उनका मुख्य लक्ष्य अपने समय की असंगतियों को उजागर करते हुए एक तरह से सर्व–सत्तावाद

से टकराना होता है। एक और मध्ययुगीन लोककथा 'लोरिकायन' की अंतः प्रकृति पर विचार करते हुए वे लिखते हैं कि यह मध्यकालीन लोककथा है जो साहस और शौर्य पर आधारित है, जहाँ फिर शौर्य का द्वंद्व है – लोरिक के शौर्य का। लोरिक को अहीर माना गया था और इसी से उसे युद्ध करने का शौर्य और पराक्रम का प्रदर्शन करने के लिए उचित पात्र नहीं माना गया। ध्यान देने की बात है कि इसी 'लोरिकायन' नामक लोक–गाथा के एक अंश के आधर पर मौलाना दाउद ने 'चन्दायन' की रचना की है, जिसमें लोरिक के शौर्य के बजाय लोरिक और चन्दा के प्रेम प्रसंग को सूफियाना अन्दाज में प्रस्तुत किया गया है। जायसी पर लिखते हुए साही ने 'पद्मावत' के सूफी काव्य होने व न होने को ज्यादा महत्व नहीं दिया है। ठीक उसी प्रकार उन्होंने 'लोरिकायन' पर तो विचार किया है, लेकिन यहाँ चन्दायन का कोई जिक्र नहीं किया है। उनका मानना है कि दलित वर्ग का लोक साहित्य हिन्दी भाषी प्रदेश में केवल भक्ति तक ही सीमित नहीं है बल्कि प्रेम और विरह, पारिवारिक जीवन, गरीबी आदि विषयों को भी शामिल करता है। भोजपुरी भाषा में रचित भिखारी ठाकुर के एक मशहूर लोक नाटक 'बिदेशिया' का हवाला देते हुए वे लिखते हैं कि "पूरा नाटक, जो बहुत मार्मिक है, गीतों के रूप में है, जो जिन्दगी और प्यार से सम्बन्धित है और जो भक्ति आन्दोलन की सामान्य थीम में किंचित् अभिवृद्धि करता है।"[27] उनका मानना है कि 'बिरहा' की तरह की विधा जो एक प्रकार से गीत और संगीत की विधा है, अहीरों द्वारा सर्जित है, और अहीरों की विशेष विधा मानी जाती है, जैसे कि 'पचरासव' चमारों की। ऐसी कुछ विशेष विधाएँ हैं – लोक गीतों के मूल ढाँचें – जो किसी जाति विशेष से सम्बद्ध है। अपनी आंतरिक काव्य परम्परा में और अपने संगीत में, अपने नृत्य में वे अपनी अलग पहचान रखते हैं, जो धीरे–धीरे धुंधली पड़ती जा रही है, खोती जा रही है– बहुत तरह के दबावों के असर से यह लोक परम्परा हमारे लिए इतनी अस्थिर है कि जैसे ही उसे पकड़ने या सहेजने की कोशिश करते हैं वह अपनी पहचान खोने लगती हैं, बदलने लगती है, हाथ

से फिसलने लगती है, क्योंकि उसका अस्तित्व सिर्फ जबान पर है – मौखिक है। साही कहते हैं कि " हम अपने मध्ययुग की समस्याओं को तब तक नहीं समझ पायेंगे, जब तक कि उस युग की कवता का संपूर्णता के साथ अध्ययन नहीं करते – खास तौर पर वह हिस्सा जो वीरता, शौर्य संघर्ष, युद्ध और सत्ता में हिस्सा पाने से सम्बन्ध रखता है। वे सवाल उठाते हैं कि जाति–प्रथागत गैर बराबरी चेतना का इतनी दृढ़ता से परम्परा में होने के बावजूद क्या कारण है कि असहमति, विरोध – या इसे जो भी नाम दिया जाए – किन्हीं निश्चित परिणामों की दिशा में हमें नहीं ले जा सका चाहे वह भक्ति आन्दोलन में हो, या अन्य आन्दोलनों में। 18वीं–19वीं शताब्दी तक जातिप्रथा हिन्दुस्तान में और भी सख्त हो गई थी। अन्य किसी भी काल की अपेक्षा छः शताब्दियों के काल विस्तार में वह और मजबूत थी। सन्त कवियों और भक्त कवियों के अभियान के बावजूद ऐसा क्यों है कि 18वीं शताब्दी तक आते आते शायद हमारे देश के पूरे इतिहास में जाति प्रथा की सख्ती सबसे अधिक थी? ऐसा क्योंकर हुआ? इस चेतना की क्या सीमाएँ थीं? हमारी असली समस्या यह होनी चाहिएँ, न कि यह कि चयनात्मक तरीके से केवल यह संकेत कर दिये जाए कि किसने क्या कहा ? "[28]

डॉ. राममनोहर लोहिया ने 'जातिवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि' पर विचार करते हुए लिखा है कि " आज तक जितने सुधारवादी आन्दोलन हुए, सब के सब सनातन हिन्दू व्यवस्था द्वारा उदरस्थ कर लिये गये और जातिवाद का भयानक दलदल अभी बना हुआ है। यह दलदल इतना गहरा है कि बड़े से बड़ा पत्थर इसके गर्भ में कहाँ चला जाता है, कुछ भी पता नहीं चलता। जब तक यह दलदल सुखा नहीं दिया जाता, भारत में जातिवाद का नाश नहीं हो सकता।........ द्विजों को छोड़ कर सारी जातियाँ व्यक्तित्वहीन बना डाली गयी हैं और यही वह दलदल है जो सारी भारतीय समाज व्यवस्था में व्याप्त है। सारा सुधारवादी आन्दोलन द्विजों की ही विभिन्न जातियों में

होता रहा है, और वह भी बुनियादी बातों पर नहीं। सारा का सारा आन्दोलन द्विजों के विभिन्न गिरोहों के सिवाय किसी भी शूद्र समुदाय निर्जीव, व्यक्तित्वहीन बना रहा। ''[29] विजयदेवनारायण साही के भक्तिकाव्य विषयक विश्लेषण और निष्कर्ष में हमें किसी न किसी रूप में उपर्युक्त सामाजिक–राजनीतिक दृष्टिकोण की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। सामान्यतः भक्ति आन्दोलन को भारतीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में एक क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप में पहचाना गया है। किन्तु साही भक्तिकाव्य की अन्तः प्रकृति और भक्ति आन्दोलन की सामाजिक फलश्रुति की शिनाख्त करते हुए कहते हैं कि '' मेरी पहली धारणा भक्ति–आन्दोलन को लेकर यह है कि हालाँकि वह जाति प्रथागत गैरबराबरी के विरूद्ध एक तरह की असहमति या विरोध के साथ पैदा हुआ परन्तु उसने जल्दी ही जातिप्रथा से एक तरह का समझौता कर लिया। ''[30] साही सवाल उठाते हैं कि सन्त कवियों द्वारा कई चीजों के विरूद्ध विद्रोह के बावजूद आखिर वह विद्रोह व्यवहार के स्तर पर किसी तार्किक परिणति पर क्यों नहीं पहुँच सका? इस विद्रोह ने समय के साथ अधिक विशाल विप्लव को जन्म नहीं दिया और जाति–संस्था में कोई झिंझोड़ नहीं पैदा किया क्योंकि उस जमाने के विचार का परिणाम नये सम्प्रदायों का बनना ही था। इतिहास के अनुभव से यह सिद्ध है कि सम्प्रदाय समझौते की एक विशेष अवस्था में क्रियाशील होता है, वह तनाव की अवस्था में क्रियाशील नहीं हो पाता – वह क्रान्ति नहीं होता, वह सिर्फ अलगाव होता है। जाहिर है कि सन्त कवियों ने हिन्दू कर्मकाण्ड के विरूद्ध विद्रोह किया था। किन्तु उनकी मृत्यु के बाद जैसे ही उनके नाम पर

सम्प्रदाय बना, वैसे ही कर्मकाण्ड तथा तीर्थ–व्रत–ब्राह्मण–मूर्तिपूजा के विरूद्ध उनका विद्रोह शमित हो गया और एक तरह से उस सम्प्रदाय के भीतर एक नया कर्मकाण्ड स्थापित हो गया। यानि एक कर्मकाण्ड की जगह

दूसरा कर्मकाण्ड। साही लिखते हैं कि " इसीलिए इन सबों ने कबीरदास और बाकी सन्तों ने इतना लिखा, लेकिन उसक नतीजा कुछ नहीं। "[31]

मध्यकाल के साहित्य पर विचार करते हुए साही ने उसमें निहित जिस 'धार्मिक सारवाद' (Religious essentialism) की चर्चा की है, वह एक मायने में उनकी प्रखर सांस्कृतिक दृष्टि का परिचायक है। प्रसंगात् डॉ. लोहिया के एक कथन की याद स्वाभाविक है, जिसमें वे हिन्दू धर्म के एक अंग के सार को रेखांकित करने के क्रम में नानक को उद्धृत करते हैं –

" नानक नन्हे ह्वै रहो, जैसी नन्ही दूब "

इसका भाष्य करते हुए लोहिया कहते हैं " आँधी और हवा आएगी तो पेड़ गिर जाएँगे, बड़े–बड़े पहाड़ खतम हो जाएँगे लेकिन सतही दूब तो बच जाएगी क्योंकि वह झुक जाएगी "[32] धार्मिक सारवाद का विशदन करते हुए साही कहते हैं कि " धर्म का एक सार है और वह सार उसके कर्मकाण्ड से या बाह्य आचरण से अधिक महत्वपूर्ण है।....... यह धार्मिक सारवाद (मध्यकाल में) दो समस्याओं का समाधान एक साथ करने की कोशिश कर रहा था – जिनमें एक समस्या थी, इस्लाम और हिन्दू – इन दोनों धर्मों के बीच टकराव की। "[33] कबीर दास के संदर्भ में उन्हें यह तय करना मुश्किल प्रतीत होता है कि " जहां वे ब्राह्मणों पर प्रहार करते हैं, वहाँ वे जातिवाद पर प्रहार कर रहे हैं या हिन्दू–मुस्लिम – दोनों के कट्टर धार्मिक ढॉचों पर प्रहार कर रहे हैं। क्योंकि वे शत–प्रतिशत एक कूटनीतिज्ञ की तरह बराबर की दूरी दोनों से बनाये रखते हैं। जब वे ब्राह्मण की ओर संकेत करते हैं तो मुल्ला की ओर भी करते हैं, मन्दिर की बात कहते हैं तो तुरंत ही मस्जिद के बारे में कह देते हैं ताकि कोई यह आक्षेप उन पर न लगा सके कि वे इस धर्म या

उस धर्म में से किसी विशेष के विरोधी थे। वे बहुत ही सावधानी से यह बराबर की दूरी बनाये रखते हैं। ''[34] साही का मानना है कि कबीरदास के मस्क्ष्कि में बुनियादी समस्या जातिप्रथा की नहीं थी, बल्कि दो प्रमुख धर्मों की कट्टरता थी। क्योंकि कट्टरतावादी परस्पर झलकते रहें और समाज में अव्यवस्था पैदा करते रहें। अतः उनकी विशेष चिन्ता एक तरह के स्तर को खोजने की थी जहाँ हिन्दू मुसलमान दोनों को आदमी बनाया जा सके।

विजयदेवनारायण साही का राजनीतिक दृष्टिकोण डॉ. राममनोहर लोहिया के लोकतांत्रिक समाजवादी दृष्टिकोण से मेल खाता है। डॉ. लोहिया का हवाला देते हुए उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि समाजवाद अधिक–से–अधिक और कम–से–कम आमदनी के बीच की खाई की एक पूर्व निश्चित क्रम के अनुसार लगातार कम करके, किसी समय या किसी काल में अधिक बराबरी हासिल करने का विचार दर्शन है। डॉ. लोहिया के शब्दों में '' समाजवाद, मनुष्य जाति की, मनुष्य जाति के लिए मनुष्य जाति द्वारा सरकार का विचार दर्शन है। '' कहना न होगा कि डॉ. लोहिया से असहमत होते हुए गॉधीजी ने कहा था कि '' मैं अपने को समाजवादी कहता हूँ, लेकिन मैं उसी समाजवाद का उपदेश नहीं करूँगा जिसका अधिकतर समाजवादी करते हैं......... पूंजीवालों से उनकी पूंजी हिंसा के जरिए छीनी जाए इसके बजाय यदि चरखा और उसके सारे फलितार्थ स्वीकार कर लिए जाए तो वही काम हो सकता है। यह समाजवाद स्फटिक की तरह शुद्ध है इसलिए उसे सिद्ध करने के साधन भी शुद्ध ही होने चाहिए। अशुद्ध साधनों से प्राप्त होने वाला साख्य भी अशुद्ध ही होता है। ''[35]

विजयदेवनारायण साही की दृष्टि में " डॉ. लोहिया पहले विचारक हैं जिन्होंने बताया कि यदि अधिकतम उपादेयता की जगह पूर्ण सार्वत्रिक उपादेयता को लक्ष्य नहीं माना जाय, सबल राष्ट निर्बल राष्ट्रों का शोषण और दोहन करते रहे, यदि अगलों के द्वारा पिछड़ों का अपमान किया जाता रहा, गाँवों को शहरों के द्वारा, और श्रम को पूंजी के द्वारा लूटा जाता रहा तो इतिहास की चक्की चलती रहेगी और सभ्यता और समृद्धि की हर इमारत अपने ही बोझ से टूट कर गिरती रहेगी। अपनी इस आंतरिक असंगति से केवल अमरीकी पूंजीवाद का ही नहीं, रूसी और चीनी साम्यवाद का भी सर्वनाश अवश्यम्भावी है। पुरूष पुरातन की प्रिया आज तक एक घर से दूसरे घर, एक देश से दूसरे देश, एक सभ्यता से दूसरी सभ्यता तक भटकती रही है। काबुल से अमरीका, ग्रीक से रूस, भारत से अरब जाकर वह कुछ नई रोशनी नहीं लाती पुराने दिए की बुझी लौ को केवल नये दिए में लगा देती है। इतिहास इस चक्रभ्रमण के भ्रम के अन्त के लिए उन्होंने लोकतांत्रिक समाजवाद के सगुण, सकिय रूप की स्थापना की। वस्तुतः डॉ. लोहिया की इन स्थापनाओं ने लोकतांत्रिक समाजवाद को अन्तर्राष्ट्रीय जागरण और संयोजन के उपयुक्त संघर्षों के लिए कारगर विचार–दर्शन बनाया। "[36] वस्तुतः साही राममनोहर लोहिया के लोकतांत्रिक समाजवाद को साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित देखना चाहते थेः " साहित्य जो स्वयं मानवता के अनेक महत्वपूर्ण पर्यायों में अन्यतम है, अपने स्वभाव और स्वधर्म की प्रेरणा लोकतांत्रिक समाजवाद को प्रतिष्ठित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका चरितार्थ करें। "[37] अपने विश्लेषण के दरम्यान उन्होंने विस्तार से बताया है कि " साहित्य स्वभावतः लोकतांत्रिक समाजवाद का समानधर्मा है क्योंकि यह परम्मेपदीन रस सदानीरा होने के कारण सहृदयता, प्रेम, अहिंसा और समता के सर्वजनीन अंतर्राष्ट्रीय स्वदेश को नर–जाति के भावक्षेत्र में प्रतिष्ठित करता आया है और उसका माध्यम भाषा स्वभावतः सूक्ष्म, सामाजिक और विकेन्द्रणोन्मुख है। महज इस तथ्य से लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रति साहित्य की भूमिका चरितार्थ नहीं हो

जाती। स्वभाव अन्ततः एक विशिष्ट प्रकार की संभावना भर होता है और संभावना की चरितार्थता के लिए साधना की अपेक्षा होती है तथा साधना के लिए साधक की। ''[38]

उपर्युक्त उद्धरण से गुजरते हुए यह बात स्पष्ट है कि साही की दृष्टि में लोकतांत्रिक समाजवादी दृष्टि को स्वायत्त करने के लिए रचनाकार द्वारा प्रयास अपेक्षित है। तात्पर्य यह कि, यह प्रकिया खुद–ब–खुद सम्पन्न नहीं हो जाती। साही चिंता व्यक्त करते हैं कि साधना के अभाव में अथवा अन्यथा भाव में साहित्य के प्रकृत धर्मों का साहित्य के ही द्वारा वैसा अपलाप संभव है, जैसा जर्मनी के राष्टीय समाजवादियों द्वारा समाजवाद का अपलाप किया जा चुका है। स्पष्ट ही यहाँ यह बताया जा रहा है कि साहित्यकार को दृष्टिकोण अर्जित करना पड़ता है। इसके बगैर केवल भावावेग में जो कुछ लिखा जाता है, उसमें कई बार वर्णन–चित्रण के अराजक हो जाने की पूरी संभावना होती है। साही जब बार–बार 'साधना' और 'साधक' जैसे शब्दों का उल्लेख करते हैं तो प्रकारान्तर से वे यह बताना चाहते हैं कि विचारधारा साहित्य–सृजन की रीढ़ की हड्डी (का मेरूदण्ड) है और लेखक को अपने दृष्टिकोण के विकास हेतु लगातार सतर्क रहकर प्रयत्न करना होता है। समाजवादियों के सम्बन्ध में गाँधीजी के एक कथन

को वे साहित्यकार के प्रसंग में बहुत अधिक प्रासंगिक मानते हैं। गाँधीजी ने लिखा था '' समाजवाद पहले समाजवादी से शुरू होता है। अगर ऐसा एक भी समाजवादी हो तो आप उस पर शून्य बढ़ा सकते हैं। पहले शून्य से उसकी ताकत दसगुनी हो जायगी। उसके बाद हर एक शून्य का अर्थ पिछली संख्या से दस गुना होगा। परन्तु यदि आरंभ करने वाला स्वयं ही

शून्य हो तो कितने शून्यों के बन जाने पर भी परिणाम शून्य ही होगा। शून्यों के लिखने में जितना समय और कागज खर्च होगा, वह भी व्यर्थ जायगा। ''[39]

किन्तु इसके साथ ही साही को इस बात का मर्मान्तक बोध है कि ''कोई भी व्यवस्था अपने शिकंजे की मजबूरी में साहित्यकार को बॉधकर जब उससे साहित्य उगाहने लगती है तो सच्चे साहित्यकार को दारूण पीड़ा होती है और उसका स्वधर्म टूटने लगता है। समाजवाद भी इसका अपवाद नहीं है। मायाकोवस्की रूस के समाजवादी तानाशाह के दरबार–ए–आम में घोषणापूर्वक कवियों को ललकार कर कह सकता है – दोस्तों, ऐसी पुरजोर कवितायें लिखो जो लाल सेना के हर कदम पर लाल दे सके ताकि पार्टी के अगले सालाने जलसे में जब कामरेड स्तालिन इस्पात की राष्टीय पैदावार की रपट पेश करने लगें तो वे कविता के उत्पादन का हिसाब देना न भूलें, लेकिन, ऐसा कह चुकने के बाद भी वह साहित्यकार के उस स्वधर्म से पल्ला नहीं झाड़ पाता है जिसकी खातिर उसका दर्द उसे आत्महत्या करने को विवश कर देता है और यंत्रणा–कैम्प से बचने के लिए वह जो कुछ रचता है उसके प्रायश्चित में उसे अन्ततः खुदकुशी करनी ही होती है। ''[40] तात्पर्य यह कि साहित्य को राजनीतिक सिद्धांतों से और विचारों के दायरे में कठोरतापूर्वक कैद करने की कोशिश बेमानी है। साहित्य–सृजन में विचारधारा या दृष्टिकोण की एक महती भूमिका अवश्य होती है, पर प्रायः सर्जक साहित्यकार और सर्जनात्मक आलोचना के पुरोधा उसे वैचारिक जड़ सूत्रतावाद की गिरफ्त से बचाये रखने के लिए सचेष्ट दिखाई देते हैं। एक अन्य स्थान पर साही समाजवाद के नाम पर चाटुकारिता का साहित्य रचनेवाले (?) लफ्फाजों की खबर लेते हुए लिखते हैं कि '' साधक पेशगी या फर्मान लेकर साधना नहीं करता। यह दूसरी बात है कि हंसिए–हथौड़े या हल–चक्के पर कविता लिखी जा सकती है, तिल को ताड़ और ताड़ को तिल साबित करने के लिए अक्षरों के तार जोड़े

जा सकते हैं, समाजवाद का नाम लेकर ऐयाशी करने वाले हवाई मिनिस्टरों के त्याग और तपस्या के झूठे लतीफे गढ़े जा सकते हैं और ऐसा कर मतलब साधनेवाले पर्चेबाज छेले समितियों में नामजदगी और नौकरी में तरक्की पा सकते हैं। पर इस बेहयाई का समाजवाद और साहित्य से कोई जायज सरोकार नहीं रह सकेगा। साहित्य लोकतांत्रिक समाजवाद के लिए वस्तुतः वही कर सकता है जो खुफियों, मसखरों हॉ–हुजूरों, मार्कनन्दनों के काफिले तथा भाषणानन्द वजीरों के दल नहीं कर सकते और ऐसा वह स्वधर्म के कारण कर सकता है, पुरस्कार, फर्मायश, तरक्की, वाहवाही और लाभ के लोभ में नहीं। ''[41] उनकी आकांक्षा है कि लोकतांत्रिक समाजवाद को साहित्य का ऐसा साधक मिले जो पुरस्कार, परवरिश और नामजदगी के लोभ के बजाय '' सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत।। '' का आदर्श लेकर साहित्य–सृजन करें। डॉ. राममनोहर लोहिया के लोकतांत्रिक समाजवादी दृष्टिकोण से सम्पूर्णतः सहमत होने के बावजूद विजयदेवनारायण साही मार्क्स–ऐगल्स के सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से बहुत दूर तक असहमत नहीं दिखाई देते। तथाकथित मार्क्सवादियॉ के कठ्मुल्लेपन के चलते साहित्य की रचनात्मक क्षमता के क्षरित हो जाने के खतरे को लेकर वे बेहद चिन्तित प्रतीत होते हैं। राजनीति और साहित्य के पारस्परिक रिश्ते पर मार्क्सवादी विचारधारा के दृष्टिपथ में रखकर साही ने लिखा है कि '' मार्क्सवादी साहित्य और कला को वर्ग–संघर्ष में केवल प्रचार और शिक्षा का अस्त्र मात्र नहीं मानता, बल्कि वह उसे किसी वर्ग की कलात्मक, सौन्दर्यवान और मानवोचित प्रवृत्तियॉ की सांस्कृतिक और मानसिक प्रगति का चरम प्रतिफल भी मानता है जिसके कारण मुनष्य के इतिहास में किसी वर्ग अथवा वर्गहीन समाज का मूल्य है। जिस तरह आज राजनीति से साहित्य को अलग रखने का नारा लगाने वाले मध्यमवर्गीय कलाकार प्रतिक्रियावादी हैं, उसी तरह राजनीति की तानाशाही में कैद करके समस्त साहित्य को पार्टी का अस्त्र मात्र घोषित करने वाले कला के दुश्मन हैं।

मार्क्स साहित्य को इन दोनों संकुचित दृष्टिकोणों से अलग समझता है। वह साहित्य को केवल पार्टी नहीं, पूरे वर्ग के सांस्कृतिक प्रयास की उत्पत्ति मानता है। पार्टी के महत्व को समझते हुए भी मार्क्सवाद कभी भी पार्टी और वर्ग को एक नहीं मानता। ''[42]

सच तो यह है कि भले ही लोहिया को मार्क्सवाद विरोधी के रूप में प्रचारित किया जाता रहा हो और मार्क्सवाद को पश्चिमी अभियान मानकर लोहियावाद को समाजवाद की भारतीय अवधारणा के रूप स्वीकार किया गया हो, पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय रचनाकारों और बुद्धिजीवियों पर लोहिया के दर्शन का प्रभाव हर दशा में इतना नकारात्मक नहीं है कि उसे मात्र मार्क्सवाद–विरोध के आग्रह के रूप में ही देखा जाए। वस्तुतः मार्क्सवाद पर अपने इस संदेह के बावजूद कि वह पश्चिम के वर्चस्ववादी अभियान का सहयोगी है, खुद डॉ. लोहिया ने मार्क्सवाद की लक्ष्यगत व्यापकता का गहराई के साथ आकलन किया है। 'मार्क्स गॉधी और समाजवाद' नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि "In its conscious aims, Marxism has joined the human race superbly. It has talked of man, not only the European."[43] कहने का तात्पर्य यह कि 'आर्थिक मनुष्य' से लेकर 'सांस्कृतिक मनुष्य' तक की परिकल्पना को अपनी चेतना में अवधारित करने का जो उत्साह लोहिया में मिलता है, उसे किसी भी रूप में मार्क्सवादी सांस्कृतिक दृष्टिकोण का विलोम नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि मार्क्सवाद की अपनी प्रतिज्ञा यही रही है कि वह अपने चिन्तन–फलक को 'आर्थिक मनुष्य' से शुरू करके 'सांस्कृतिक मनुष्य' तक विस्तार देगा।

विजयदेवनारायण साही ने डॉ. लोहिया की अग्रगामिता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि '' लोहिया लेनिन और गॉधी के बाद आये, इसलिए वे

उन लोगों से और आगे की बात कहें और करें, यह स्वभाविक ही था। गाधी और लेनिन, सन्त और कमांडर, धर्म और राजनीति का और भी अनोखा मेल उनके द्वारा निश्चय ही संभव था। "[44] तात्पर्य यह कि जिस प्रकार डॉ लोहिया के चिन्तन में अपवर्जन (exclusion) के बजाये दूसरी विचारधाराओं के संदर्भ में अन्तर्वेशन (inclusion) की प्रवृत्ति निहित है, उसी प्रकार लोकतांत्रिक समाजवाद की पुरजोर हिमायत करने वाले विजयदेव नारायण साही तत्वतः मार्क्सवाद से असहमत प्रतीत नहीं होते। स्पष्ट ही दृष्टिकोण के धरातल पर वे लोकतांत्रिक समाजवाद के हिमायती हैं। बावजूद इसके मार्क्सवादी विचारधारा के सामर्थ्य से भी वे अपरिचित नहीं हैं। वे मानते हैं कि मार्क्सवाद " साहित्य को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठीूमि में परखता है, उसके उन आंतरिक नियमों की घोषणा करता है जिनसे आज तक वह नियमित होता आया है। और इन्हीं ऐतिहासिक नियमों के आधार पर वह नयी संस्कृति के निर्माण का प्रयास करता है। जो मजदूर–किसान को जागृत करे और मनुष्यता के चरम उत्कर्ष का संकेत दे। मार्क्सवादी साहित्यकार किसानों–मजदूरों के संघर्ष का सचेत गायक होता है। यह उसका तात्कालिक राजनीतिक पहलू है। साथ–साथ वह जनता की कलात्मक प्रवृत्तियों का उत्थान कर नयी संस्कृति का पथ प्रशस्त करता है। यह उसका स्थायी मूल्यों पर आधारित मानवोचित पहलू है। "[45]

इसी क्रम में उन्होंने इटली के समाजवादी नेता इग्नेजियो सिलोन का एक वक्तव्य उद्धृत किया है जिसके अनुसार सिद्धांतों के बल पर सम्प्रदाय स्थापित किया जा सकता है, पर संस्कृति का निर्माण मूल्यों के आधार पर होता है। इसलिए जो आलोचक मार्क्सवाद के नाम पर साहित्य के प्रत्येक उतार–चढ़ाव को तात्कालिक राजनीतिक या आर्थिक परिस्थिति से ही सम्बद्ध करते हैं, वे मार्क्सवाद को यांत्रिक बनाकर उसे बिगाड़ते हैं। वे यह भूल जाते

हैं कि साहित्य के विकास के अपने भी नियम हैं जिन पर उसका कलात्मक पहलू बहुत कुछ आधारित होता है। कुल मिलाकर साही की दृष्टि में साहित्यिक – सांस्कृतिक प्रकिया अपने सामाजिक, आर्थिक आधार से सापेक्षतः स्वतंत्र हुआ करती है।

आश्चर्य की बात यह है कि विजयदेवनारायण साही ने अपने दृष्टिकोण के खुलेपन के बावजूद डॉ. राममनोहर लोहिया की विचारधारा या लोहियावादी सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण में निहित अन्तर्विरोधों पर कहीं विचार नहीं किया है। उदाहरण के लिए 'मार्क्सवादी समीक्षा की कम्युनिस्ट परिणति' जैसे निबन्ध की तर्ज पर समाजालोचन की लोहियावादी दृष्टि की समाजवादी परिणति पर भी विचार किया जाना अपेक्षित था। चूंकि डॉ. लोहिया हिन्दुस्तान के पुराने पौरूष के प्रशंसक थे, इसलिए वे लोहियावादियों को पूर्ण आधुनिकता के आग्रही प्रतीत हुए क्योंकि बिना आधुनिक हुए पुराना पौरूष लौटाया नहीं जा सकता। कहना न होगा कि पुराने पौरूष को लौटा लेने पर आधुनिकता को सहमत करने की जिद अगर लोहिया को एक हद तक मार्क्सवाद के विरोध में ले गई और लोहिया के अनुयायियों को प्रगतिविरोधी शक्तियों के निकट, तो इसे अस्वाभाविक नहीं माना जाना चाहिए।[46]

प्रायः यह देखा जाता है कि समाजवादी विचारक व्यक्ति के मुकाबले सामाजिक परिवेश को ज्यादा महत्व दिया करते हैं। या कई बार इसके विरोध में अन्य विचारधारा के अनुयायी समाज का निषेध करके अपने चिन्तन के केन्द्र में व्यक्ति को प्रतिष्ठित करते हैं। व्यक्ति और परिवेश, दोनों में से किसी पर कम और किसी पर ज्यादा बल देने वाली प्रवृत्तियाँ हमारे समय के मनुष्य की जो झलक हमें दिखाती है, वह अकसर एकांगी होती है। बावजूद इसके समसामयिकता के नाम कई बार उसे ही ओढ़कर चलना गौरव की बात मान ली जाती है। लोहिया ने ऐसे सम–सामयिकता बोध से अपना विरोध जताया

था।[47] स्मरणीय है कि विजयदेवनारायण साही जब अपने लेखन में समसामयिकता की शिनाख्त करते हैं, तो उनका मन्तव्य बहुत हद तक डॉ. लोहिया से मेल खाता है। साही लिखते हैं '' जब हम संपूर्ण व्यक्तित्व के साथ अपने समस्त अनुभव संसार के साथ टकराते हैं तो उस समय यह संपूर्णता हमारी समसामयिकता का रूप धारण करती है। '' इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर वे समग्रता की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि '' चेतना जाल अतीत से लेकर के भविष्य तक फैलता जरूर दिखता है, परन्तु है वह उसी क्षण जिस समय मैं चेतन हूँ यदि मैं चेतना खो दूँ तो वह भविष्य भी गया और वह अतीत भी। इस अर्थ में भी चूंकि हमारे लेखन की प्रकृति, कल्पना की प्रकृति, अनुभव को समझने की प्रकृति, साक्षात्कार की प्रथम शर्त इस प्रकार की समग्रता में ही है। इसलिए हमारी शक्ल में अतीत वह अतीत नहीं रह जाता, जो इतिहासकार का अतीत है। हमारी शक्ल में भविष्य वह भविष्य नहीं रह जाता जो केवल राजनीति कर्मी का विषय है और हमारी समझ में वर्तमान भी केवल वह नहीं है जो मैंने अतीत से विरासत में लिया है और आज भी हम भविष्य की ओर न्योछावर कर देंगे। वर्तमान हमारे लिए इस समय जीवित धड़कन का क्षण है।.... मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि केवल मेरी अनुभूति ही मेरे लिए अलभ्य है, मैं जितना भी सबकी अनुभूति को भी समेटने की कोशिश करता हूँ तो अन्ततः उसका निचोड़ आकर के तो मेरी इस समग्रता में ही आता है।''[48] अपनी 'समसामयिकता' की अवधारणा को बिना किसी लाग लपेट के व्यावहारिक धरातल पर स्पष्ट करते हुए साही ने लिखा है कि '' जो आदमी तीन वर्ष से खाना नहीं खाये हुए है, उसके पेट में आधी रोटी डालना यह है समसामयिकता। ''[49]

साहित्यालोचन के क्षेत्र में बहुचर्तित यथार्थ और आदर्श को लेकर साही के दृष्टिकोण में भी हमें डॉ. लोहिया के एतद्‌विषयक दृष्टिकोण की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। कहना न होगा कि डॉ. लोहिया आधुनिक विश्व की

'एक भयानक दिमागी बीमारी' यह मानते हैं कि वह 'आदर्श का यथार्थीकरण' करने के स्थान पर 'यथार्थ का आदर्शीकरण' करना चाहता है। लोहिया का पर्यवेक्षण यह था कि यथार्थवाद के नाम पर कुछ ऐसी विचारदृष्टियों को अकसर आरोपित किया जाता है जो स्थितियों की वस्तुगतता के तर्क से भले ही समर्थित होती हों लेकिन जो हमारी संवेदना द्वारा आत्मसात नहीं की जा पाती। या जिनमें हम अपनी संवेदनाओं को सहजतया परिचालित होते नहीं पाते। डॉ. लोहिया ने इसी को 'यथार्थ का आदर्शीकरण' कहा है। वस्तुपरकता का इतना हल्ला जो आज मच रहा है, वह अपने सरोकारों की वास्तविक सत्ता के बजाय उनकी अवधारणाओं में ही सुख लेते रहने का आदी हमें बनाता है। जबकि असल प्रश्न सरोकारों की अवधारणाओं को सरोकारों की वास्तविक और गतिशील अवस्था में फलीभूत होते देखने का है। इसी को डॉ. लोहिया 'आदर्श के यथार्थीकरण' का प्रश्न कहते हैं। गौरतलब है कि जो वस्तुपरक है, उसे संवेदना का अंग बना पाना तब तक असंभव है, जब तक उसे आत्मपरक न भी बना लिया जाए। लोहिया को 'आदर्श का यथार्थीकरण' अभीष्ट है। जो एक ऐसी प्रक्रिया द्वारा ही संभव है जिसमें वस्तुपरकता और आत्मपरकता, दोनों की संगत भूमिका का स्वीकार निहित हो।[50]

विजयदेवनारायण साही जब वस्तुपरकता और आत्मपरकता को लेकर विचार करते हैं, तो हमें वहाँ डॉ. लोहिया के चिन्तन का समर्थन दिखाई देता है। " हम धर्म, संस्कृति और परम्परा के मुकाबले में विवेक और सम्पूर्ण प्रभुत्व–सम्पन्न सृजनशीलता को खड़ा करते हैं। शुद्ध विवेक की ऐतिहासिक सीमा–बद्धता को आज प्रभावित करने की जरूरत नहीं है। यह ऐतिहासिक सीमाबद्धता परोक्षतः विवेक पर परम्परा का फन्दा ही है। अभी दुनिया एक ऐसे दौर से गुजरी है, जब आदमी विवेक की ऐतिहासिक सीमाओं से घबरा कर विवेकेतर शक्तियों की शरण में मुक्ति स्थिरता की कामना करने लगा था।

इसकी एक परिणति फासिज्म में हुई। हमें यह मानकर चलना होगा, कि विशुद्ध वस्तुपरकता उतनी ही असंभव है जितनी विशुद्ध आत्मपरकता। हम बराबर, उस हाशिये पर बेचैन चक्कर काटते हैं, जहाँ वस्तु और आत्मा की सीमा–रेखायें मिटती दीखती हैं। इस स्थिति को वह कितनी ही पीड़ादायिनी क्यों न हो, हमें स्वीकार करना पड़ेगा। ''[51]

यह सर्वविदित है कि किसी भी विचारक या लेखक की सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि का एक महत्वपूर्ण पहलू वह होता है, जो उसके द्वारा अपने विमर्श के लिए चुनी गई भाषा के विन्यास के माध्यम से सामने आता है। दूसरे शब्दों में कहें तो एक लेखक या विचारक का भाषिक विन्यास कहीं न कहीं उसके रचनात्मक मानस संचरना को अवश्य प्रतिबिम्बित करता है। इसके साथ ही एक दूसरी महत्वपूर्ण बात की ओर विजयदेवनारायण साही ने इंगित करते हुए लिखा है कि '' हिन्दी कला माध्यम के बीच अंग्रेजी का प्रयोग हमें सहसा सरोवर के बाहर खड़ा कर देता है – भाषा की एकतान प्रसरणशीलता को खण्डित करता है; गति के बीच प्रतिगति उत्पन्न करता है। आंतरिक सार्वभौमिकता को वर्गाश्रयीपन में बदल देता है। ''[52] अभिव्यक्ति माध्यम के रूप में भाषा की वर्गाश्रयी भूमिका को डॉ. लोहिया ने भी पहचाना था। 'सामन्ती भाषा बनाम लोक भाषा' शीर्षक से दिये गये अपने व्याख्यान में उन्होंने कहा कि '' अंग्रेजी हिन्दुस्तान को नुक्सान इसलिए नहीं पहुँचा रही है कि वह विदेशी है बल्कि इसलिए कि भारतीय प्रसंग में वह सामन्ती है। आबादी का सिर्फ एक प्रतिशत छोटा सा अल्पमत ही अंग्रेजी में ऐसी योग्यता हासिल कर पाता है कि वह उसे सत्ता या स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करता है। इस छोटे से अल्पमत के हाथ में विशाल जनसमुदाय पर अधिकार और शोषण करने का हथियार अंग्रेजी है।......... सबसे बुरा तो यह है कि अंग्रेजी के कारण भारतीय जनता अपने को हीन समझती है। यह अंग्रेजी नहीं समझती इसलिए सोचती है कि वह किसी भी सार्वजनिक काम के लायक

नहीं है और मैदान छोड़ देती है। जनसाधारण द्वारा इस तरह मैदान छोड़ देने के कारण बन्दूक के जरिये नहीं, बल्कि ज्यादा तो गिटपिट भाषा के जरिये लोगों को दबा कर रखा जाता है। लोकभाषा के बिना लोक राज्य असंभव है।''[53]

कई बार यह देखा जाता है कि किसी विषय के विशेषज्ञ के द्वारा जो भाषा व्यवहार में लाई जाती है, उसका जनता की भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं होता। विशेषज्ञों के लिए यह बात भले ही परेशान करने वाली न हो, पर इसका खामियाजा आम जनता एक लम्बे समय से भुगतती आ रही है। डॉ. लोहिया इस भाषागत दंभ से लड़ने के लिए जीवन पर्यन्त मुस्तैद रहें। तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने जब उन पर बाजारू भाषा बोलने का आरोप लगाया तो लोहिया ने कहा था '' यही तो हमारी तारीफ है कि हम जो बाजार में बोलते हैं, वही हम यहाँ बोलते हैं और बाजार की बोली तो बड़ी सभ्य बोली होती है, सच्ची सीधी और ईमानदार।''[54] कहना न होगा कि भाषा के बारे में विजयदेवनारायण साही की दृष्टि भी बिल्कुल स्पष्ट है। उनका मानना है कि फटकार कर सच बोलने के लिए कबीर की भाषा की तरह 'दो टूकपन' जरूरी है। अपनी एक कविता में उन्होंने लिखा कि –

'' परम गुरु
दो तो ऐसी विनम्रता दो
कि अंतहीन सहानुभूति की वाणी बोल सकूं
और यह अंतहीन सहानुभूति
पाखंड न लगे
....
दो तो ऐसी निरीहता दो
कि इस दहाड़ते आतंक के बीच

फटकार कर सच बोल सकूं
और इसकी चिंता न हो
कि इस बहुमुखी युद्ध में
मेरे सच का इस्तेमाल
कौन अपने पक्ष में करेगा। ''55

पर इसका यह मतलब नहीं है कि विचारक के रूप में साही साहित्य–सृजन के क्षेत्र में भाषा के अवमूल्यन के खतरे को लेकर अचेत थे। उन्होंने लिखा है कि भाषा का अवमूल्यन फूहड़ व्यक्तियों द्वारा इस्तेमाल की हुई भाषा की समस्या नहीं है। भाषा एक विशेष प्रकार से इस्तेमाल की जा रही है, जिसके कारण उसके शब्दों में एक सटीकपन है, वह भी क्षरित हुआ है। साहित्य लिखने वालों के सामने, कविता लिखने वाले के सामने प्रतिक्षण इस प्रकार के उदाहरण आते हैं। .... बड़ा कवि शब्दों को उसके अवमूल्यन से बचाता है.......... भाषा अपने आप में एक अर्थवत्ता देती है, हमको ही अर्थवान बनाती है। यह धारणा केवल रचनाकार की होती है। जब तक उसकी यह धारणा है तब तक उसकी चिन्ता बनी रहेगी।''56 साही का कहना है कि भारतीय समाज में जातिप्रथा की तरह हिन्दी भाषा में तहें हैं। '' हरिऔध के 'प्रियप्रवास' और 'चौखे चौपदे' में वे तहें साफ दिखती हैं। हरिऔध ने उन तहों को तोड़ने के बजाय उनका चतुर उपयोग करना चाहा और वे तहें उनकी सीमा बन गयीं। छायावाद और प्रेमचन्द ने इन तहों को थोड़ा पिघलाया, लेकिन अपना स्वर फिर भी उनसे आवृत्त ही रखा। इसकी सीमाएँ भी 'कामायनी' और 'गोदान' में दीखती हैं। अगर प्राचीन वर्ण–व्यवस्था का जमाना होता तो हिन्दी में भी साहित्य–शास्त्रों के आचार्यगण इन तहों को गौड़ी, मागधी, पांचाली जैसे नाम देकर हमेशा–हमेशा के लिए स्थिर कर देने; प्राकृत की तरह कुछ पात्रों के लिए आंचलिक शब्दावली अथवा अंग्रेजी का प्रयोग काव्यरूढ़ि बना देते और संस्कृत की तरह हिन्दी की भी मरण–तिथि पहले से

निश्चित कर देते। रीतिबद्धता भाषा में चमक, लालित्य, स्थिरता प्रसन्नता और वर्गाश्रयीपन पैदा करती है, लेकिन वह उसकी प्राण–शक्ति नहीं होती, प्राणशक्ति तो वहाँ होती है जहाँ नीतियाँ तोड़ी जाती हैं और शब्दों का प्रयोग इस प्रकार होता है कि वे सिलवटों के भीतर नहीं, भाषा के पूरे प्रसार में अपने अर्थ को अभिव्यंजित करते हैं। वही भाषा की एकातानता है, उसकी आंतरिक सार्वभौमिकता है। वही सृजनशीलता की केन्द्रीय समस्या है।"[57]

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि विजयदेवनारायण साही का सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण बुनियादी तौर पर लोकतांत्रिक समाजवाद की नैतिकता से परिचालित है। किन्तु उसमें किसी भी तरह की कट्टरता के बजाय एक खुलापन है।

सन्दर्भ सूची

1. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड – 5, पृ–44
2. साहित्य क्यों ? : पृ–27
3. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड – 5 : पृ–134
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ–237
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ–237 पर उद्धृत
6. हन्दी साहित्य का इतिहास : पृ–238
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ–238
8. वर्धमान और पतनशील : पृ–131
9. वर्धमान और पतनशील : पृ–132
10. संस्कृति के चार अध्याय : पृ–384
11. संस्कृति के चार अध्याय : पृ–388
12. वर्धमान और पतनशील : पृ–131–132
13. वर्धमान और पतनशील : पृ–132
14. वर्धमान और पतनशील : पृ–133
15. वर्धमान और पतनशील : पृ–133
16. वर्धमान और पतनशील : पृ–135
17. अभिप्राय, मई 1985 भूमिका में उद्धृत
18. अभिप्राय – मई, 1985 की भूमिका
19. वर्धमान और पतनशील, पृ–136
20. डॉ. बच्चन सिंह – हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ–56
21. अभिप्राय : पृ–2
22. प्रेम कुमार मणि – वर्तमान साहित्य, जून 2002, पृ–372

23. जातिप्रथा, पृ—27

24. विजयदेवनारायण साही – अभिप्राय, मई 1985, पृ—18

25. डॉ. धर्मवीर – संत रैदास का निर्गुण सम्प्रदाय, पृ—100 पर उद्धृत

26. डॉ. धर्मवीर – संत रैदास का निर्गुण सम्प्रदाय, पृ—101

27. पुरुषोत्तम अग्रवाल – विचार का आनन्द, पृ—17

28. अभिप्राय, मई 1985 : पृ—19

29. जातिप्रथा : पृ—26

30. अभिप्राय मई 1985 : पृ—20

31. अभिप्राय मई 1985 : पृ—21

32. धर्म पर एक दृष्टि : पृ—11

33. अभिप्राय, मई 1985 : पृ—23

34. अभिप्राय, मई 1985 : पृ—23

35. साहित्य क्यों : पृ—64 पर उद्धृत

36. साहित्य क्यों : पृ—65—66

37. साहित्य क्यों : पृ—67

38. साहित्य क्यों : पृ—69

39. साहित्य क्यों : पृ—69 पर उद्धृत

40. साहित्य क्यों : पृ—72

41. साहित्य क्यों : पृ—69—70

42. छठवॉं दशक : पृ—97

43. वर्तमान साहित्य, जून 2002 : पृ—91 पर उद्धृत

44. साहित्य क्यों : पृ—66

45. छठवॉं दशक : पृ—98

46. राजेन्द्र कुमार, वर्तमान साहित्य, जून 2002 : पृ—93

47. राजेन्द्र कुमार, वर्तमान साहित्य, जून 2002 : पृ–94

48. साहित्य क्यों : पृ–20

49. साहित्य क्यों : पृ–25

50. वर्तमान साहित्य : पृ–95

51. साहित्य क्यों : पृ–79–80

52. छठवॉं दशक : पृ–234

53. भाषा : पृ–135

54. सरकारी मठी और कुजात गांधिवाद : पृ–8

55. साखी : पृ–111

56. वर्धमान और पतनशील : पृ–36

57. छठवाँ दशक : पृ–236

अध्याय - तीन

साही की साहित्य सम्बन्धी सैद्धान्तिक स्थापनाएँ

विश्व साहित्य व साहित्य चिंतन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हर बड़े रचनाकार ने साहित्य पर विचार करते हुए उन मूलभूत प्रश्नों को उठाया है जिनके जवाब न केवल पहले दिये गये हैं, बल्कि युग विशेष में समकालीन रचनाकारों ने भी दिये हैं । मगर रचनाकार व आलोचक उन प्रश्नों को नये सिरे से उठाते रहे हैं । साहित्य क्या है ? साहित्य का उद्देश्य क्या है ? साहित्य किसके लिए ? आदि सवाल ऐसे हैं जिनके जवाब बार-बार दिये जाने पर भी नये जवाबों की मांग करते हैं । स्पष्ट ही युग, परिवेश आदि के अनुरूप ये जवाब बदलते रहते हैं । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "मनुष्य की सर्वोत्तम कृति साहित्य है और उसे मनुष्यपद का अधिकारी बने रहने के लिए साहित्य ही एकमात्र सहारा है ।"[1] उनका कहना है कि सभी मनुष्य साहित्य-स्रष्टा तो नहीं होते लेकिन साहित्यप्रेमी अवश्य होते हैं । मनुष्य स्वभाव से ही सौन्दर्य-प्रेमी होता है और सुन्दरता सामंजस्य में होती है । "इसलिए सैन्दर्य प्रेम में संयम होता है, उच्छृंखलता नहीं । इस विषय में साहित्य ही हमारा मार्गदर्शक हो सकता है ।"[2] आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री ने लिखा है कि " 'साहित्य' शब्द अपने-आप में इतना अधिक पूर्ण है कि किसी भी दूसरे शब्द या वाक्य-विस्तार द्वारा हम उसके सम्पूर्ण अर्थ को नहीं व्यक्त कर सकते । साहित्य अर्थात् चिर-परिपूर्णता, राहित्य (अभाव) का राहित्य (अभाव) मात्र नहीं । इस ऐसे 'पूर्ण' को दूसरे-दूसरे अपूर्ण वर्ण कैसे व्यक्त कर सकते हैं ? साहित्य आत्मतृप्ति का उद्दाम अच्छवास है । जिसे पाकर हम झूम-झूम जाते, मस्ती की अलस अँगड़ाइयाँ लेने लगते हैं, कैसे विश्वास हो, उससे और किसी का कुछ भी न होगा ? हमने तो अपने संकुचित स्वार्थ का साथ नहीं किया, फिर हमारी तृप्ति हमारी सीमा में सिमटकर क्यों रह जाय ? लोकमंगल की ऐसी ही भव्य

भावना से भरकर साहित्यकार आत्मसुधा को साफ-सुथरी बोली की रूपहली-सुनहली प्यालियों में डाल देता, उँडेल देता है ।"3

साहित्य सम्बन्धी अपनी भाववादी धारणा को विस्तार देते हुए शास्त्रीजी कहते हैं कि साहित्य एक अनुभूति है । विशाल विश्व से हिलमिलकर जो कुछ समझ्ा, प्रकृति की सजीव श्री शुष्मा को अंतः स्थिमित नेत्रों से जैसा देखा, उसी की एक-एक रश्मिरेखा साहित्य के स्वच्छ पृष्ठों पर अंकित है । सवाल यह खड़ा होता है कि क्या साहित्य केवल रचनाकार की आपबीती की अभिव्यक्ति-भर है ? भारतेन्दु की शब्दावली में कहें, तो वह 'कुछ आपबीती' भी है, कुछ 'जगबीती' भी । इसी प्रकार जानकी वल्लभ शास्त्री जब कहते हैं कि 'साहित्य एक सन्देश है, साहित्य एक अलौकिक सौन्दर्य है, साहित्य एक चेतना है और साहित्य सृष्टि ही नहीं, स्वयं स्रष्टा भी है, इसीलिए हमें चाहे मेट दो, हमारे नगरप्रान्त देश-राष्ट्र सबका नाश कर दो, पर हमारा साहित्य मत छुओ, उसे ज्यों का त्यों रहने दो', तो यह कुल मिलाकर साहित्य के प्रति उनके 'कछुआ धरम' वाले दृष्टिकोण का ही परिचायक है । वस्तुतः इसके मूल में साहित्य को लेकर एक लम्बे समय तक प्रचलित शुद्धतावादी दृष्टि निहित है, जो साहित्य में भाव के सहयोगियों की पूरी तरह वर्जना करता है तथा भाव की सामाजिकता का तिरस्कार करता है । दूसरे शब्दों में कहें, तो साहित्य विषयक ऐसी धारणाओं के हिमायती आचार्य साहित्य में भाव को जीवन के अंश के रूप में स्वीकार करने के बजाय इसे मनःस्थिति की कतरन के रूप में ही ग्रहण करते हैं । इसी प्रकार जो लोग साहित्य के सन्दर्भ में सत्यं, शिवं और सुन्दरम् की बात करते हैं उन्हें याद दिलाना जरूरी है कि बामगार्टन द्वारा प्रवर्तित यह सिद्धान्त वस्तुतः एक सौन्दर्यशास्त्रीय भ्रान्ति है । उनकी 'The true, The good and The beautiful'

सूक्ति का सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के रूप में अनुवाद महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने किया है । प्रसंगात् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नाम ग्रन्थ में लिखा है : "इधर कुछ दिनों से 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की भी बड़ी धूम है, जिसे कुछ लोग शायद उपनिषद् वाक्य समझकर उद्धृत किया करते हैं । यह कोमल पदावली ब्रह्म समाज के महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर की हैं और वास्तव में 'द ट्रू, द गुड एंड द ब्यूटिफुल' का अनुवाद है ।"[4] सच तो यह है कि यथार्थ में इस पदोच्छय का कोई प्रतिपन्न अर्थ नहीं है और यह साहित्य और कला के आनन्दवादी ध्येय के औचित्य को बढ़ाने का वैचारिक नुस्खा है । वस्तुतः समाज जिन भ्रान्तियों में विकसित होता है, उन्हीं भ्रान्तियों के अनुरुप सिद्धान्त भी पनपते हैं । इसी भ्रान्ति के परिवेश के कारण गलत और बेबुनियाद सिद्धान्त भी समाज द्वारा स्वीकृत होता है । सिद्धान्त कितने ही गलत और भ्रान्तिपूर्ण क्यों न हों वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्वीकार किये जाते हैं । यह तब तक चलता रहता है जब तक उस भ्रान्ति को ध्वस्त करने में सामाजिक परिवर्तन कारगर न हो जाय ।[5] यह बात अन्यान्य प्रसंगों की ही तरह साहित्य की अवधारणा के प्रसंग में भी पूरी तरह सच है । जार्ज लुकाच ने यथार्थ को असीम माना है । साहित्य का लक्ष्य भी कुल मिलाकर वस्तुजगत के यथार्थ की व्यंजना है । कविता के प्रसंग में पाब्लो नेरुदा कहते हैं कि वह कवि जो यथार्थवादी नहीं है, मृत है और वह कवि जो केवल यथार्थवादी है, मरा हुआ है । साहित्यकार का दायित्व है कि वह मनुष्य के यथार्थ-बोध को अपनी रचनाओं के माध्यम से ऊंचा उठाये । ऊंचा उठाने क तात्पर्य यह है कि साहित्य अब केवल प्रकृति का अनुकरण बनकर यथार्थ को संसक्त नहीं कर सकता । उसे अनुकरण के संकीर्ण वृत्त से निकालकर वस्तु और संसार का न केवल परिष्कार करना होगा बल्कि अपनी रचना भी करनी होगी । प्रसंगात् दिनकर ने लिखा है कि महान कविता वह है जो इस

भूमि को सुन्दर बनाती है । सच तो यह है कि साहित्य-सृजन एक कल्पना व्यापार है । पर जब कल्पना का वस्तुगत प्रत्यक्षीकरण होता है, तो कृतियाँ जन्म लेती हैं । साहित्य-सृजन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे विभिन्न युगों में विभिन्न सांस्कृतिक वर्गों ने न केवल अलग-अलग रूपों में रचा है, बल्कि अलग-अलग ढ़ंग से परिभाषित किया और समझा भी है । इस दरम्यान यदि एक ओर विश्वास का साहित्य कही जा सकनेवाली महानतम कृतियाँ रची गयी हैं, तो दूसरी ओर तात्कालिक कारणों से परिचालित प्रचार का साहित्य भी लिखा गया है ।

'साहित्य' पर विभिन्न कोणों से विचार करते हुए विजयदेवनारायण साही ने सर्वप्रथम 'साहित्य क्यों ?' का बुनियादी सवाल उठाया और अपने ढ़ंग से इसका जवाब देने की भी कोशिश की है । उन्होंने खुद लिखा है कि "एक स्तर पर हर गंभीर लेखक के मन में यह प्रश्न शेष रह ही जाता है । रचना का हर कर्म साथ ही साथ इस प्रश्न से उलझने या इससे कतराने का कर्म भी होता है ।"[6]

कुछ विचारकों का मानना है कि आधुनिक युग में 'साहित्य क्यों ?' जैसा प्रश्न उठाना उपयोगितावादी दृष्टि का संकेत है । डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने लिखा है कि ऐसा सवाल रचना की बुनियाद पर ही शंका खड़ा करनेवाला है । "इसमें एक प्रकार का आक्रोश है । पूछनेवाला रचना कि बुनियाद पर ही चोट करता है । 'साहित्य क्यों ?' जैसा प्रश्न खड़ा करके वह कहना चाहता है कि साहित्य निरर्थक है - एक असमर्थ काव्य ।"[7] लेकिन हम देखते हैं कि अचार्य शुक्ल से लेकर साही तक जिन बड़े साहित्यकारों ने यह प्रश्न उठाया, उनका उद्देश्य साहित्य को निरर्थक घोषित करना कदापि नहीं है बल्कि उसकी सार्थकता को पुनः स्थापित करना है । साहित्य के उद्देश्य पर बात करना उस उद्देश्य को खारिज करना नहीं,

बल्कि उस उद्देश्य पर अधिक बल देना है । साहित्य के उद्देश्य और समाज में उसकी भूमिका पर साही ने गंभीरता के साथ विचार किया है । उनके के तीखे आलोचक कमला प्रसाद के शब्दों में कहें, तो "विजयदेवनारायण साही आलोचक के रूप में जीवन भर यह समझने की कोशिश करते रहे कि साहित्य का उद्देश्य क्या है ? वे चाहे 'साहित्य क्यों ?' 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस', 'सत्ता और संस्कृति', 'जनवादी साहित्य' में से कोई निबंध लिख रहे हों या 'साहित्य और साहित्यकार का दायित्व' विषय पर व्याख्यान दे रहे हों - वे साहित्य से अपनी अपेक्षा ही खोजते रहें ।"[8]

साहित्य-कर्म को एक सहज कर्म मानते हुए भी साही इसे उस अर्थ में नैसर्गिक नहीं मानते जिस अर्थ में बुलबुल का गाना नैसर्गिक है । वे कहते हैं कि सहज होते हुए भी वह एक सचेत कर्म होता है जिसके पीछे एक उद्देश्य होता है । निश्चित ही साहित्य का एक उद्देश्य होता है । साहित्य-सृजन का आधार जीवन है और उसका उद्देश्य भी जीवन ही है । प्रेमचन्द के शब्दों में कहें, तो "साहित्य जीवन की आलोचना है ।"[9] चाहे वह जीवन सामाजिक जीवन हो या राजनीतिक या धार्मिक । हर युग में हर साहित्य के केन्द्र में मनुष्य और उसका जीवन ही होता है । साहित्य में चित्रित यह जीवन कभी एक व्यक्ति तक सीमित रहता है, तो कभी पूरे लोक तक व्याप्त होता है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस बात पर बल दिया है कि मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है । जो साहित्य मनुष्य केन्द्रित नहीं है, जो मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा नहीं सकता, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सकता और जो उसके हृदय को परदु:खकातर और संवेदनशील नहीं बना सकता, उसको वे साहित्य के रूप में स्वीकार नहीं करते । जो

मनुष्य केन्द्रित हो, जो उसको दु:खा वेदना से ऊपर उठाकर उसका उद्धार करता है, उसीको वे साहित्य मानते हैं । उन्होंने लिखा है "वास्तव में हमारे अध्ययन की सामग्री प्रत्यक्ष मनुष्य है । अपने इतिहास में इसी मनुष्य की धारावाहिक जययात्रा की कहानी पढ़ी है, साहित्य में इसी के आवेगों, उद्वेगों और उल्लासों का स्पंदन देखा है, राजनीति में इसकी लुका-छिपी के खेल का दर्शन किया है, अर्थशास्त्र में इसकी रीढ़ की शक्ति का अध्ययन किया है । यह मनुष्य ही वास्तविक लक्ष्य है ।"[10] चूंकि साहित्य के केन्द्र में मनुष्य होता है, इसीलिए वह निरुद्देश्य नहीं हो सकता । वह मनुष्य के सुख-दु:ख से जुड़ा होता है और मनुष्य के विकास का साक्षी होता है । इसीलिए भक्तिकाल में जहां कवियों ने स्वांत:सुखाय काव्य लिखा वहाँ भी उसका उद्देश्य लोक-हित ही था । आचार्य शुक्ल ने भी माना है कि काव्य कौतुक नहीं है, उसका उद्देश्य गंभीर होता है ।

साहित्य के उद्देश्य के संदर्भ में विचारकों के दो प्रमुख मत रहे हैं । एक तो यह कि साहित्य का उद्देश्य मानव-मूल्यों का चित्रण करना और मानव-जीवन के विकास में योग देना है । दूसरे मत के अनुसार साहित्य का उद्देश्य मनुष्य को आनन्द प्रदान करना है । इन दोनों मतों को समाविष्ट करते हुए शुक्लजी ने लिखा है कि साहित्य का उद्देश्य मनुष्य के बाह्य जीवन के साथ-साथ हृदय का भी विकास है । उनके शब्दों में "साहित्य किसी जाति की रक्षित वाणी की वह अखण्ड परम्परा है जो उसके जीवन की स्वतन्त्र स्वरूप की रक्षा करती हुई जगत् की गति के अनुरुप उत्तरोत्तर उसका अन्तर्विकास करती चलती है ।"[11]

प्रेमचन्द का मानना है कि साहित्य ही मनुष्य को बनाता है । उन्होंने लिखा है - "मनुष्य स्वभाव से देव तुल्य है । जमाने के छल प्रपंच और परिस्थितियों के

वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है । साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है - उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके । हमारी सभ्यता साहित्य पर आधारित है । हम जो कुछ हैं, साहित्य से ही बनाये हैं ।"[12]

कुछ विचारक राजनीति, समाज, धर्म आदि को साहित्य से बाहर की चीजें मानते हैं । उनका कहना है कि साहित्य का मूल आधार अनुभूति है और यही अनुभूतिजन्य आनन्द प्रदान करना साहित्य का उद्देश्य है । वे यह स्वीकार करते हैं कि सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विषयों का प्रभाव साहित्य पर पड़ता तो है लेकिन वे साहित्य के विधायक तत्व नहीं हैं । रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी साहित्य का मूल उद्देश्य आनन्द की अभिव्यक्ति ही माना है किन्तु उन्होंने आनन्द की ऐसी उदात्त व्याख्या की है कि सत्य और शिव से स्वत: उसका गठबन्धन हो जाता है ।[13] इस प्रसंग में आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री का मंतव्य द्रष्टव्य है जहाँ उन्होंने साहित्य के मूल में 'सत्य' की अवस्थिति पर बल देते हुए लिखा है कि "सत्य ही ज्ञान है । सत्य ही आनन्द है । सत्य, ज्ञान या आनन्द की अभिव्यक्ति ही साहित्य है । जब-जब हममें सत्यान्वेषण की आकांक्षा, ज्ञानाजन की कामना या आनन्द-लाभ की लालसा होगी, तभी-तभी हमारे सामने चाँदनी से धुले, खुले छायापथ, वीचिरहित ज्योति : समुद्र या सलील-सलिल रस-सरोवर के रूप में साहित्य समुपस्थित होगा । मैं ऐसा इसीलिए कह रहा हूँ कि साहित्य का माध्यम ग्रहण किये बिना सत्य, ज्ञान या आनन्द का साधारणीकरण नहीं हो सकता ।"14

कुछ लोग तो साहित्य का उद्देश्य मानसिक उपचार भी मानते हैं । जैसे डॉ. देवराज का कहना है कि "साहित्य-सृष्टि के पीछे लेखक की कोई जरूरत, विवशता या विवशताएँ होती हैं । साहित्यकार के मन में, मुख्यत: बाह्य जगत् के आघात् से कुछ ऐसे अनुभवों का स्फुरण होता है जो उसके मन में अभिव्यक्ति की छटपटाहट पैदा करते हैं । ... अभिव्यक्ति द्वारा लेखक अपने वैयक्तिक-सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक-नैतिक और दार्शनिक-आध्यात्मिक अनुभवों, प्रश्नों व समस्याओं के दबाव से मुक्ति पा जाता है । इस दृष्टि से साहित्य लेखक और उसके समानधर्मा पाठकों के मन की उत्तेजना और बेचैनी का शमन (अरस्तु का कैथार्सिस) या परिष्कार परिशुद्धि अथवा उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) करता है ।"15

साही उन विचारकों में एक है जो साहित्य के सामाजिक उद्देश्य पर बल देते हैं । जैसा पहले कहा जा चुका है, वे साहित्य को सचेत कर्म मानते हैं, जिसके निर्वाह में साहित्य के कुछ दायित्व भी होते हैं । जाहिर है कि साहित्यकार के दायित्व के साथ-साथ साहित्य का उद्देश्य भी अन्योन्याश्रित रूप से जुड़ा हुआ होता है ।

विजयदेवनारायण साही का मानना है कि साहित्यकार के विचार और अनुभव समाज के लिए बहुत महत्वपूर्ण होते हैं । समाज पर, उसमें रहनेवाले लोगों पर, उनकी भाषा पर उसका प्रभाव पड़ता है । वे कहते हैं कि "एक स्तर पर भाषा, विचार और साहित्य - ये भिन्न नहीं रह जाते और जैसे-जैसे उनमें घनत्व बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे लेखक जो उस भाषा से दिन-रात उलझ रहे हैं, उनके अनुभव समाज के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं । भाषा के बोलनेवालों के लिए भी महत्वपूर्ण होते हैं ।"16

साहित्य सृजन आरंभ से ही सोद्देश्य रहा है और साहित्यकार किसी न किसी रूप में अपना दायित्व निभाता रहा है । साही इस बात का उल्लेख करते हैं कि तुलसीदास ने कोई दर्शन न खड़ा करते हुए भी साहित्य के इस दायित्व की ओर संकेत किया कि 'सुरसरि की भाँति सबका भला हो', यही साहित्य का दायित्व है । यहाँ तक कि रीतिकाव्य, जिसके किसी सामाजिक उद्देश्य को स्वीकार नहीं किया गया, के बारे में भी साही इस ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि इन कवियों ने भाषा के द्वारा सांस्कृतिक एकता को बनाये रखा । बिना किसी गोष्ठी या आयोजन किये ही सबने व्रजभाषा का प्रयोग करके अनजाने ही समाज को जोड़ने के बहुत बड़े सांस्कृतिक-सामाजिक दायित्व का निर्वाह किया है ।

इस तरह भाषा को समाज को जोड़ने वाला तत्व मानने की साही की दृष्टि का विरोध भी हुआ है । कमला प्रसाद का कहना है कि "साही ने समाज को जोड़ने के लिए जिन तत्वों पर जोर दिया, दरअसल वे कतई मूल जोड़क तत्व नहीं हैं ।"17 लेकिन हम देखते हैं कि इस आरोप के पीछे रीतिकालीन कवियों के भाषा सम्बन्धी योगदान को लेकर साही का जो मत है, उसके विरोध की अपेक्षा प्रयोगवादियों के योगदान को न पहचानने की शिकायत ही अधिक है, जहाँ वे लिखते हैं "प्रयोगवादी कवियों ने नयी भाषा नये अभिव्यंजना मार्ग की खोज के साथ भी यही संकेत दिया, पर उन स्थानों में साही का विश्लेषण कालांकित मूल वस्तु को नहीं छूता ।"18

साही मानव चेतना के चार स्तर मानते हैं - सामाजिक चेतना, पारिवारिक चेतना, मानवीय चेतना तथा ब्रह्माण्ड व्यापी चेतना । उनके अनुसार "इन चार स्तरों पर एकसाथ लेखक का दायित्व बनता है । बेशक कभी कुछ कम, कभी कुछ

ज्यादा । कभी कोई चेतना प्रमुख है, कभी कोई चेतना प्रमुख है ।"19 उनका कहना है कि साहित्यकार को इन चारों स्तरों को एकसाथ पकड़ना है, नहीं तो वह अपना दायित्व पूरा नहीं कर पायेगा ।" अगर इनमें से एक ही पकड़ेगा, केवल ब्रह्माण्ड चेतना पकड़ेगा तो बाबा लोगों का चेला हो जायेगा । केवल प्रेमवाली पकड़ेगा तो सिनेमा का गीतकार हो जायेगा । अगर केवल समाज चेतना पकड़ेगा तो किसी न किसी पार्टी का समर्थक हो जायेगा ।"20 प्रसंगवश मुक्तिबोध का एक वक्तव्य भी उल्लेखनीय है, जहाँ वे इस मानव चेतना को साहित्य का आधार मानते हैं : "मानव-चेतना वस्तुत: मानव सम्बन्धों से निर्मित तथा उससे उद्‌गत चेतना है । ये मानव सम्बन्ध समाज के विकास के साथ परिवर्तित होते रहते हैं तथा समाज की विशेष स्थितियों की उनमें विशेषताएँ प्रकट होती रहती हैं । विशेषता-संयुक्त ये मानव-सम्बन्ध मानव-चेतना की मूलभूत नीवें हैं, जिनके आधार पर कला, दर्शन, धर्म तथा साहित्य की सृष्टि होती है ।"21

मानव-चेतना के सभी स्तरों के समन्वय के मद्देनज़र साहित्यकार के चार दायित्वों का साही ने उल्लेख किया है । उनके अनुसार साहित्य का पहला दायित्व "जोड़ने का है और बड़े से बड़े संकट के क्षणों में भी मानव-मूल्यों और रागात्मक अनुभूतियों को सुरक्षित रखने का है । ... दूसरा दायित्व रागात्मक स्तर पर मानव-अनुभूतियों की विविधता के अनेकानेक रूपों के प्रति आस्था विकसित करना है । यह आस्था ही वास्तव में एकीकरण का काम करती है । साहित्य का तीसरा दायित्व मानव-जीवन के प्रति भावात्मक संवेदना को निरंतर नि:सृत करना है, ताकि रागात्मक और जोड़ने की प्रक्रिया अमानवीय होने से बचती रहे । चौथी बात नितान्त स्थानीय मानव और विश्व-मानव के संघर्ष के विलयन की है ।"22

यह स्पष्ट है कि साही की दृष्टि में साहित्य का दायित्व समन्वय करना है । मानवीय मूल्यों और व्यक्तिगत अनुभूतियों को सुरक्षित रखकर समाज को एकाग्रता प्रदान करना है । साही समाज को एकाग्र करने के इस कार्य को साहित्य का बहुत महत्वपूर्ण कार्य मानते हुए कहते हैं - "यह कार्य साहित्य का और साहित्य में रसी-बसी भावना का एक महत्वपूर्ण अंग है ।"23 साहित्यकार न तो केवल नितान्त व्यक्तिगत स्तर पर लिख सकता है और न ही व्यक्ति को नकार कर समाज के हित की बात कर सकता है । साही ने कहा है कि चेतना के चार स्तरों की बात एक ही साथ सार्वभौमिक और स्थानीय दोनों है । यही बात मुक्तिबोध ने भी दूसरे शब्दों में कही है - "साहित्य वह समन्वय है जिसकी रूप-रचना का आकार व्यक्तिगत शक्ति से बना होकर भी जिसके तत्व सामाजिक हैं । जिसके तत्व समाज-प्राप्त होकर भी वैयक्तिक शक्ति से शरीर-प्राप्त हैं ।"24

कुल मिलाकर साही के अनुसार सत्य को समग्रता में पकड़ना साहित्यकार की जिम्मेदारी है । वस्तुत: साही की दृष्टि हमेशा समग्रता पर रही है । चाहे वह जिन्दगी को लेकर हो, साहित्य को लेकर हो या मानव-सत्य को लेकर हो ।

साहित्यकार व्यक्तिगत आनन्द के लिए लिखने का जितना भी दावा करता हो, वह अपने दायित्व से मुंह नहीं मोड़ सकता । जीवन, नीति और साहित्य तीनों का अभिन्न सम्बन्ध होता है । अतएव, साहित्य की जिम्मेदारियों से पलायन करना जीवन से पलायन करना है, नीति की उपेक्षा करना जीवन की उपेक्षा करना है ।25 साहित्य और समाज का सम्बन्ध आरम्भ से ही अभिन्न रहा है । केदारनाथ सिंह के शब्दों में "समाज के प्रत्येक सदस्य की छोटी सी छोटी चेतन-क्रिया किसी न किसी

अंश में सामाजिक होती है । फिर कविता तो समाज के सबसे अधिक संवेदनशील व्यक्ति की चेतना-क्रिया है । उसकी सामाजिकता असंदिग्ध है ।"26 साही का तो मानना है कि साहित्यकार समाज से भिन्न अस्तित्व रख ही नहीं सकता । वे साहित्यकार को सामूहिक चेतना द्वारा उत्पन्न मानते हैं । अपनी डायरी में एक जगह उन्होंने लिखा है - "जिस प्रकार समाज की ऐतिहासिक प्रगति अपने नेतृत्व के लिए अपने बीच से स्वाभाविक रूप से नेता उत्पन्न करती है, उसी प्रकार सम्भवत: समाज की सामूहिक चेतना अपनी अभिव्यक्ति के लिए कवि को जन्म देती है । ... यदि कवि मनुष्य है और मनुष्यता की सार्थकता समाज में है तो वह प्रश्न कवि से न पूछकर समाज से पूछा जाना चाहिए : वह क्यों लिखता है ?"27

साहित्य और समाज के अभिन्न सम्बन्ध पर इतना बल देने और सामाजिक चेतना को इतना महत्वपूर्ण मानने के बावजूद 'परिमल' संस्था से जुडे साहित्यकारों पर व्यक्तिवादी होने का जो आरोप लगाया गया है, उसका स्पष्टीकरण देते हुए जगदीश गुप्त ने लिखा है - "परिमल पर प्रगतिवादियों ने निरन्तर व्यक्तिवादिता का आरोप लगाया है, जो तथ्यों से कहीं प्रमाणित नहीं होता । वस्तुत: 'परिमल' और 'नयी कविता' दोनों की विचारधारा समाजोन्मुख ही थी पर 'व्यक्ति' कुछ नहीं, समाज ही सब कुछ है, ऐसा हमने कभी नहीं माना ।"28 साहित्य के सामाजिक आधार को ध्यान में रखकर ही साही साहित्य को समाजवाद का समानधर्मा घोषित करते हैं, जिसका कारण वे उसकी भाषा मानते हैं । उन्होंने लिखा है - "साहित्य स्वभावत: लोकतान्त्रिक समाजवाद का समानधर्मा है क्योंकि यह परस्मेपदीन रस की सदानीरा होने के कारण सहृदयता, प्रेम, अहिंसा और समता के सर्वजनीन अन्तर्राष्ट्रीय स्वदेश को नर-जाति के भावक्षेत्र में 'प्रतिष्ठित' करता आया है और उसका माध्यम भाषा स्वभावत: सूक्ष्म, सामाजिक और विकेन्द्रोन्मुख है ।"29

उनका मानना है कि उत्तम साहित्य साम्यमय अहिंसामय और प्रेममय होता है । इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीय होता और सबका होता है । साहित्यकार यदि सिद्ध और समर्थ हो, तो वह वाल्मीकि की तरह राजनीतिक भविष्य और व्यास की तरह उसके अतीत को अपने वर्तमान में बैठे-बैठे बांध सकता है ।

साही यह भी लक्षित करते हैं कि कई बार साहित्य या साहित्यकार के लिए अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह करना कठिन हो जाता है । राजनीतिक तानाशाही के चलते कई बार लेखक को अपने स्वधर्म का पालन करना पड़ता है । इस तानाशाही का वे विरोध करते हैं । चाहे वह मार्क्सवादी तानाशाही हो या समाजवादी तानाशाही । उन्होंने लिखा है - "कोई भी व्यवस्था अपने शिकंजे की मजबूरी में साहित्यकार को बाँधकर जब उससे साहित्य उगाहने लगती है, तो सच्चे साहित्यकार को दारुण पीड़ा होती है और उसका स्वधर्म टूटने लगता है । समाजवाद भी इसका अपवाद नहीं है ।"30 एक अन्य स्थान पर उन्होंने इग्नेजियो सिलोन का यह विचार उद्धृत किया है - "सिद्धान्तों के बल पर हम सम्प्रदाय स्थापित कर सकते हैं । परन्तु मूल्यों के आधार पर संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं । लोकतान्त्रिक समाजवाद इस ऐतिहासिक अनुभव को भुलाकर उत्कृष्ठ साहित्य की रचना नहीं कर सकता ।"31 इस संदर्भ में हिमांशु रंजन की साही पर की गई टिप्पणी ध्यातव्य है, जिसमें कहा गया है कि "इन मुद्दों को उठाने का मतलब पक्षधरता से इनकार करना नहीं है । प्रवृत्ति और विचारधारा के पीछे डंडा लेकर दौड़नेवाले साही का पूरा कृतित्व और उसमें अनुस्यूत 'बहस' भी तो पक्षधरता की ही जमीन पर टिकी है, बल्कि अक्सर तो पक्षधरता अपने आप में उनका कथ्य हो जाती है ।"32 यह सच है कि साही की पक्षधरता समाजवाद या लोहियावाद के प्रति है ।

उनके साहित्यचिंतन पर लोहियावादी दृष्टिकोण का गहरा प्रभाव है । लेकिन उनकी दृष्टि में कहीं भी कट्टरता या लोहियावादी सिद्धान्तों के प्रति अत्यधिक आग्रह दिखाई नहीं देता । साहित्य के मूल्यांकन के क्रम में उन्होंने हमेशा तटस्थ दृष्टिकोण ही अपनाया है । न तो उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्तों को पूरी तरह नकारा है और न ही लोहियावादी सिद्धान्तों को आँख मूंद कर अपनाया है । हालांकि कई आलोचकों ने उन पर मार्क्सवाद का विरोध तथा लोहियावादी समाजवाद का अन्ध अनुसरण करने का आरोप लगाया है । विश्वनाथ त्रिपाठी प्रश्न उठाते हैं कि "साही ने बड़े उत्साहपूर्वक एक लेख लिखा था - 'मार्क्सवादी समीक्षा की कम्युनिस्ट परिणति' । क्या यह कम विवेकसंगत था कि लोहियावादी समीक्षा की समाजवादी परिणति पर भी उतने ही उत्साह से लिखा जाता ?"33 इस प्रश्न का उत्तर साही का ऊपर उद्धृत उद्धरण है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे किसी भी विचारधारा की तानाशाही के पक्ष में नहीं है । यह ध्यातव्य है कि उन्होंने मार्क्सवाद का विरोध नहीं किया, बल्कि उसकी कम्युनिस्ट परिणति का विरोध किया है । वे सिद्धान्तों के बजाय साहित्य में इन सिद्धान्तों के अतिवाद से उत्पन्न गुटबंदी के विरोध में खड़े होते हैं । खुद विश्वनाथ त्रिपाठी एक अन्य जगह यह स्वीकार करते हैं कि वे "साहित्य में जो पार्टी अनुशासन या पार्टीवाद चलता था उसका विरोध करते थे ... साही वस्तुत: साहित्य में किसी प्रकार की विचारधारा के विरोधी थे । ... प्रतिष्ठान का विरोध, चाहे वह कांग्रेस सरकार के प्रतिष्ठान का विरोध हो, चाहे मार्क्सवादी-समाजवादी संस्थाओं के प्रतिष्ठान का विरोध हो साही की विशेषता है ।"34 इस कथन से स्वत: स्पष्ट है कि साही से 'लोहियावाद की समाजवादी परिणति' पर लेख न लिखने की डॉ. त्रिपाठी की शिकायत वाजिब नहीं है । मार्क्सवाद या कम्युनिस्ट विचारधारा का खण्डन करने के कारण साही पर यह भी आरोप लगाया गया है कि

वे प्रगति-विरोधी हैं । लेकिन यह आरोप पूरी तरह सही नहीं है । साही प्रगतिशीलता के या साहित्य के सामाजिक आधार के ख़िलाफ नहीं है । बल्कि वे मार्क्सवादियों या 'प्रगतिशील' आलोचकों द्वारा निर्धारित रूढ़ मानदण्डों के तहत साहित्य के अतिरक्त सामाजिक दायित्व को अस्वीकार करते हैं । वे मानते हैं कि साहित्य का एक सामाजिक दायित्व होता है, लेकिन साथ ही वे यह भी मानते हैं कि इस दायित्व का निर्वाह सहज ही किसी भी श्रेष्ठ साहित्य में होता है । उस दायित्व निर्वाह को लेकर 'जनवादी आन्दोलन' के दौरान प्रतिपादित सिद्धान्तों का वे तिरस्कार ही नहीं करते बल्कि 'जनवादी आन्दोलन' को ही वे निरर्थक घोषित करते हैं ।

साही ने मार्क्सवादियों द्वारा प्रयुक्त 'जन' शब्द को ही लेकर आपत्ति उठायी है, क्योंकि इस शब्द का अर्थ और उसकी सीमा स्पष्ट नहीं है । मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग को 'जन' माना है । लेकिन साही का कहना है कि "आज आवश्यकतानुसार इस 'जन' का अर्थ सर्वहारा, किसान वर्ग, निम्न-मध्य वर्ग, राष्ट्रीय पूंजीपति और अब तो हर उस व्यक्ति, वर्ग अथवा संस्था से लिया जाने लगा है जो कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत रूस के पक्ष में है ।"35

'जन' शब्द के समान 'जनवाद' शब्द की सीमाओं का भी उल्लेख करते हुए साही कहते हैं - "अनेक बार जन शब्द के समान 'जनवादी साहित्य' को अत्यन्त व्यापक अर्थ में लिया जाने लगता है और उस समय सामान्य जनता के लोक साहित्य के रूप में उसे स्वीकार करने का भ्रम किया जाता है ।"36

यहां ध्यातव्य है कि 'जनवादी साहित्य' या 'जनता के साहित्य' के पक्षधर गोरख पाण्डेय ने साहित्य में इस लोकप्रियता और सरलता का समर्थन किया है । उनका कहना है कि "आज के जनवादी लेखन में लोकप्रिय कला के रुझान के बारे में यह आरोप लगाना जालिमाना होगा कि वह पाठक, दर्शक या श्रोता को हर हालत में खुश रखने और यथास्थिति के प्रति सम्मोहन पैदा करने के उद्देश्य से संचालित है । पिछले पन्द्रह सालों में लोकप्रिय रचना के जो भी प्रयास हुए हैं, वे जनता के जीवन और संघर्ष को चित्रित करने और विरोधी शक्तियों के ख़िलाफ़ जन-चेतना को जगाने के उद्देश्य से प्रेरित रहे हैं ।"37

सरलता के पक्ष में पाण्डेय जी कहते हैं - "कला के क्षेत्र में सरलता का मतलब यथार्थ के किसी एक अंग का अनुवाद नहीं है । इसका मतलब माध्यम की संप्रेषणीयता को व्यापकतम बनाना है । चूंकि संप्रेषण के सारे माध्यमों की मूल प्रवृत्ति अर्थ को बड़े से बड़े पैमाने पर पहुँचाने की होती है, इसलिए कला की सरलता संप्रेषण की सार्वजनीनता की बुनियादी माँग का ही एक रूप है । जाहिर है कि संप्रेषण के माध्यमों को एक वर्ग या समूह तक सीमित रखने वालों को यह तथ्य रास नहीं आता । लेकिन फिर से वही लोग हैं, जो कला को कुलीनता और रीतिवाद के घेरे में बांधने का प्रयास करते आये हैं । ऐसे लोग जनता के साहित्य के विरोधी हैं ।"38

यहाँ यह बात स्पष्ट होती है कि जो लेखक जटिलता के पक्ष में हैं उनको गोरख पाण्डेय जनता के साहित्य का विरोधी मानते हैं । लेकिन यह उल्लेखनीय है कि मुक्तिबोध जो जनता के साहित्य की अवधारणा के प्रबल समर्थकों में एक हैं, जनता के साहित्य के नाम पर लिखे जाने वाले सरल सुबोध साहित्य की संकल्पना

का पूरी तरह निषेध करते हैं । वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि " 'जनता का साहित्य' का अर्थ जनता को तुरन्त ही समझ में आ जाने वाले साहित्य से हरगिज नहीं है, अगर ऐसा होता तो किस्सा तोता-मैना और नौटंकी ही साहित्य के प्रधान रूप होते ।"39 साहित्यिक भाव को ग्रहण करने के लिए, उसकी बारीकी को समझने के लिए मुक्तिबोध पाठक के लिए शिक्षा और सांस्कृतिक परिष्कार को आवश्यक मानते हैं । इस तरह एक हद तक वे जटिलता के पक्ष में ही खड़े होते हैं ।

'जनता का साहित्य' का सही अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि "जनता का साहित्य से अर्थ ऐसा साहित्य है जो जनता के जीवन मूल्यों को, जनता के जीवनादर्शों को प्रतिष्ठापित करता हो, उसे अपने मुक्तिपथ पर अग्रसर करता हो, इस मुक्तिपथ का अर्थ राजनीतिक मुक्ति से लगाकर अज्ञान से मुक्ति तक है अत: इसमें प्रत्येक प्रकार का साहित्य सम्मिलित है, बशर्ते कि वह सचमुच उसे मुक्तिपथ पर अग्रसर करे ।"40 यह मुक्तिपथ पर अग्रसर करनेवाला साहित्य वही है जिसमें प्रेमचंद के शब्दों में "उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो - जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं ।"41 प्रसंगवश आचार्य शुक्ल की साहित्य विषयक अवधारणा भी द्रष्टव्य है जिसके तहत उन्होंने साहित्य को जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिंब कहा है । किन्तु अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में साफ तौर पर इस बात का उल्लेख किया है कि जनता से उनका तात्पर्य 'शिक्षित जनता' ही है, आम जनता नहीं ।

साही 'जनवादी साहित्य' और 'प्रगतिशील साहित्य' दोनों को समानार्थी मानते हैं और प्रेमचन्द से अपनी सहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'प्रगतिशील

साहित्य, यह शब्द गलत है ।' उनका कहना है कि 'प्रगतिशील' और 'जनवादी' शब्द चाहे जितने भी व्यापक हों एक विशेष अर्थ में वे संकुचित हो चुके हैं । वे साहित्य में जनहित की अवधारणा के विरोधी कदापि नहीं हैं, बावजूद इसके जनवादी साहित्य की कम्युनिस्ट अवधारणा का उन्होंने विरोध किया । उनका मानना है कि 'जनवाद' और 'जनहित' की धारणा केवल अप्रत्यक्ष आशंसा के रूप में ही साहित्यकार के मानस में वर्तमान रह सकती है, उसका कोई ठोस और निश्चित आधार नहीं बनाया जा सकता या कोई ऐसी कसौटी नहीं प्रस्तुत की जा सकती जिस पर निस्संशय होकर हर कृति को कसा जा सके ।"42 उनका कहना है कि जो स्वान्त: सुखाय या निष्प्रयोजन साहित्य होता है वह भी लोकप्रिय और जनता के निकट हो सकता है । इसके लिए साही भारतीय मध्ययुगीन साहित्य का उदाहरण देते हैं और कहते हैं कि हर श्रेष्ठ साहित्य प्रगतिशील होता है । व यह सवाल उठाते हैं कि "क्या कोई ऐसा श्रेष्ठ साहित्य है, जो मनुष्य की क्षमता और मुक्ति में विश्वास न रखता हो ?"

इस सन्दर्भ में शिवकुमार मिश्र ने जनवादी आन्दोलन से पहले के जनवादी साहित्य का जो ब्यौरा दिया है, वह ध्यातव्य है । उनका कहना है कि भक्तिकाल के साहित्य में ही जनवाद के लक्षण देखे जा सकते हैं । भक्ति आन्दोलन ऐसा आंदोलन है जो पूरे देश के सामान्य जन की जीवन-स्थिति को अभिव्यक्त करता है । उनके शब्दों में "हम भक्ति आन्दोलन की प्रेरणा से उपजे और शताब्दियों तक प्रवाहमान भक्ति के इस समूचे काव्य को जन जीवन को अभिव्यक्ति देनेवाले और जन जीवन के बीच से जन्मे जनवादी काव्य का सर्वोच्च प्रतिमान और प्रतीक मानते हैं ।"43 इसके प्रमाण के रूप में उन्होंने सूर और तुलसी के काव्य में व्यक्त लोक

संस्कृति और उस युग की वास्तविकता का उल्लेख किया है । प्रगतिशील आन्दोलन के प्रमुख समर्थक डॉ. रामविलास शर्मा खुद स्वीकार करते हैं कि 'साधारण जन की दरिद्रता पर अकेले तुलसीदास ने जितना लिखा है उतना आधुनिक कवियों ने कुल मिलाकर भी नहीं लिखा ।"44 भक्तिकाल के निर्गुण साहित्य में भी यही जनवादी दृष्टिकोण हम देख सकते हैं । सूफ़ी प्रेमाख्यानों में साधारण जन जीवन और लोक संस्कृति का उल्लेखनीय चित्रण हुआ है । कबीर और अन्य निर्गुण कवियों के काव्य का सामाजिक आधार सर्वविदित है ।

भक्तिकाल के बाद फिर जन सामान्य और उनकी समस्याओं का चित्रण भारतेन्दु युग में देखा जा सकता है । शिवकुमार मिश्र के शब्दों में "भारतेन्दु और उनके मण्डल के कवि उसे (कविता को) जनता के बीच लाते हैं, जन जीवन की समस्याओं से जोड़ते हैं और कविता भक्ति आन्दोलन के बाद एक बार फिर से जनता की चित्तवृत्तियों के प्रतिबिम्ब के रूप में पहचानी जाने लगती है ।"45 उसके बाद तो हर युग में किसी न किसी रूप में सामान्य मनुष्य ही साहित्य के केन्द्र में रहा है । चाहे वह द्विवेदी युग हो या छायावाद युग, जनवादी रचनाशीलता की विशिष्टताएं हर युग में मौजूद है ।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि फिर जनवादी आन्दोलन के एक विशिष्ट आन्दोलन के रूप में आने और लेखकों का घोषित रूप में जनवादी दृष्टिकोण अपनाने की क्या आवश्यकता थी ? साही का सवाल सही लगता है कि क्या कोई साहित्य हो सकता है जिसके केन्द्र में मनुष्य और उसका जीवन नहीं होता है ? जनवादी आन्दोलन के समर्थकों ने इसके लिए भी तर्क दिये हैं । वे यह स्वीकार करते हैं कि यह आन्दोलन कोई आकस्मिक स्वत:स्फूर्त आन्दोलन नहीं है ।

एक ऐतिहासिक विकास-क्रम में ही इसकी चेतना का प्रसार होता है । लेकिन वे यह भी दावा करते हैं कि इस विकास क्रम के बावजूद यह जनवादी धारा पहले के साहित्य से भिन्न है । पहले के साहित्य में आधार के रूप में जो मूल्य थे, उनसे जनवादी साहित्य के मूल्य अलग हैं ।

प्रदीप सक्सेना इस जनवादी धारा का समर्थन करते हुए कहते हैं कि "जनवादी साहित्य एक विशेष प्रकार का साहित्य है । यह विशेष प्रकार कोई आश्चर्यजनक प्रवृत्ति नहीं बल्कि जन समूह के हृदय के विकास का ही परिष्कृत रूप है । लाखों करोड़ों खुरदरे भद्दे और अनगढ़ हाथों में अन्तर्निहित सौन्दर्य की आत्मिक पुनस्संस्कार में सक्षम अभिव्यक्ति है ।" जनवादी आन्दोलन के उद्भव की प्रासंगिकता को स्पष्ट करते हुए उनका मानना है कि "एक ओर व्यवस्था के अपने पत्र-पत्रिकायें, लेखक, संपादक, प्रकाशक संस्कृति के नाम पर जनवाद विरोधी मुहिम चला रहे थे, तो दूसरी ओर ऐसी लहर उठी जो शोषण, दमन, भूख और बेरोजगारी, लूट और तबाही के तन्त्र और उसकी हिमायती संस्कृति से टकरानेवाली शक्तियों की आवाज थी ।"46 इस जनवाद का आधार वे मजदूर और किसान एकता भी मानते हैं । लेकिन इस संदर्भ में साही का प्रश्न अपनी जगह कायम है कि "आप समाज को बदलनेवाले मजदूरों के किस संगठन की बात कर रहे हैं, आई.एन.टी.यू.सी., हिन्द मजदूर सभा या आई.ए.टी.यू.सी. की ? जिस शोषित पीड़ित जनता की ओर आपका संकेत है, वह कौन-सी है ? जिसने आन्ध्र के चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी को वोट दिये या कांग्रेस को या सोशलिस्ट पार्टी को ? ... ये प्रश्न चिन्तन की इस स्थिति में स्वाभाविक और आवश्यक हैं, क्योंकि

'जनवादी' साहित्य के चरम उद्देश्य एवं श्रेष्ठता की समस्या इनके उत्तर पर ही निर्भर करती है ।"47

साही 'जनवादी' साहित्य अथवा साहित्यिक दर्शन को अस्पष्ट और भ्रान्तिमूलक ठहराते हैं । उनका कहना है कि जनवादी आलोचक किसान-मजदूर संगठन और उनके संघर्ष की बात तो करते हैं लेकिन यह स्पष्ट नहीं करते कि वह शोषित जनता कौन है और उनका संघर्ष क्या है और जनवादी साहित्य पहले के साहित्य से किस तरह भिन्न है । जनवादी साहित्यिक दर्शन की कमियाँ साही इस प्रकार गिनाते हैं - "प्रथम तो यह कि प्रचलित अथवा प्रचालित अर्थ में 'जन' शब्द अत्यन्त भ्रामक, अस्पष्ट और अन्तर्विरोधपूर्ण है, द्वितीय यह कि उस 'जन' की उपयोगिता सामान्य नैतिकता अथवा सामान्य मानव संवेदना या सहानुभूति से किस प्रकार भिन्न होगी, यह अस्पष्ट है और इसलिए उपयोगितावाद का सारा इन्द्रजाल ही थोथा है, कम से कम समीक्षात्मक अन्वेषण को पहले से अधिक प्रत्यक्ष नहीं बनाता । तृतीय, 'जनवादी' सिद्धान्त-शास्त्रियों के पास इसका निर्णय देने की कोई कसौटी नहीं है कि इस उपयोगिता की अभिव्यक्ति साहित्य में अन्य वैचारिक माध्यमों से अलग, किस आधार पर होगी और वह आधार साधारणीकरण, प्रभविष्णुता, सौन्दर्य अथवा अन्य प्रचलित कसौटियों से किस प्रकार भिन्न है । स्पष्ट शब्दों में वह क्या है जो साहित्य को साहित्य बनाता है, श्रेष्ठ साहित्य बनाता है, इस प्रश्न का कोई भी उत्तर जनवादी समीक्षकों के पास नहीं है ।"48

कुल मिलाकर साही जनवादी साहित्य-विमर्श को 'प्रश्न से पलायन, अन्तर्विरोध एवं रहस्यवाद का कोष' मानते हैं और उन सभी जनवादी आलोचकों को

एक ही खूंटे से बांधते हैं जो एक दूसरे को 'कुत्सित समाजशास्त्री' सिद्ध करने में लगे रहते हैं ।

साहित्य में तथाकथित जनवाद का विरोध करने के बावजूद साही राजनीति और साहित्य के अनिवार्य सम्बन्ध को अस्वीकार नहीं करते । वे कहते हैं कि "जिस तरह आज राजनीति से साहित्य को अलग रखने का नारा लगानेवाले मध्यमवर्गीय कलाकार प्रतिक्रियावादी हैं, उसी तरह राजनीति की तानाशाही में कैद करके समस्त साहित्य को पार्टी का अस्त्र मात्र घोषित करनेवाले कला के दुश्मन हैं ।"49 यह स्पष्ट है कि वे राजनीति और सहित्य को एक-दूसरे का विरोधी नहीं मानते, लेकिन साहित्य पर राजनीति के हावी होने का विरोध करते हैं और एक सीमा तक ही राजनीति या विचारधारा की भूमिका को स्वीकार करते हैं । यह ध्यातव्य है कि हर बड़ा रचनाकार, भले वह किसी खास विचारधारा का समर्थक हो, साहित्य में उस विचारधारा की तानाशाही को कभी स्वीकार नहीं करता । इस मुद्दे पर अपने तईं विचार करते हुए मलयज ने लिखा है कि "साहित्य बनाम राजनीति की बहस पुरानी है, इतनी पुरानी कि कभी-कभी यह कहने को जी चाहने लगता है कि साहित्य के संदर्भ में राजनीति शब्द बड़ा विस्फोटक है ... 'राजनीति' साहित्य का स्थानापन्न नहीं है, वैसे ही जैसे साहित्य राजनीति का स्थानापन्न नहीं है । लेकिन राजनीति मनुष्य की उतनी ही बुनियादी हरकत है जितनी की साहित्य और इन दोनों हरकतों के बीच एक अटूट रिश्ता है । मनुष्य राजनीति में अपने को सम्बोधित करता है अपने कर्म से और साहित्य में उसे ही पाता है अपनी अभिव्यक्ति से । ... जातीय संस्कृति एक ऐसा संदर्भ है जिसमें न तो साहित्य स्वयं-पर्याप्त है, न राजनीति । उस संस्कृति की रक्षा न तो साहित्य को स्वयं पर्याप्त मानकर की जा सकती है न

राजनीति को । दोनों को अपनी-अपनी धुरी पर स्वयं पर्याप्त मानना उनके बीच की जरूरी संवाद की संभावना को खत्म करना है ।"50

साही मार्क्सवादी साहित्य की चर्चा करते हुए आज के साहित्य को दो हिस्सों में बाँटते हैं । "एक तो वह साहित्य जो तात्कालिक और विशुद्ध राजनीतिक है । यह राजनीतिक साहित्य घोर प्रतिक्रियावादी और जनवादी दोनों प्रकार का हो सकता है । परन्तु तात्कालिक राजनीतिक साहित्य के अतिरिक्त एक बड़ा हिस्सा ऐसा भी है जो कला और संस्कृति के अन्य मूल्यों पर अधिक महत्व देता है ।"51 स्पष्ट ही साही इस दूसरे प्रकार के साहित्य के पक्षधर हैं । इन मूल्यों को सुरक्षित रखने के लिए लेखक को राजनीतिक प्रभाव और सरकारी सहायता से मुक्त रहना चाहिए । वे यह स्वीकार करते हैं कि अपनी आजीविका के लिए साहित्यकार को कई बार सरकार पर निर्भर होना पड़ता है, लेकिन उनकी चेतावनी है कि 'सरकार की सहायता खतरे से खाली नहीं है ।' वे लिखते हैं : "सरकार का कर्तव्य हो सकता है कि वह लेखक की सहायता करे, किन्तु लेखक का यह कर्तव्य कदापि नहीं है कि वह सरकार की सहायता करे । यों तो हर सरकारी सहायता खतरे से खाली नहीं है, चाहे वह सरकार पूंजीवादी हो या समाजवादी । बहुत कुछ 'सरकारी सहायता' के प्रति लेखक का रुख उसी सतर्कता का होना चाहिए जैसा आज स्वतन्त्र देशों का तथाकथित 'अमरीकी सहायता' के प्रति है । हमें बराबर यह प्रश्न पूछते रहना चाहिए कि इसमें (अंग्रेजी मुहावरे के अनुसार) कही कोई डोर तो नहीं बंधी हुई है ?" कुल मिलाकर साही का यह मंतव्य है कि "उठती हुई जनता का साहित्य अनिवार्यत: एक बड़े अंश में राजनीति से प्रभावित होगा, इसलिए कि राजनीति जनता के उत्थान का आवश्यक माध्यम है । परन्तु यह प्रभाव टोटैलिटेरियन स्वरूप

ग्रहण नहीं करेगा, क्योंकि आदिकाल से साहित्य मुक्त वातावरण में ही पुष्पित होता आया है ।"52

यह ध्यातव्य है कि साही एक साहित्यकार होने के साथ-साथ एक सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता भी थे । वे आजीवन इन दोनों दायित्वों को संतुलित ढ़ंग से निभाते रहे तथा दोनों क्षेत्रों में पूरी तरह डूबकर भी उन्होंने दोनों को एक-दूसरे पर हावी होने नहीं दिया । हालांकि हर क्षेत्र में उनका अभिगम मानवीय संवेदनशीलता की बुनियाद पर खड़ा है और उनका लक्ष्य हमेशा मनुष्य ही रहा है । चाहे वह कविता में हो, आलोचना में हो या राजनीति में । प्रसंगवश मिर्जा युसुफ बेग ने लिखा है कि 'किसी भी राजनीतिक व्यक्ति में साही की तरह का सोच नहीं मिलता ।' इसके बावजूद कि उनके साहित्य पर राजनीतिक विचारधारा का प्रभाव तथा राजनीति पर साहित्यिक संवेदनशीलता का प्रभाव रहा, वे साहित्यकारों के बीच शुद्ध साहित्यकार और राजनीतिकों के बीच शुद्ध राजनीतिक रहें ।

मानव जीवन को समग्रता में देखने की इसी दृष्टि के कारण वे साहित्य में अश्लीलता की बात को भी नकार देते हैं । उनका मानना है कि अश्लीलता के नाम पर भौतिक जैविक क्रियाओं की वर्जना से मानव अनुभव का एक बहुत बड़ा खण्ड अछूता और अपरिष्कृत रह जाता है । इन जैविक क्रियाओं के अस्वीकार को वे मानसिक, सांस्कृतिक अपरिपक्वता का चिह्न मानते हैं । वे कहते हैं कि जो मस्तिष्क अश्लीलता का विरोध-मात्र इस आधार पर करता है कि उसका प्रभाव लोगों के चरित्र पर क्या पडेगा, वह अपरिपक्व, पंडिताऊ और अर्धसत्य है । संस्कृति के विकास में इन्हीं जैविक क्रियाओं का परिष्कार होता है । साही इन क्रियाओं के साहित्य में वर्णन को संस्कृति के विकास का द्योतक मानते हैं । वे एक

उदाहरण देते हैं कि चुंबन को आज एक अनुभूति के रूप में स्वीकार कर लिया गया है, जो स्नेह, विह्वलता, शान्ति कातरता की कल्पना प्रस्तुत करता है, लेकिन रति-क्रिया के वर्णन को अश्लील माना जाता है क्योंकि हमने इसे चुम्बन या आलिंगन की भांति विविध और सूक्ष्म अनुभूतियों से सम्बद्ध करना नहीं सीखा है । जैसे-जैसे संस्कृति अथवा सभ्यता का विकास होता जाता है, हमारी अनुभूतियाँ समृद्ध, सूक्ष्म, गहन और विविध होती जाती है । हम एक ऐसे स्तर की कल्पना कर सकते हैं जब रति-क्रिया का सुस्पष्ट वर्णन हमें उसी प्रकार भाव-प्रवण छोड़ जाय जिस तरह छायावादी कविता में अनन्त से आनेवाले अज्ञातप्रिय का आध्यात्मिक दर्शन मात्र ।"53 साहित्य में अगर शारीरिक क्रियाओं का कोई वर्णन हमारी अनुभूति में कोई नया आयाम जोड़ता हो, हमारी सामान्य अनुभूति में सूक्ष्मता, विविधता और गहराई उत्पन्न करता हो, तो उस वर्णन को साही अश्लील नहीं मानते ।

रामस्वरूप चतुर्वेदी तो यहां तक मानते हैं कि "कला-रचना में अश्लीलता नहीं होती, हो ही नहीं सकती - वह पाठक या दर्शक की दृष्टि में होती है । जहाँ कला है वहाँ अनुभव की समग्रता है, जहाँ अनुभव खण्डित हो जाता है वहीं अश्लीलता आती है । इसलिए कला, जो अनुभव की समग्रता की ही अभिव्यक्ति है, में अश्लीलता का प्रश्न नहीं उठता । जहाँ भी अश्लीलता है वहाँ या तो कला ही नहीं है या कला-अनुभव को समझने की दृष्टि नहीं है ।"54

जाहिर है कि साही और रामस्वरूप चतुर्वेदी जिस पाठक को दृष्टि में रखकर ये बातें कह रहे हैं, वह सभ्य-सुसंस्कृत पाठक है । यहां 'सभ्य' का अर्थ 'परिष्कृत मानसिकता' है । यह जरूरी नहीं है कि किसी रचना का हर पाठक इस अर्थ में सभ्य हो । अपरिपक्व या अपरिष्कृत मानसिकता वाले पाठक के लिए साहित्य में

जैविक क्रियाओं का वर्णन अश्लीलता ही होगी और ऐसे पाठक के लिए यह साहित्य प्राय: खतरनाक भी सिद्ध होता है । जब तक पाठक ऐसे वर्णन से भावप्रवण नहीं हो जाता, उसकी अनुभूति शारीरिक वासनाओं तक ही सीमित रहेगी और ऐसी स्थिति में या ऐसे पाठक के लिए वह साहित्य निश्चित ही अश्लील होगा ।

स्पष्ट ही साही का पूरा चिन्तन साहित्य से जुड़े विभिन्न सवालों पर केन्द्रित है और लेखन-क्रम में इन्हीं सवालों से वे निरन्तर जूझते रहे हैं । अपने तमाम लेखों, बहसों और भाषणों में उन्होंने उन मूलभूत प्रश्नों को उठाया है जो साहित्य की दशा और दिशा को निर्धारित करते हैं । व्यावहारिक समीक्षा के दौरान भी उनका उद्देश्य किसी कविता या कवि का विश्लेषण करने के बहाने साहित्य के इन मुद्दों पर बहस करना ही रहा है । 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' पर विचार करते हुए उन्होंने एक स्थान पर काव्य-विषयक सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया है । उन्होंने लिखा है कि "हमारे चारों ओर रोजमर्रा का एक जीवन है । इसी का अतिक्रमण करने की कोशिश कविता करती है । इस रोजमर्रा के जीवन को हम चाहें तो तमस् कह लें, मध्यमवर्गीय कुण्ठाएँ कह लें, कोल्हू के बैल का अँधा चक्कर कह लें, वस्तुओं का शिकंजा कह लें, लोलुपता और फैशन कह लें या विज्ञान की जड़, यांत्रिक दुनिया कह लें - लेकिन क्या हम उसे उसी निपट आत्मविश्वास के साथ 'असत्य' कह सकते हैं जिस तरह 'प्राकृत-जन' के गुणगान को तुलसीदास ने एक चौपाई में कह डाला था ? अगर चारों ओर का प्राकृत जीवन सत्य है तो फिर क्या सचमुच हम सत्य का ही अतिक्रमण नहीं करते ? किस ओर ? सत् से असत् की ओर ? ... कविता के जन्म में ही निषेध का तीर बिंधा हुआ है ।"55 जाहिर है कि उपर्युक्त लम्बे उद्धरण में कविता के बारे में जो बातें कही गई हैं उनमें साही का

कवि-आलोचक रूप उभरकर सामने आया है । अपने शब्द-कर्म के प्रति लेखक का गहरा विश्वास उसे अपने समय का यथार्थ चित्रण करने की सामर्थ्य तो देता ही है साथ ही उसे अतिक्रमित करने की दृष्टि भी देता है । इसी वजह से किसी भी महान कविता का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य अत्यंत प्रच्छन्न होता है । वह अपने रचनाकाल के साथ क्षरित नहीं हो जाती बल्कि उसका अतिक्रमण करती हुई नये से नये युग के लिए भी जरूरी संदेश दे पाती है ।

सवाल यह खड़ा होता है कि जब हमारे समाज और वस्तुजगत का यथार्थ अनेकानेक विसंगतियों से ग्रस्त है, तो इसके अधूरेपन का चित्रण करने और उसे पाटने के साहित्य में कौन-सी प्रविधि अपनायी जाय । इस सन्दर्भ में स्मरणीय है कि वस्तुजगत के यथार्थ चित्रण को किसी एक साहित्यिक प्रविधि तक ही सीमित नहीं किया जा सकता है । उदाहरण के लिए 'फन्तासी' बुनियादी तौर पर एक अयथार्थवादी प्रविधि है । पर•उसके द्वारा भी यथार्थ की जबरदस्त व्यंजना के अनेक उदाहरण हिन्दी साहित्य में मौजूद है । 'अंधेरे में' या 'मुक्तिप्रसंग' जैसी यथार्थवादी कविता वस्तुत: फन्तासी पद्धति से ही लिखी गई । कहने का तात्पर्य यह कि यदि फन्तासी हमें यथार्थ तक ले जाती है, तो वह कतई त्याज्य नहीं है । अपने समय के कुरूप यथार्थ का विरोध करने के लिए कई बार लेखक फन्तासी के लोक की रचना द्वारा एक तरह से समानान्तर संसार का सृजन करने की पेशकश करता है । यही फन्तासी के शिल्प का मानवीय पहलू है ।

विजयदेवनारायण साही ने साहित्य सम्बन्धी अपने विवेचन के दरम्यान 'यूटोपिया' पर जो विमर्श प्रस्तुत किया है, वह भी कुल मिलाकर यूटोपियाई रचना-संसार के मानवीय पहलू की खोज की दिशा में उठाया गया एक सशक्त कदम है ।

कारण यह कि प्राय: यूटोपिया को भी फन्तासी की तरह यथार्थ विरोधी साहित्यिक प्रविधि माना जाता है । प्रसंगात् उन्होंने लिखा है कि "यूटोपिया भविष्य की भविष्यता नहीं, बल्कि उसकी वर्तमानता है, अर्थात् यूटोपियन दृष्टि वर्तमान का निषेध नहीं करती, भविष्य और वर्तमान के बीच जो अंतराल है, उसका निषेध करती है । तब उस 'घिरे हुए असीम' का क्या होता है ? क्या वह घिरा हुआ या असीम नहीं रह जाता ? घिरा हुआ असीम वह तब भी रहता है; फर्क इतना है कि जो कुछ पहले अभाव या रिक्तता की तरह लगता था, वह सहसा भाव या परिपूर्ति में बदल जाता है । शून्य अवस्था धन अवस्था में बदल जाती है ।"56 साहित्य और दर्शनशास्त्र के बीच द्विभाजकता को स्थापित करते हुए कुछ विचारकों ने दर्शन को श्रेय और साहित्य को प्रेय कहा है, जबकि वास्तविकता यह है कि श्रेय और प्रेय दोनों दिन और रात की भांति परस्पर अलग-अलग हैं । श्रेय का अभिप्राय विद्या और प्रेय का अविद्या है । विद्या का परिणाम मुक्ति और अविद्या का सर्वनाश है । अत: साहित्य को प्रेय कहना दूसरे शब्दों में उसे नरक का पथ ही कहना है । पर चूंकि साहित्य नरक का नहीं स्वर्ग का स्वर्णिम सोपान है, इसीलिए उसे किसी भी प्रकार प्रेय कहने का दुस्साहस नहीं किया जा सकता । सच तो यह है कि साहित्य और दर्शन को एक ही श्रेय का हृदय और मस्तिष्क, भाव और ज्ञान या अनुभूति और चिन्तन कहकर सम्मान मिलना चाहिए । 57 साहित्य और दर्शन के परस्पर सम्बन्धों को लेकर प्रस्तुत की गई इस भाववादी स्थापना से भिन्न मत प्रतिपादित करते हुए विजयदेवनारायण साही ने लिखा है कि कविता दर्शन नहीं है क्योंकि कवि अपनी मान्यताओं का चुनाव जिस तरह करता है, उस तरह दार्शनिक नहीं । दार्शनिक अपनी मान्यताओं में उनकी अपनी परस्पर संगति खोजता है, जबकि कवि के पास मान्यताओं के लिए एक ही संगति है जो जीने की जरूरत से सम्बद्ध होती है

। 58 उनका मानना है कि किसी कवि की काव्यानुभूति की बनावट की व्याख्या को दर्शन के रूप में ग्रहण करने के बजाय दृष्टि व एहसास के रूप में ग्रहण करना ज्यादा सही होगा । यह ठीक है कि वस्तुपरकता और आत्मपरकता रूपी दो आयामों से कवि की चेतना निर्मित होती है, पर काव्यानुभूति के क्षण में यह सारी स्थिति इस तरह अलग-अलग नहीं प्रस्तुत होती । उसकी प्रतीति एक समूची इकाई की तरह होती है । यह इकाई यथार्थ की इकाई है । स्मरणीय है कि ऐसी कविताओं में काल देश में परिवर्तित होकर 'यूटोपिया' का निर्माण करता है, जिसका अस्तित्व वस्तुतः अतीत और भविष्य दोनों की वर्तमानता में है । साहित्य लेखन के क्षेत्र में जहाँ ऐसी स्थिति दिखाई पड़ती है, उसे साही 'इतिहास को इतिहास के भीतर देखने की कोशिश' के रूप में रेखांकित करते हैं ।

आचार्य शुक्ल का एक सुप्रसिद्ध कथन है कि 'काव्य में अर्थ-ग्रहण से काम नहीं चलता, बिम्ब-ग्रहण आवश्यक होता है ।' साही के अनुसार बिम्ब न तो प्रतिच्छवि है और न ही छायाभास ही - वह इन दोनों के बीच की स्थिति है । उनके अनुसार देखने की क्रिया ही बिम्ब देखना है । बिम्बों का सृजन ही काव्यानुभूति की वह नैसर्गिक अवस्था है, जहाँ वह जीवन की अनुभूति से एकाकार होती है । बिम्ब आत्म की वस्तुता और वस्तु की आत्मता की तलाश है । अपनी बात को ऑप्टिक्स के उदाहरण से स्पष्ट करते हुए साही ने लिखा है कि "जिस तरह वर्तुल आइने में देखने पर प्रतिबिंब आईने और देखने वाले के बीच अन्तर्वर्ती विस्तार में अटका हुआ मालूम पड़ता है - उसी तरह चित् और अचित् के दोनों दर्पण बीच में एक बिम्बलोक का निर्माण करते हैं ।"1 सामान्यतः यह माना जाता है कि किसी भी श्रेष्ठ कविता की श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर करती है कि वह अपने समय की आत्मगत और वस्तुगत समस्याओं के द्वन्द्व को कितनी गहराई के साथ उजागर कर

पाती है । तात्पर्य यह कि कविता में और कई बार जीवन के दूसरे क्षेत्रों में भी बने बनाये उत्तर पाने की कोशिश के बजाय गम्भीरता के साथ मनुष्यता की बेहतरी के लिए जरूरी सवाल खड़ा करना ज्यादा महत्वपूर्ण होता है । यह दूसरी बात है कि कई बार रचनाक्रम में साहित्यकारों द्वारा उठाये गये प्रश्नों के कोर पर उत्तर की संभावना भी झिलमिलाती है । साही के शब्दों में वही बिम्बलोक है । उनके शब्दों में "कभी-कभी ऐसा होता है कि बिंबलोक दरार को पूरा का पूरा भर देता है । सुन्दरता का अहैतुक अवतार, अनंत और अपरम्पार लीला होने लगती है । यह यूटोपिया का वह क्षण है जिसमें पूरा का पूरा काल देश में परिवर्तित हो जाता है । अत्यधिक उल्लास और चमकते हुए उत्साह के साथ, परिपूर्ति का यह अनुभव एक नये तरह की नि:सीमता, बन्धन-मुक्ति और स्वतन्त्रता की नि:सीमता से कवि का साक्षात्कार कराता है, क्योंकि यह सिर्फ उल्लास और आवेग का नहीं बल्कि एक बहुत बड़ी विजय का भी क्षण है ।"59

एक अन्य स्थान पर 'यूटोपिया' और 'बिंबलोग' के बीच अन्त: सम्बन्ध को रेखांकित करते हुए साही सवाल उठाने की मुद्रा में अपनी बात शुरु करके अंतत: सूक्ति के रूप में एक निष्कर्ष सामने रखते हैं : "आखिरकार यूटोपिया का मतलब क्या है ? वह लोग जिसका अस्तित्व नहीं है । इस तरह उसके अस्तित्व में ही अस्तित्व का आवरण है । उसक संकल्प जितना शुद्ध, जितना उन्मुक्त होगा, उतना ही वह निषिद्ध एवं वर्जित होता जाएगा, इसी कारण वह बिंबलोक है ।"60 इसी क्रम में उन्होंने बिंब और बिंबलोक के अन्तर को भी स्पष्ट किया है । उनके शब्दों में 'यह लगभग उसी तरह का अन्तर है जो विष्णु और विष्णु-लोक में है । विष्णुतत्व और विष्णुलोक में अंतर है ।' उसी तरह बिंब के बिंबतत्व और बिंबलौकिकता में

अंतर है ।' इस दृष्टि से विचारते हुए उन्हें प्रतीत होता है कि "शमशेर की कविता में घिरे हुए असीम को बिंब की बिम्बात्मकता नहीं, उसकी बिम्बलौकिकता भरती है । अंतिम रूप में शमशेर की काव्यानुभूति बिम्ब की नहीं, बिम्बलोक की अनुभूति है । इसी का निर्माण वे बार-बार करते हैं और विविध बिंबों के बावजूद एक ही कविता लिखते हैं । अन्ततः इस बिम्बलोक में बिंब का भी पर्यवसान हो जाता है । लेकिन बिम्ब का पर्यवसान उस लोक का भी पर्यवसान है ।"61

'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' विजयदेवनारायण साही रचित हिन्दी में अपने ढ़ंग का इकलौता आलोचनात्मक निबन्ध है जिसमें दर्शन, इतिहास, राजनीति और कविता- सब घुल मिलकर ए हो गये हैं । साही ने इस निबन्ध में कविता के द्वारा युग को समझने का प्रयास किया । उन्होंने युग को परिचालित करनेवाले मूल भावों को पकड़कर उन भावों की सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक अभिव्यक्ति को सामने रखा । सामान्यतः जब परिवर्तन की प्रक्रिया अत्यन्त तीव्र होती है, तब सम्पूर्ण युग एक इकाई में गठित हो जाता है और युग की चिन्तनधारा एक दिशा में बहने लगती है । इसकी पृष्ठभूमि में सक्रिय निश्चित भावों को पकड़ना अपेक्षाकृत सरल है, लेकिन जब परिवर्तन की प्रक्रिया धीमी होती है या परिवर्तन की दिशाएँ एक दूसरे को काटती हुई भिन्न दिशाओं में बहती हैं, तब इस तरह का सामान्यीकरण लग-भग असंभव हो जाता है । स्पष्ट ही युग के विश्लेषण के इस सामान्यीकरण में साही को केवल लोहियावादी समाजवाद ही नहीं बल्कि मार्क्सवादी तर्क पद्धति से भी पर्याप्त सहायता मिली है, जिसका इस्तेमाल उन्होंने हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना में प्रचलित जड़सूत्रतावादी प्रवृत्तियों का मुकाबला करने के लिए किया है ।

ग़ौरतलब है कि साही के इस निबन्ध के मद्देनजर नई कविता में जिस 'लघुमानव' को लेकर बहुत बहस हुई है, उस पद के प्रथम प्रयोक्ता लक्ष्मीकान्त वर्मा है । 'नई कविता के प्रतिमान' नामक उनकी पुस्तक में पहली बार 'नई कविता' के प्रसंग में 'लघुमानव' को सामयिक विशिष्टता के साथ प्रस्तुत किया गया । ऐसा 'लघुमानव' जो बड़ा भले ही न हो, पर लघु होने के साथ अपने प्रति जागरुक हो । 'नई आलोचना' के निर्माणाधीन मुहावरे के पक्ष में यह एक नई बात थी । उन्होंने 'लघुमानव' को लघु परिवेश की उपज माना । इतना ही नहीं, 'हिन्दी साहित्य कोश भाग-1' में उन्होंने इसे दूसरे शब्दों में परिभाषित किया कि 'नई कविता' आज की मानव विशिष्टता से उद्‌भूत उस 'लघुमानव' लघु परिवेश की अभिव्यक्ति है, जो एक ओर आज की समस्त तिक्तता और विसमता को तो भोग ही रहा है, साथ ही इन समस्त तिक्तताओं के बीच अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखना चाहता है ।' 'लघुमानव', 'लघु परिवेश' के साथ 'नई कविता' में 'लघु समय' - क्षण के महत्व को रेखांकित करते हुए उन्होंने अपने समय के जीवन में चोटियों की अपेक्षा विस्तार की समानता का स्वर सुना और संभावना व्यक्त की कि "संभव है आज की कविता में कई चोटियाँ न दिखाई पड़े जिन्हें हम आरोह की प्रज्वलित शिखाएं कह सकें, किन्तु यदि वे खण्ड दीपकों की टिमटिमाती लौ के समान पृथ्वी की ओर उन्मुख है तो निश्चय ही प्रकाश के इस पुंज का आलोक अधिक विस्तार पा सकेगा । आज के जीवन में चोटियों की अपेक्षा 'विस्तार की समानता' की मांग अधिक तीव्र है । यदि यही समानता जीवन से अनुप्राणित है, तो मुझे शिखरों का मोह नहीं लगता ।"62

वस्तुत: लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'लघुमानव' को 'जन-मानव' ही नहीं, उस जन साधारण के भी विरुद्ध खड़ा किया था जो इतिहास की धारा को मोड़ सकता है ।

उन्होंने शक्ति का स्रोत व्यक्ति को बतलाया था, उसकी आत्मा को, संगठन को नहीं क्योंकि उसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता मारी जाती है, उसका व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाता है, क्योंकि वह स्वतन्त्र निर्णय नहीं ले सकता, विकल्पहीन हो जाता है, उसके पास चुनने की स्वतन्त्रता नहीं रह जाती । गजानन माधव मुक्तिबोध ने 'नई कविता की प्रकृति' शीर्षक लेख में इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "हम तो केवल 'लघुमानव' हैं, साधारण जनता नहीं । साधारण जनता में विश्व परिवर्तन की अदम्य क्रांतिकारी शक्ति होती है । लेकिन उन नीति-नियामकों के लेखे, वह भीड़ की अंधी ताकत है । वास्तविक चेतना तो व्यक्ति के अपने आभ्यंतर की समृद्धि है । तो इसलिए व्यक्तित्व की इकाई महत्वपूर्ण है । यह इकाई 'लघुमानव' है, क्योंकि अब यह इकाई महान आदर्शों के उच्चतर स्तर की प्राप्ति के पीड़ाजनक भीषण प्रयत्नों में संलग्न नहीं है, न हो सकती है । महान आत्माओं, महान प्रतिभाशालियों, महामानवों का युग गया । अब हम जन-साधारण भी नहीं, केवल 'लघुमानव' हैं । क्योंकि हम जन-साधारण हो जाएं तो वामपंथी मनोवृत्तियों के शिकार होकर, भीड़ की अंधी ताकत बनते हुए, अपनी व्यक्तिगत इयत्ता को खो देंगे । इसलिए हमें जन-साधारण से लघु-मानव बन जाना चाहिए ।"63

इन सारी बातों के बावजूद यह सत्य है कि 'लघुमानव' सम्बन्धी चर्चा के केन्द्र में लक्ष्मीकान्त वर्मा के बजाय विजयदेवनारायण साही ही प्रतिष्ठित रहे हैं । अपने निबन्ध में साही ने भले ही 'लघुमानव' को केन्द्र में रखा हो, लेकिन विमर्श का दायरा व्यापक है । इसमें छायावाद की मनोभूमि को साही ने पहली बार पूरी गहराई और व्यापकता से समझने की कोशिश की है । उसके पूरे पृष्ठाधार को 'कैन्वास' की तरह संयोजित करके उन्होंने जो चित्र बनाया है, वह आकर्षक ही नहीं,

वैचारिक उत्तेजना से भरपूर भी है । इस उल्लेख के अध्येता के लिए यह समझ पाना मुश्किल न होगा कि इसके लेखक का एक पाँव राजनीति में है और दूसरा साहित्य में । उन्होंने इसमें कई महत्वपूर्ण प्रश्न खड़े किये हैं जैसे - 1. क्या लघुमानव की मृत्यु हो गई है ? 2. क्या लघुमानव की कल्पना ने आज के साहित्यिक कृतित्व की रूपरेखा समझने में कोई मदद की ? 3. या सिर्फ एक कौतुहल पूर्ण आग्रह बनकर रह गया ? स्पष्ट ही तीसरा सवाल दूसरे से सम्बद्ध है । आलेख के प्रथम परिच्छेद से ही यह संकेत मिल जाता है कि 'लघुमानव की मृत्यु को असमृद्ध मानते हुए भी साही उसकी शवपरीक्षा करने चले हैं । लघुमानव उनके विमर्श के केन्द्र में आया है, तो स्वभावत: महामानव भी आयेगा ही । "लेकिन 'लघु' या 'महत्' से भी पहले साही मनुष्य की अवधारणा पर विचार करते हैं और इस प्रक्रिया में पहले ही 'सम्पूर्ण मनुष्य' को सर्वदा के लिए ग्रहण करने से इनकार कर देते हैं । उनकी दृष्टि में मनुष्य 'उपलब्धि और सम्भावना दोनों का मिश्रण' है इसलिए उसका बहुत कुछ पकड में आते-आते छूट जाता है । सम्भावना को साही सत्य और सृष्टि दोनों रूपों में देखते हैं ।"64 उन्हीं के शब्दों में - "देश-काल-विपन्न प्रतिक्षण सर्जित-विसर्जित मानववादी भी मनुष्य के उस 'अनन्त' को, जो सम्भावना का विस्तार है, कम से कम भविष्य में फैला हुआ देखता है और जो मनुष्य को मूलत: देशकालातीत 'सत्य' मानते हैं, वह तो उसकी पकड में न आने वाली अनन्तता का ढ़िंढोरा पीटते ही हैं ।"65 "इसमें कहीं दबा हुआ स्वर मनुष्य को तात्कालिकता के भीतर लाने का है और इस तात्कालिकता के भीतर लघु मानव की अवधारणा का बीज-वपन होता है ।"66

आलोचक की स्व-निर्धारित भूमिका के साथ साही 'लघुमानव' की अवधारणा तय करते हुए कहते हैं कि मनुष्य की पूर्णता या कहें सम्पूर्ण मनुष्य केवल एक संभावना है और संभावना यथार्थ नहीं है । यथार्थ है 'सहज मनुष्य' । वह कोई भी हो सकता है । साही के शब्दों में "कम से कम मनुष्य की हर परिभाषा मूलत: सहज मनुष्य की परिभाषा है ।"67 सच तो यह है कि उनका 'लघुमानव' भी बहुत हद तक एक 'सहज मनुष्य' ही है । 'सहज मनुष्य' की पहचान वैज्ञानिक भले न हो, सृजनात्मक अवश्य हो सकती है । एक अन्य स्थान पर उन्होंने सृजनात्मकता को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "सृजनशीलता आसान रास्ता छोड़कर नये रास्ते तैयार करती है जो शब्दों की परिपाटीग्रस्त अभिव्यक्ति और बाजारू अभिव्यक्ति इन दोनों खतरों से बचाकर जीवित अभिव्यक्ति बनाती है । इसीलिए वह सृजनशीलता है ।68 साही द्वारा प्रयुक्त 'लघुमानव' पद उनकी सृजनशील अभिव्यक्ति का ही नमूना है । साही के इस 'लघुमानव' की सम्भवत: पहली बार शिनाख़्त करते हुए मलयज ने सही लिखा है कि "सामान की फेरिस्त टटोलने पर जो समीकरण हाथ लगता है वह है - औसद आदमी क्षण-क्षण का यथार्थ-बाह्यारोपित विचारधारा या दर्शन का विरोध । कारख़ाना वही है जहां से 'नयी कविता' की सैद्धान्तिक मान्यताएं अक्सर आकार पाती रही हैं : एक संक्रान्तिकालीन परिवेश में व्यक्ति की स्वानुभूति । इस कारख़ाने में ढलकर जो लघुमानव निकला उसे लक्ष्मीकान्त वर्मा ने जिस-जिस 'मानव' के विरुद्ध खड़ा किया उसकी सूची लम्बी है, पर प्रमुख है नीत्शे का 'अतिमानव' और मार्क्स का 'समूह' मानव ।"69 मलयज का कहना है कि यह 'लघु मानव' लग-भग आम आदमी का सगा भाई है । इस तरह "लघुमानव के लिए एक बार बाह्योपित विचारधारा या जीवन-दर्शन से छुटकारा मिल जाने पर स्वानुभूति के केन्द्र से निकली तमाम तरह की अस्तित्ववादी

धारणाओं के लिए रास्ता साफ हो जाता था । इसलिए जब लघु मानव क्षण-क्षण के यथार्थ की बात करता है तब 'वरण की स्वतन्त्रता' और 'व्यक्ति की अद्धितीयता' की बात भी उसके साथ जोड़ देता है । इन अस्तित्ववादी धारणाओं के साथ नत्थी होने के कारण ही 'लघु मानव' का जीवन-संघर्ष सार्वजनीन बनने के बजाय अजनबी बनता गया - अपने ही देश में परदेशी की तरह ।"

यह ठीक ही कहा गया है कि 'लघु मानव के बहाने साही मानव-केन्द्रित विमर्श का एक पूरा वितान तानते हैं, लेकिन बीच-बीच में यह कहना नहीं भूलते कि मनुष्य को परिभाषाओं में नहीं बाँधा जा सकता । 'महामानव', 'लघु मानव', 'सर्वसाधारण' इन सब में है अन्ततः मनुष्य ही । उसके भीतर स्वप्न है, आदर्श और स्वप्न के प्रति रुझान है, विवेक संतप्तता है और एक खास तरह की रिक्तता भी । साही ने इसे पहले युग चरित नायक नेहरू में देखा है, फिर उत्तर छायावाद के कवियों में । उनकी दृष्टि में 'छायावादी मनोभूमि' उस आन्तरिक रिक्तता के इनकार पर खड़ी होती है ।70 इतना ही नहीं उन्होंने 'गोदान' विषयक डॉ. रामविलास शर्मा की एक टिप्पणी को भी लघुमानव के पक्ष में इस्तेमाल किया है । डॉ. शर्मा ने लिखा है कि होरी नाम का किसान तो पराजित होकर खप गया, लेकिन साहित्य की अगली पीढ़ी का मनुष्य होरी के पुत्र और मेहता नामक फिलोसफर के सम्मिश्रण से निर्मित होगा ।"71 साही कहते हैं कि होरी और उसके बाद जो नयी पीढ़ी आयी, कविता में, गद्य में उसके सबके सब सदस्य प्रोफेसर मेहता द्वारा शिक्षित होरी के मानस पुत्र हैं । अपराजय विवशता द्वारा पराजित पिता के दार्शनिक पुत्र । रह गई किसानी की बात, तो जरासा खरोंच ही है, ऊपरी आधुनिक के जिल्द के नीचे हममें से कौन किसान नहीं है ? अज्ञेय नहीं है ? भारती नहीं है ?

शमशेर नहीं है ? कुँवरनारायण नहीं है ? हिन्दी के किस कवि में किसानी की गंध नहीं आती है ?

कहना न होगा कि जबरदस्त अंदाजें बयाँ के बावजूद साही के इस अत्यन्त आकर्षक कथन में सच्चाई का अंश बहुत कम है । कारण यह कि अज्ञेय, भारती, शमशेर और कुँवरनारायण की कविता में किसानी की वह गंध सिरे से गायब है, जो उन्हीं के समकालीन नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन में है । यह साही की काव्याभिरुचि की अपनी सीमा है जिसके चलते वे किसानी संस्कार की बात करने के बावजूद 'नगई महरा' जैसी कविता के लेखक का जिक्र तक नहीं करते ।

हिन्दी कथा साहित्य पर विजयदेवनारायण साही ने कविता के मुकाबले बहुत कम लिखा है । जहाँ तक कथा साहित्य को लेकर साही की सैद्धान्तिक स्थापनाओं का सवाल है, उन्होंने कहानी के मुकाबले उपन्यास को ज्यादा महत्व दिया है । प्रसंगात् उन्होंने लिखा है कि "कहीं न कहीं कथाकार होने का दावा करने वाले के लिए, उपन्यास की कसौटी पर चढ़ना जरुरी है । खास तौर से तब, जब दावा लम्बे-चौडे इन्कलाब से जुडा हुआ हो । गम्भीर आलोचना में उपन्यास के मुकाबले में कहानी का अध्याय निश्चित ही छोटा होगा । अगर उपन्यास और कहानी की दुनियाएं अलग-अलग हों, तो ज्यादा प्रामाणिक उपन्यस की ही दुनिया को मानना होगा । इस दृष्टि से देखने पर कहानी की रफ़्तार उपन्यास पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाती, बल्कि उपन्यास की मन्थर गति कहानी के तमाम कुहराम पर प्रश्नचिह्न लगाती दिखती है ।"72 जिस जमाने में साही ये बातें कह रहे हैं, उसको देखते हुए उनकी उपर्युक्त स्थापना विचित्र प्रतीत होती है । कारण यह कि उत्तरशती में कहानी और उपन्यास की विधागत स्वायत्तता और कलात्मक पूर्णता को

लेकर किसी प्रकार के भ्रम की गुंजाइश नहीं रह गयी थी ।" शुरु में कहानी और उपन्यास का अन्तर साफ न होने का कारण यह था कि आधुनिक जीवन के दबाव से प्रबन्ध काव्य और कथा के साहित्य के कथानक में तो अलगाव आया, लेकिन कथा साहित्य में विधाओं की प्रकृति निश्चित नहीं हुई थी । प्रबन्ध काव्य में कथानक का स्वरुप भाषा पर आधारित था और कथा साहित्य में कथानक का निर्माण मनुष्य और परिस्थिति के द्वन्द्व से होता था । इसलिए भाव की जगह घटना उसका नियामक बनी । शुरु में उपन्यास और कहानी दोनों ही घटना प्रधान होते थे । आगे चलकर उपन्यास में मनुष्य और परिस्थिति के द्वन्द्व का चित्रण निर्णायक हुआ । यह चित्रण प्रेमचन्द -अमृतलाल नागर - रेणु - नागार्जुन - असगर वजाहत क तरह यथार्थवादी भी हो सकता था, जैनेन्द्र - इलाचन्द्र जोशी - अज्ञेय - कृष्ण बलदेव वैद - विनोद कुमार शुक्ल की तरह आत्मपरक भी हो सकता था । कहानी धीरे-धीरे इस द्वन्द्व के संवेदनात्मक प्रभाव के चित्रण की ओर अग्रसर हुई । तब उसका स्वतन्त्र, आधुनिक स्वरुप निर्मित हुआ । इसलिए कहानी 'घटनाप्रधान' से 'चरित्रप्रधान' और 'भावप्रधान' की ओर आई । अपने आधुनिक और वर्तमान रूप में कहानी संवेदना प्रधान होती है, जिसमें घटना, चरित्र, आदर्श और भाव सभी का अस्तित्व होते हुए भी संवेदना में उनका विलय हो जाता है ।" जाहिर है कि भारतेन्दु-युग में निबन्ध का रूप और आकार चूंकि अस्थिर था, इसलिए उस जमाने में कहानी को लेकर गंभीर चिंतन का माध्यम वह न बन सका, किन्तु कालान्तर में हिन्दी कहानी के क्षेत्र में उभरे अनेकानेक आन्दोलनों और बहुत सारी महत्वपूर्ण कहानियों की रचना के चलते कहानी विषयक सैद्धान्तिक विवेचन में भी काफी गंभीरता आई । हिन्दी कहानी क्षेत्र में अन्त:प्रकृति के साथ-साथ कलात्मक संगठन के स्तर पर विकास की पूरी प्रक्रिया को नजरअन्दाज करते हुए डॉ.

रामस्वरूप चतुर्वेदी का हवाला देते हुए साही जब कहानी को कलात्मक विधा मानने से इन्कार करते हैं, तो आश्चर्य होता है । ऐसा नहीं है कि वे अपने समय तक लिखी गई कहानियों की रचनात्मक उपलब्धि से बेखबर थे । उन्होंने खुद स्वीकार किया है कि एक लम्बे अरसे तक रचनाकारों और आलोचकों के बीच कथा साहित्य को लेकर काफ़ी बहस होती रही है । "कविता में महानगर का एक झोंका आया, लेकिन इस झोंके ने उतनी साफ परिपाटियाँ नहीं बनायीं । कथा साहित्य में भी कहानी में ही ज्यादा शोर मचा । जितनी तन्मयता लोगों ने कहानी लिखने और कहानियों के बारे में बड़ी-बड़ी घोषणाएं करने में लगायी उतनी उपन्यासों में नहीं । पिछले बीस वर्षों पर निगाह डालने से उपन्यासों का रकबा काफी खाली-खाली सा लगता है, जो कुछ उपन्यास हैं भी, वे ऐसे नहीं हैं, जिन्हें केन्द्र में रखकर आन्दोलन का शोर मच सके । ... इतना तो दिखता है कि कहानियों की दुनिया में उलटफेर काफी हुआ । मगर आश्चर्य की बात यह है कि यह सिरे से बदला हुआ यथार्थ कहानियों में ही व्यक्त होता रहा । इसमें उपन्यास के क्षेत्र में वैसी ही हलचल पैदा करने की क्षमता नहीं थी ।"73

साही की स्थापना है कि कहानीकार की कथा-दृष्टि तभी प्रामाणिक मानी जा सकती है, जब कि वह उस दृष्टि के तहत उपन्यासों की रचना करने में भी समर्थ हो । प्रसंगात् उन्होंने लिखा है "कहानियों का इस तरह बहस के केन्द्र में आ जाना गोया साहित्यिक कृतित्व का पूरा दारोमदार, बल्कि युग की परिभाषा उन्हीं पर निर्भर हो, कुछ उसी तरह असन्तुलित लगता है, जैसे एकांकियों की बाढ़ के साथ घोषित कर दिया जाय कि नाटक का कायाकल्प हो गया है, जबकि वास्तविक बड़े नाटक न लिखे जाएं । इस तरह के आन्दोलन में एक क्षीणता, एक तरह का सतहीपन

वर्तमान रहेगा, जो कभी न कभी खटकेगा । कहानियों के नाम पर तथाकथित आधुनिक कथा दृष्टि की परिभाषा के साथ यह सवाल हमेशा बना रहेगा कि यदि यह कथादृष्टि प्रामाणिक और अनिवार्य है, तो उपन्यासों तक आती आती क्यों सूख जाती है । या तो उपन्यास रचती नहीं, या रचती भी है तो कमजोर, खपाचियों से जोड़े हुए, दिमाग पर हावी होने में असमर्थ ।"74 साही का उपर्युक्त मन्तव्य बहुत हद तक एकांगी प्रतीत होता है । कारण यह है कि कहानी अपने आप में उपन्यास से बहुत हद तक भिन्न एवं स्वायत्त विधा है । सच तो यह है कि इन दोनों कथा-विधाओं में आकार के अन्तर का प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना उनमें कथ्य-संयोजन की दृष्टि, विन्यास की कला और प्रस्तुति तथा प्रभाव । इस सन्दर्भ में स्मरणीय है कि बीसवीं सदी के पहले दशक के हिन्दी कहानीकारों में ज्यादातर लोग चूंकि कहानी की सृजनात्मक अवधारणा और उसके विनास कौशल से परिचित न थे, इसलिए उस जमाने में रचित कहानियों में उपन्यास की उपस्थिति कुछ वर्षों तक बनी रही । इस सन्दर्भ में श्यामसुन्दर दास ने लिखा है - "आरम्भ में जब आख्यायिका का व्यक्तित्व विकसित नहीं था, उसकी गणना छोटे उपन्यासों की कोटि में की जा सकती थी । उस समय उपन्यास और छोटी कहानी में केवल आकार का ही भेद था ।"75 उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती' अथवा रामचन्द्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' में वस्तु चयन की दृष्टि औपन्यासिक थी । वही रहस्य, रोमांच, संयोग और तिलस्मी जंजालों की बुनावट उनमें मौजूद है जो उस समय के उपन्यासों के उपजीव्य थे । इतना ही नहीं, निबन्धात्मक वक्तव्यमूलकता और शास्त्रीय उपदेश की प्रवृत्ति भी उन कहानियों को संपूर्ण वक्तव्य देने में बाधक सिद्ध हो रहे थे । किन्तु ये सारी बातें बीसवीं सदी के आरंभिक चरण में रचित कहानियों तक ही सीमित हैं ।

क्योंकि उसके बाद रचित हिन्दी कहनियाँ विधा की दृष्टि से बहुत हद तक स्वायत्त एवं पूर्ण हैं । जबकि विजयदेवनारायण साही की स्थापना का निष्कर्ष यह प्रतीत होता है कि मानो कहानी कोई बीज हो जिसे उपन्यास रूपी कल्पवृक्ष के रूप में विकसित होना ही चाहिए । इसी प्रकार उनकी यह स्थापना भी विवादास्पद है कि इतिहास के किसी काल-खण्ड विशेष में श्रेष्ठ उपन्यासों का न रचा जाना उस जमाने में रचित कहानियों पर प्रश्नचिह्न की तरह है । यह ठीक है कि हिन्दी के बहुत सारे कहानीकारों ने श्रेष्ठ उपन्यासों की भी रचना की है । पर इसी वजह से युग विशेष में रचित कहानियों की गुणात्मकता एवं महत्ता के निर्धारण हेतु उसी युग में रचित उपन्यासों को कसौटी के रूप में इस्तेमाल करना बहुत हद तक जायज नहीं कहा जा सकता ।

कहना न होगा कि हर युग अतीत के साहित्य पर अपनी जरूरतों के तहत पुनर्विचार करता है । इसी क्रम में हमें अतीत के साहित्य का अवगाहन करते हुए भविष्य के लिए कोई संदेश मिलता है । यह सर्वविदित है कि जिस प्रक्रिया द्वारा यह महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न होता है, वह रचना-प्रक्रिया नहीं, बल्कि आलोचना की प्रक्रिया है । प्रसंगात् विजयदेवनारायण साही ने लिखा है कि "आलोचना साहित्य का दर्शन शास्त्र है और उसका एक काम यह भी है कि वह संश्लिष्ट उत्तर का विश्लेषण करके उसकी सीमारेखा को सुस्पष्ट और तीक्ष्ण बनाये । नहीं तो जीवन के प्रति साहित्य का स्पर्श गूंगे के गुड़ की तरह होकर रह जायेगा । रीतिकाल की कविता और मनोभूमि में कितना फ़र्क़ पड़ जाता, अगर रीतिकालीन कवियों के पास काव्य के बारे में विवेकसम्मत दार्शनिकता की भी एक परिपाटी होती ।"76 सच तो यह है कि आलोचना साहित्य का ज्ञान-काण्ड है किन्तु जब वह किसी रचना का

विश्लेषण करते हुए अपने सैद्धान्तिक प्रतिमानों को व्यावहारिक समीक्षा के स्तर पर पेश करती है, तभी वह विश्वसनीय हो पाती है । केवल सैद्धान्तिक समीक्षा कभी पूरी तरह विश्वसनीय नहीं हो सकती । हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर अब तक जितने बड़े आलोचक हुए हैं उन सबने समीक्षा के सैद्धान्तिक ग्रन्थों के साथ ही व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में भी अपनी सामर्थ्य का परिचय दिया है । इस संदर्भ में विजयदेवनारायण साही के मंतव्य की विशेषता यह है कि वे केवल आलोचकों के लिए ही नहीं, बल्कि सोद्देश्य कला के तमाम सर्जकों के लिए भी साहित्य के सैद्धान्तिक पक्ष की जानकारी को अपरिहार्य मानते हैं । भारतीय काव्यशास्त्र में रचनाकारों के लिए प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को जरुरी माना गया है । प्रकारान्तर से विजयदेवनारायण साही ने भी यही बात कही है ।

अपने समय के आलोचनात्मक विमर्श के क्षेत्र में व्याप्त अराजकता पर झुंझ लाकर साही ने 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' नामक अपने सुप्रसिद्ध निबन्ध में लिखा है कि "साहित्य की समीक्षा को एक पश्चिमी आलोचक ने 'कॉमन-परसूट' - एक सहयोगी प्रयास - कहा है । साहित्य को समझने और आत्मसात् करने में उत्पन्न बाधाओं को दूर करने का यह सहयोगी प्रयास बहुत-कुछ सुगम हो जाय, अगर चर्चा अथवा विश्लेषण करने वाले कम से कम इस पर सहमत हो जाय कि जिन बातों पर आज से एक पीढ़ी पहले बहस हो चुकी है, उन्हें फिर से नहीं उठायेंगे या उठायेंगे तो उन उत्तरों का ध्यान रखेंगे जो पहले दिये जा चुके हैं । फिजूल की बकवास तो इससे बन्द ही हो जायेगी । कम से कम इतना तो हो ही जायगा कि मतभेद अगर प्रसाद जी से है, तो उसका गुबार लक्ष्मीकान्त वर्मा पर नहीं उतरेगा ।"77

उपर्युक्त उद्धरण में आलोचना के लिए 'कॉमन परस्यूट' या 'सहयोगी प्रयास' होने की जो बात कही गई है, वह मूलत: डॉ.एफ.आर. लेविस और टी.एस. इलियट के चिन्तन में मौजूद है । वस्तुत: साही का बल केवल इस बात पर है कि आलोचनात्मक विमर्श सोद्देश्य होना चाहिए और स्पष्ट ही इसके लिए आलोचनात्मक साहित्य लिखने वालों के पास एक सुस्पष्ट तर्क की संरचना होनी चाहिए ।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि साही के आलोचना-कर्म का एक बड़ा भाग साहित्य के सैद्धान्तिक विश्लेषण पर ही केन्द्रित रहा है । साहित्य सम्बन्धी मूलभूत प्रश्नों को उठाने और उनके जवाब देने के क्रम में उनको कई चुनौतियों का सामना भी करना पड़ा जो विचारधारा, राजनीतिक प्रतिबद्धता आदि से जुडी हैं । इन तमाम चुनौतियों से गुजरते हुए उन्होंने साहित्य सम्बन्धी अपनी अलग चिन्तनधारा को विकसित किया जो हिन्दी आलोचना के इतिहास का महत्वपूर्ण अंग है । केशवचन्द्र वर्मा ने लिखा है - साहित्य किस प्रकार मानव-मूल्यों और रागात्मक अनुभूतियों को जोड़ने का काम करता है - कैसे रागात्मक स्तर पर एकता स्थापित करने का काम करता है और मूल्यों के स्तर पर व्यक्तिवादिता से लेकर अचिन्त्य ब्रह्माण्ड की एकात्मकता के प्रति जागरूक होता है - यह साही के जीवन-चिन्तन का अन्तिम पड़ाव था ।"78 लेकिन यह साही के चिन्तन का केवल अन्तिम पड़ाव नहीं था । जीवन भर वे इन्हीं मुद्दों पर बहस करते रहे जो जीवन के अंतिम पड़ाव में जाकर स्थापित हुए ।

सन्दर्भ सूची

1. कल्पलता, पृ. 10.
2. कल्पलता, पृ. 10.
3. साहित्य दर्शन, पृ. 3.
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 312.
5. डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह, अशुद्ध काव्य की संस्तुति में, पृ. 62.
6. साहित्य क्यों ?, पृ. 4.
7. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी -वर्तमान साहित्य ,जुलाइ 2002
8. अभिप्राय, मई, 1985, पृ. 67.
9. अशोक के फूल, पृ. 161.
10. चिंतामणि
11. साहित्य का उद्देश्य, पृ. 33.
12. रामदरश मिश्र, हिन्दी समीक्षा : स्वरुप और सन्दर्भ, पृ.
13. साहित्य दर्शन, पृ. 3.
14. साहित्य और संघर्षशीलता, पृ. 11.
15. साहित्य और साहित्यकार का दायित्व, पृ. 30.
16. कमला प्रसाद, अभिप्राय, मई, 1985, पृ. 72.
17. -वही- पृ. 72.
18. साहित्य और साहित्यकार का दायित्व, पृ. 54.
19. -वही- पृ. 55.

20. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड-5, पृ. 45.

21. केशवचन्द्र वर्मा, साहित्य और साहित्यकार का दायित्व (भूमिका)

22. साहित्य और साहित्यकार का दायित्व, पृ. 40.

23. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड-5, पृ. 32.

24. भागीरथ मिश्र, समीक्षालोक, पृ. 82.

25. तीसरा सप्तक, पृ. 184.

26. पूर्वग्रह, 65, पृ. 17-18.

27. पूर्वग्रह, पृ. 88.

28. साहित्य क्यों ?, पृ. 69.

29. छठवाँ दशक , पृ. 89

30. वर्तमान साहित्य, अंक-5, मई, 2002, पृ. 228 पर उद्धृत ।

31. अभिप्राय, मई, 1985, पृ.

32. वर्तमान साहित्य अंक-6, जून, 2002, पृ. 93.

33. वर्तमान साहित्य, अंक-7, जुलाई, 2002, पृ. 93.

34. छठवाँ दशक, पृ. 78.

35. छठवाँ दशक (जनवादी साहित्य), पृ.सं. 76.

36. गोरख पाण्डेय - जन संस्कृति अंक - 12 (गोरख पाण्डेय विशेषांक), पृ.82.

37. जन संस्कृति अंक-13, पृ. 83.

38. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड-5, पृ. 75.

39. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड-5, पृ. 76.

40. साहित्य का उद्देश्य, पृ. 15.

41. छठवाँ दशक, पृ. 86.

42. शिवकुमार मिश्र - उत्तरार्थ 20, पृ. 25.

43. -वही- पृ. 25

44. शिवकुमार मिश्र, उत्तरार्द्ध (20), पृ. 28.

45. प्रदीप सक्सेना, उत्तरार्द्ध-20, पृ. 64.

46. -वही- पृ. 65.

47. साही, छठवाँ दशक, पृ. 79.

48. विजयदेव नारायण साही, छठवाँ दशक, पृ. 82.

49. छठवाँ दशक, पृ. 17.

50. मलयज, संवाद और एकालाप, पृ. 51.

51. छठवाँ दशक, पृ. 18.

52. छठवाँ दशक, पृ. 133.

53. छठवाँ दशक, पृ. 18.

54. आलोचना-17, पृ. 67.

55. आलोचना-48, पृ. 19.

56. छठवाँ दशक, पृ. 196.

57. छठवाँ दशक, पृ. 212.

58. आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री, साहित्य दर्शन, पृ. 16.

59. छठवाँ दशक, पृ. 8.

60 छठवाँ दशक, पृ. 210.

61. छठवाँ दशक, पृ. 212.

62. छठवाँ दशक, पृ. 212.

63. छठवाँ दशक, पृ. 217.

64. वर्तमान साहित्य, अंक-5, पृ. 221 पर उद्धृत ।

65. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड-5,

66. वर्तमान साहित्य, रेवती रमण, पृ. 222.

67. छठवाँ दशक,

68. वर्तमान साहित्य, रेवती रमण, पृ. 222.

69. छठवाँ दशक, पृ. 260.

70. कविता के नये प्रतिमान, पृ. 118 पर उद्धृत ।

71. संवाद और एकालाप, पृ. 43.

72. डॉ. रामबक्ष, समकालीन हिन्दी आलोचक और आलोचना, पृ. 229.

73. छठवाँ दशक,.

74. छठवाँ दशक, पर उद्धृत

75. छठवाँ दशक,.

76. वर्धमान और पतनशील, पृ. 49.

77. डॉ. अजय तिवारी, वर्तमान साहित्य, दिसंबर-जनवरी, 2002, पृ. 36.

78. वर्धमान और पतनशील, पृ. 48.

79. वर्धमान और पतनशील, पृ. 49.

80. साहित्यालोचन, पृ. 183 (वर्तमान साहित्य, जनवरी-फरवरी, 2000, पृ. 49 पर उद्धृत)

81. छठवाँ दशक, पृ. 263.

82. छठवाँ दशक, पृ. 162.

83. साहित्य और साहित्यकार के दायित्व की भूमिका, पृ. 20.

अध्याय – चार

मध्ययुगीन काव्य और साही की आलोचना – दृष्टि

'मध्ययुगीनता' एक आधुनिक अवधारणा है। 'मध्ययुग' या 'मध्यकाल' शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य में नया है। आधुनिक युग में आकर ही इतिहास के अध्ययन–विश्लेषण के क्रम में इस 'मध्ययुगीनता' का जन्म हुआ है।[1]

रोमन साम्राज्य के पतन के बाद से लेकर आधुनिक वैज्ञानिक उन्नति के पुर्व तक के काल को यूरोपीय इतिहास में मध्ययुग कहा जाता है, (5वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी तक)। उस समय पश्चिमी समाज में सामन्तवादी व्यवस्था की जड़ें व्याप्त हुई थीं। सभ्यता के विकास के उस पड़ाव पर यूरोप में सामाजिक–सांस्कृतिक विकास कुंठित हुआ। राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टियों से यूरोपीय समाज पतनोन्मुख दशा में था। इतिहासकारों ने इसे पश्चिमी इतिहास में 'अंधकार युग' कहा है। यूरोप के इस युग की ह्रसोन्मुखता के कारण 'मध्ययुग' शब्द पतनोन्मुख प्रवृति के अर्थ में रुढ़ हो गया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में '' 'मध्ययुग' शब्द का प्रयोग काल के अर्थ में उतना नहीं होता, जितना एक खास प्रकार की ' पतनोन्मुखी और जबदी हुई मनोवृत्ति ' के अर्थ में होता है।''[2]

इस अर्थ में यूरोप के इतिहास में जो मध्ययुग है, (5वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी) उसी को भारतीय इतिहास में मध्ययुग नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि 5वीं शताब्दी में भारत में एक नवीन उत्साह का संचार हो रहा था। उस समय की राजनीति, धर्म, साहित्य, समाज सभी में एक चेतना की लहर दौड़ रही थी। संस्कृत साहित्य अपनी चरम उन्नति पर पहुँच गया था। गुप्त काल को भारतीय इतिहास में स्वर्ण युग कहा जाता है। राजनीतिक दृष्टि से गुप्तों के बाद हर्षवर्धन तक यह स्वर्ण युग चलता रहा। हर्ष के बाद साम्राज्य विच्छिन्न हो गया। उत्तर और दक्षिण भारत में कई छोटे–छोटे राज्य

स्थापित हो गए। इस केन्द्रीय सत्ता के लोप के कारण एच. सी. रायचौधरी, के. पी. जायसवाल, आर. सी. मजुमदार जैसे इतिहासकारों ने 8वीं शताब्दी से मध्ययुग (अंधकार युग के अर्थ में) का आरंभ माना है जो 16वीं शताब्दी तक चलता रहा जब मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई थी।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का भी कहना है कि "8वीं शताब्दी से हमारे देश में एक प्रकार से ह्रसोन्मुखी मनोवृत्ति का प्राधान्य आरम्भ हो गया। इस काल में यह मान लिया गया था कि जो कुछ अच्छा था वह पहले के लोग कर गये हैं। नये सिरे से हम केवल उसकी व्याख्या कर सकते हैं।"[3] इस आधार पर उन्होंने 8वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक के काल को मध्ययुग माना है और इसके दो विभाग किए हैं – 8वीं से 13वीं शताब्दी का काल पूर्व मध्ययुग और 13वीं से 18वीं शताब्दी तक का काल उत्तर मध्ययुग। कई इतिहासकारों ने गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद और मुसलमान साम्राज्य की स्थापना के पुर्व के काल को अंधकार युग मानकर उसका विश्लेषण ही नहीं किया। यह ध्यातव्य है कि केन्द्रीय सत्ता के लोप के बावजूद इस युग में सामाजिक – सांस्कृतिक विकास का क्रम चलता रहा। इसी काल में दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन का आरंभ हुआ, जिसने पूरे भारत में धर्म, समाज, साहित्य और कुछ इतिहासकारों के अनुसार राजनीति तक मे भी कई क्रान्तिकारी परिवर्तनों के लिए मार्ग बनाया। इसकी चर्चा आगे होगी।

मध्ययुग के इस महत्व को आधुनिक इतिहासकारों ने पहचाना। उन्होंने राज्यों की स्थापना और पतन पर आधारित इतिहास के पारम्परिक विभाजन का खण्डन किया है। इनमें प्रमुख हैं डी. डी. कोसाम्बी, आर. एस. शर्मा, डी. एन. झा. रोमिला थापर आदि। इन इतिहासकारों ने समाजिक – आर्थिक परिवर्तनों के आधार पर इतिहास के युगों का विभाजन किया है। उन्होंने 8वीं शताब्दी से पुर्व या प्रारंभिक मध्ययुग (Early Medieval

Period) का आरंभ माना और यह रेखांकित किया कि यह युग कई अर्थों में क्रान्ति का युग था। इस युग का विश्लेषण इन इतिहासकारों ने सामन्तवादी प्रवृत्तियों के विकास से जोड़कर किया है "In the dominant view within Indian historiography, medievalism is present in the centuries preceding the establishment of the Delhi Sultanate, and the early phase of medievalism has to be understood in the terms of the features of Indian Feudalism ".[4]

भारतीय सामन्तवाद के विभिन्न कारण बताये जाते हैं। डी. डी. कोसाम्बी ने सामन्तवाद के दो स्तरीय विकास को प्रतिपादित किया है (Feudalism from above and feudalism from below)। पहले स्तर पर राजा द्वारा स्थानीय अधिकारियों को भूमि पर दिये गये आर्थिक और प्रशासनिक अधिकारों के कारण स्थानीय अधिकारी किसानो से सीधे संपर्क में आए और सामन्तवाद का आरंभ हुआ और दूसरे स्तर पर गाँवों में राज्य और जनता के बीच भूस्वामियों का एक वर्ग विकसित हुआ जिसने धीरे–धीरे स्थानीय जनता पर अपना अधिकार चलाना आरंभ किया और इससे सामन्तवाद की स्थापना हुई।

रामशरण शर्मा का मंतव्य है कि ब्रह्मणों को दिये गये भूमिदान के फलस्वरूप सामन्तवाद का उद्भव हुआ है। मौर्य काल से ही ब्राह्मणों को भूमि–दान देने की प्रथा प्रचलित थी। गुप्त काल में आकर इसका प्रचलन व्यापक हुआ। धीरे–धीरे इस तरह दान दिये गये गाँवों में कर वसूल करने का अधिकार, यहाँ तक कि गाँव के आंतरिक विवादों का परिष्कार करने और अपराधियों को दण्ड देने का अधिकार भी ब्राह्मणों को दिया गया। "इस प्रकार गुप्त काल में भूमि–दान के व्यापक प्रचलन ने ऐसे ब्राह्मण सामन्तों के

आविर्भाव का मार्ग प्रशस्त कर दिया, जो राजकीय अधिकारियों की सत्ता से लगभग स्वतन्त्र रहकर अनुदत्त क्षेत्रों का प्रशासन चलाते थे।"[5] बाद में यह अधिकार योद्धा–वर्ग के हाथों में आया। साम्राट द्वारा नियुक्त गाँव के अधिकारी स्वतन्त्र रूप में सामन्तों की तरह व्यवहार करने लगे। कई बार सम्राट के अधीन उच्च अधिकारियों को सामन्त, महा सामन्त की उपाधियाँ मिलती थीं। कुछ सन्दर्भों में सम्राट छोटे–छोटे सरदारों, राजाओं को जीतकर उन्हें अपने सामन्त बनाते थे और कर वसूल करके देने, युद्ध के समय सेना जुटाने का कर्तव्य उन्हें सौंपते थे। इन परिवर्तनों के कारण केन्द्रीय सत्ता कमजोर पड़ गई थी और सामन्तवाद की जड़ें मजबूत हुई थीं। धीरे–धीरे भूमि के साथ–साथ किसानों का हस्तांतरण होने लगा। इसका एक परिणाम बेगारी प्रथा का प्रसार था। शिल्पियों और कारीगरों की गतिशीलता पर भी रोक लगा दी गई थी। इससे देश छोटे–छोटे स्वतंत्र आत्मनिर्भर इकाइयों में बँट गया। लेकिन बाद में यह आत्मनिर्भरता विच्छिन्न होती हुई दिखाई देती है। अधिकारियों द्वारा नकद रुप में कर की वसूली के कारण और गॉवों में उत्पादित वस्तुओं के बीच रह जाने के कारण आंतरिक व्यापार की वृद्धि हुई। 10वीं, 11वीं शताब्दियों से विदेशी व्यापार की भी वृद्धि हुई थी। विनिमय के साधन के रुप में मुद्रा का चलन फिर से आरंभ हुआ जिससे सामन्ती अर्थव्यवस्था की जड़ें खोखली पड़ गईं।

अधिक विषयांतरण न करके इस पूरे सामन्तवादी विकास क्रम को प्रस्तुत संदर्भ से जोड़कर देखें तो सामन्तवाद और भक्ति आन्दोलन में निकट संबंध दिखाई देता है। इतिहासकारों ने इस भक्ति आन्दोलन को सामन्तवाद के साधन और साध्य दोनों के रुप में देखा है। भक्ति आन्दोलन को हम जहाँ मध्ययुगीन सामन्तवादी व्यवस्था के परिणाम के रुप में देखते हैं, वहीं वह इस सामन्तवादी व्यवस्था के विस्तार का कारण भी माना जाता है। भक्ति आन्दोलन के अंतर्गत भगवान के प्रति भक्त के सम्पूर्ण समर्पण की जो बात की

गई है उसे सामन्तवादी व्यवस्था में भूस्वामी और किसान के संबंध से जोड़कर देखा गया है। सामन्तवादी व्यवस्था की स्थापना के पूर्व राजा और जनता में सीधा सम्पर्क नहीं था। सामन्तवाद के उदय से किसान और सामन्त राजा का सीधा सम्बन्ध स्थापित हुआ। इसका प्रभाव भक्ति के क्षेत्र में भी दिखाई देता है। भगवान जो अब तक अन्य किसी लोक का निवासी था उसे भक्त अपने निकट देखने लगा था। भगवान और भ्क्त में व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित होने लगा जहाँ पुरोहित का कोई स्थान नहीं था और भ्क्त में समर्पण का भाव विकसित हुआ। यही समर्पण किसान का भूस्वामी के प्रति भी देख सकते हैं। इसी बात को आर. एस. शर्मा के शब्दों में कहें तो "It is significant that the cult of 'Bhakti' spread in the country from about the seventh century onwards when the feudal social structure had been established... According to the 'Bhakti' cult the devotee completely surrendered to his god and was intensely loyal to him. The ideas and practices associated with the 'Bhakti' cult can be compared to the complete subjection of the tenants to the land lords."[6]

इस भक्ति आन्दोलन ने पहले सामन्तवाद के विकास में योगदान तो दिया लेकिन आगे चलकर जब यह व्यापक आन्दोलन बना और पूरे भारत में प्रचलित हुआ, तब समाज और संस्कृति के परिवर्तन में इसने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस काल के साहित्य में सामान्य मनुष्य की वेदना, सुखी जीवन जीने की उसकी आकांक्षा, सामाजिक परिवर्तन के लिए संघर्ष करने की क्षमता अभिव्यक्त हुई है। भक्ति साहित्य के केन्द्र में एक ओर भगवान है तो दूसरी ओर सामान्य मनुष्य है और उसका लक्ष्य मानवमात्र की समानता की स्थापना करना था। डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में "संत–साहित्य में मानवमात्र की

समानता की भावना एक मूल सूत्र की तरह विद्यमान है। विभिन्न धर्मों, जातियों और वर्णों में बंटे हुए समाज में निर्धन जनता यह विश्वास प्रकट किए बिना न रह सकी कि सभी मनुष्य भाई–भाई हैं। संत–साहित्य शोषण से त्रस्त जनता की इस आकांक्षा को प्रकट करता है कि ऐसे समाज का निर्माण हो जिसमें ऊँच–नीच का भेद न हो, जिस में सताने वाले राजा न हों, धर्म के ठेकेदार न हों, समाज–व्यवस्था का आधार प्रेम हो, जहाँ लोग रोग और अकाल से न मरें, जहाँ स्त्रियों और पुरुषों के लिए एक से नियम हों। तूलसी का रामराज्य ऐसे ही सुखी समाज का चित्र है। इस तरह के चित्र मध्यकालीन निर्धन किसानों, जुलाहों, कारीगरों आदि की साम्य भावना प्रकट करते हैं, ये चित्र सिद्ध करते हैं कि भारतीय जनता में वर्ग हीन समाज की आकांक्षा बहुत पुरानी है, वह आज वैज्ञानिक आधार पर संगठन और एकता के बल पर चरितार्थ होना चाहती है।''[7]

मुक्तिबोध ने भी भक्ति आन्दोलन की इस उपलब्धि को रेखांकित किया है। उन्होंने लिखा है– '' उच्चवर्गीयों और निम्नवर्गीयों का संघर्ष बहुत पुराना है। यह संघर्ष निस्संदेह धार्मिक, सांस्कृतिक और समाजिक क्षेत्रों में अनेकों रूपों में प्रकट हुआ। सिद्धों और नाथ–सम्प्रदाय के लोगों ने जनसाधारण में अपना पर्याप्त प्रभाव रखा, किन्तु भक्ति आन्दोलन का जनसाधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना किसी अन्य आन्दोलन का नहीं। पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किये। कबीर, रैदास, नाभा, सिंपी, सेना नाई, आदि–आदि महापुरूषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज बुलन्द की। ''[8] मुक्तिबोध ने भक्ति आन्दोलन की इस विशेषता को स्वीकार करते हुए भी जातिवाद के विरोध का श्रेय केवल निर्गुण सन्तों को दिया है। उनका मानना है कि सगुण भक्ति धारा ने जातिवाद का समर्थन किया है। वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि '' जो भक्ति–आन्दोलन जनसाधारण से शुरु हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरुद्ध

जनसाधारण की सांस्कृतिक आशा–आकांक्षाएँ बोलती थीं, उसका 'मनुष्य–सत्य' बोलता था, उसी भक्ति–आन्दोलन को उच्चवर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया, और उससे समझौता करके, फिर उस पर अपना प्रभाव कायम करके, और जनता के अपने तत्वों को उनमें से निकालकर, उन्होंने उस पर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया। और इस प्रकार, उच्चवंशी उच्चजातीय वर्गों का – समाज के संचालक शासक वर्गों का धार्मिक–सांस्कृतिक क्षेत्र में पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर, साहित्य क्षेत्र में उन वर्गों के प्रधान भाव–श्रृंगार–विलास का प्रभावशाली विकास हुआ, और भक्ति–काव्य की प्रधानता जाती रही।...... सांस्कृतिक–साहित्यिक क्षेत्र में यह परिवर्तन भक्ति आन्दोलन की शिथिलता को घोषित करता है। "[9] विजयदेवनारायण साही ने भी तुलसीदास के काव्य में जातिवाद का समर्थन देखा है लेकिन भक्ति–आन्दोलन के महत्व को भी स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है – " श्रेष्ठ कविता का वह आरम्भिक युग है। अगर हम शुरु में खुसरो की फुलझड़ियों को छोड़ दें तो चारों ओर धर्म ही धर्म है। लेकिन सिर्फ हिन्दू धर्म नहीं है। हिंदू, इस्लाम और दोनों से परे कुछ और धर्म के विविध रुप हैं। ये सब आवाजें मिलकर हिन्दी साहित्य का मिजाज बनाती हैं, इसे न भूलना चाहिए। दुनिया के अधिकतर देशों में जब धर्म का दौरदौरा रहता है तो पूरे माहौल में एक ही धर्म रहता है। विधर्म नहीं होता और जब धर्म का पाश टूटता है तो उसे तोड़ने वाले उसी धर्म से उपजते हैं, विधर्मी नहीं होते। भक्तिकाल का माहौल बहुधर्मी है। "[10] यह ध्यातव्य है कि भक्तिकाल के विभिन्न धर्मो, जातियों के कवियों के द्वारा कई साम्यवादी, प्रगतिशील विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। हिन्दी के कवियों ने ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं के कवियों ने भी वर्गहीन, जातिहीन समाज की स्थापना पर बल दिया है। हिन्दी में सूर और मीरा ने नारी के दबे हुए व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति दी है। उसकी निर्भीकता लगन और प्रेम को इन्होंने वाणी दी है। इस प्रेम में आध्यात्मिकता के साथ–साथ सुख कामना भी है और मानव मूल्य भी हैं।

जायसी के काव्य में भी सामान्य मनुष्य की चिंताओं, अभिलाषाओं की अभिव्यक्ति हुई है। तुलसी का रामराज्य साम्यवादी मूल्यों पर ही आधारित है और कबीर ने तो मुखर रुप में सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा व्यक्त की है।

भक्ति आन्दोलन की इस उपलब्धि को इतिहासकारों ने भी लक्षित किया है। एम. जी. एस. नारायणन और के. वेलुतट ने इन शब्दों में इसे रेखांकित किया है – " The freedom which the devotee enjoyed from all rituals and even rules of society, was a step forward in establishing the individual's inherent right to rebel, provided rebellion was legitimized by devotion. The devotees mixed freely and fearlessly with Kings and Brahmanas assuming equality and even superiority at times. In this way they set up a parallel spiritual-social authority different from royal courts and Brahmana councils, which divided its power from the conscience of people.... The same deviation from social norms may be noted in the case of the status of women. Notwithstanding the injunctions of Manu and other lawgivers, the eligibility of women for the highest honour of direct communication with god was admitted. "[11]

इस दृष्टि से मध्ययुग का भक्ति आन्दोलन एक प्रकार से समाज सुधार आन्दोलन है। " The Bhakti saints taught universal

toleration and Brought about a revolution in the social structure of the society "[12]

स्पष्ट होता है कि भारतीय इतिहास का मध्ययुग ठीक वही नहीं है जो युरोप का मध्ययुग है। भारत के मध्ययुग को अंधकार युग कहने का कोई औचित्य नहीं है। यह निंरतर परिवर्तन का काल था। कई विद्वानो ने तो हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल को उसकी क्रान्तिकारी चेतना के कारण आधुनिक काल भी कहा है।

भारतीय इतिहास के मध्ययुग और हिन्दी साहित्येतिहास के मध्यकाल में भी काफ़ी अन्तर है। भारतीय इतिहास में प्रारंभिक मध्ययुग 8वीं शताब्दी से आरंभ होता है, जबकि हिन्दी साहित्य का मध्यकाल 14वीं शताब्दी से आरंभ होता है और 19वीं शताब्दी तक चलता है : पूर्व मध्यकाल 14वीं से 18वीं शताब्दी के आरंभ तक और उत्तर मध्यकाल 18वीं शताब्दी के आरंभ से 19वीं शताब्दी के अन्त तक। भारतीय इतिहास का मध्ययुग तभी समाप्त हो जाता है जब 18वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य का पतन हुआ और अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुई थी। हिन्दी साहित्य का काल–विभाजन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों के साथ–साथ साहित्यिक प्रवृत्तियों और भाषा के परिवर्तन के आधार पर भी हुआ है। इसलिए यह अन्तर दिखाई देता है। यहाँ जब हम मध्ययुगीन काव्य की चर्चा कर रहें हैं तो यह मध्ययुग भारतीय इतिहास का मध्ययुग है जो 18वीं शताब्दी से आरंभ होता है। इस दृष्टि से इसमें हिन्दी साहित्य के आदिकालीन या वीरगाथाकालीन काव्य भी सम्मिलित हैं।

विजयदेवनारायण साही ने अपनी आलोचना के क्रम में कई मध्ययुगीन कवियों और उनके काव्य का विश्लेषण किया है। इनमें साहित्येतिहास के कालक्रम की दृष्टि से पहला नाम जगनिक का आता है, जिनके काव्य 'परमाल रासो' की चर्चा साही ने भारतीय काव्य–परम्परा में दलितों के योगदान पर व्याख्यान देते हुए की है। इस व्याख्यान में उन्होंने यह बताया है कि मध्ययुग की मूल समस्या केवल भक्ति नहीं है, बल्कि वीरता, शोर्य, संघर्ष, युद्व और सत्ता में समानता स्थापित करना भी है। इस सन्दर्भ में वे 'परमाल रासो' में चित्रित आल्हा–उदल के संघर्ष का जिक्र करते हैं। आल्हा–उदल निम्न जाति के वीर हैं। कथा के केन्द्र में उनका संघर्ष है – क्षत्रिय के रुप में सामाजिक–स्वीकृति पाने के लिए संघर्ष। एक बार जब आल्हा अपमानित होकर वैराग्य धारण करना चाहता है तो उसके पिता और पितामह के कपाल उसको उलाहना देते हैं :

" हम तो जानी अपने मन में, लरिका जब हुई हैं हुसियार
गया हमारी ता दिन करि हैं जा दिन लैहैं बदलो आप
आस टूट गई अब तौ हमरी लरिका जोगी भये हमार
घर–घर टुकड़ा मांगत ड़ोलै छत्री बंस लजायो आप "

उसके बाद वे क्षत्रियों से बराबरी का दर्जा पाने तथा अपमान का बदला लेने के लिए कई लड़ाईयाँ लड़ते हैं। इस कथा को उद्धृत करके साही कहते हैं कि मध्ययुग में सामाजिक द्वन्द्व की अभिव्यक्ति भक्ति आन्दोलन के रुप में ही नहीं हुई बल्कि "साहसिकता, रणकौशल और सत्ता तथा सभा–संस्थानों में भागीदारी भी इस द्वन्द्व का एक अंग थी।"[13]

कबीरदास के संबंध में साही का मानना है कि उनकी वाणी अधिक मुखर होने के बावजूद भी उनके विद्रोही स्वर ने किसी विशाल विप्लव को जन्म

नहीं दिया। कबीरदास ने जातिप्रथा की अपेक्षा धार्मिक कट्टरता पर अधिक प्रहार किया है। उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों की रुढ़ियों का विरोध किया है। उनका स्वर प्रतिरोधी है। साही के शब्दों में '' वे जल्दी से जल्दी एक हल और संभव हो तो एक नया संगठन खड़ा करना चाहते हैं जो मुल्लाओं और ब्राह्मणों से अलग लोगों को रास्ता दिखा सके। ''[14] इसका परिणाम यह हुआ कि कबीर के विचार एक अलग सम्प्रदाय बनकर रह गये। इसलिए साही का मानना है कि कबीरदास 'कवि' नहीं थे। संत ही अधिक थे।

सूरदास और तुलसीदास की चर्चा साही ने अधिक नहीं की है। एक जगह वे कहते हैं कि इन कवियों से लोग ज्यादा प्ररिचित हैं। इसीलिए उनकी व्याख्या की अधिक आवश्यकता नहीं है। पर धर्मनिरपेक्षता और हिन्दी साहित्य के संबंध में बात करते हए उन्होंने इन कवियों की संक्षिप्त चर्चा की है। साही का मानना है कि तुलसीदास के काव्य की अपेक्षा सूरदास का काव्य अधिक धर्मनिरपेक्ष है। वे कहते हैं – '' सूरदास की धार्मिक अनुभूति लगभग कुल की कुल कवि के भीतर ही पर्याप्त है। ....जबकि तुलसीदास की अनुभूति अपने प्रमाण के लिए बाहर का, उदाहरण के लिए वेद–पुराण–स्मृति आदि का भी सहारा लेती है। ''[15] और इसका परिणाम यह हुआ कि '' सत्रहवीं–अट्ठारहवीं शताब्दी की कविता ने सूरदास के प्रतीक राधा कृष्ण के चारों ओर एक नया काव्यलोक ही रच डाला, जिसकी मुख्य प्रवृति उत्तरोत्तर ऐसी धर्मनिरपेक्ष शैली निर्मित करने की रही जिसमें एक साथ हिन्दू–मुसलमान सब हिस्सा ले सकें। इसके प्रतिकूल 'रामचरितमानस' से बादवालों का कोई विशेष सर्जनात्मक प्रयोजन नहीं सिद्ध हो सका। ''[16] साही ने तुलसीदास को हिन्दू धर्म और जातिप्रथा का समर्थक माना है। उन्होंने लिखा है : '' तुलसीदास भक्तिधारा में सामाजिक रूप से जातिप्रथा के सबसे बड़े समर्थक हैं। इनकी रचना में स्पष्टतया यह धारणा मिलती है कि जाति प्रथा को

सुरक्षित रखना चाहिए और उसको झिंझोड़ना नहीं चाहिए। ''[17] परन्तु इस सन्दर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा का वक्तव्य उल्लेखनीय है जहाँ वे तुलसीदास पर लगाए गए ऐसे आरोपों का तीव्र खण्डन करते हैं। जो लोग समझते हैं कि तुलसीदास ने इस्लाम से हिन्दू धर्म की रक्षा की, उनसे वे प्रार्थना करतें हैं कि कृपाकर वे उस पंक्ति पर विचार करें जिसमें तुलसीदास ने माँगकर खाने और मस्जिद में सोने की बात की है। डॉ. रामविलास शर्मा लिखते है कि तुलसीदास की भक्ति वर्ण, जाति, धर्म के आधार पर किसी का बहिष्कार नहीं करती। '' यदि तुलसीदास कुलीनता और जातिवाद के समर्थक होते तो उनकी आत्म–निवेदनवाली रचनाओं में बार–बार यह स्वर न सुनाई देता – 'लोग कहैं पोचु, सो न सोचू न सँकोचु मेरे ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।' तुलसीदास की राम भक्ति का एक प्रमुख कारण यह है कि उनके प्रभु ने जातिहीन व्यक्तियों को अपनाया था :

'जातिहीन अधजनम महिं, मुकुट कीन अस–नारि।
महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहिं बिसारि।।' ''[18]

डॉ. शर्मा की दृष्टि में केवट और निषाद के संदर्भ में तुलसीदास की प्रगतिशीलता का उत्कृष्ट रुप वहाँ मिलता है, जहाँ उनको वे राम के भाई भरत और लक्ष्मण का दर्जा देते हैं –

'' कहि निषाद निज नाम सुबानी।
सादर सकल जोहारी रानी।।
जानि लखन सम देहिं असीसा।
जिअहु सुखी सम लाख बरीसा।।
निरखि निषादु नगर नर–नारी।
भए सुखी जनु लखनु निहारी।। ''

परन्तु मुक्तिबोध ने इस प्रसंग में भी तुलसीदास के जातिवाद–विरोध को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने लिखा है कि " तुलसीदास ने भी निम्नजातीय भक्ति स्वीकार की, किन्तु उसको अपना सामाजिक दायरा बतला दिया।........ राम निषाद और गुह का आलिंगन कर सकते थे, किन्तु निषाद और गुह ब्राह्मण का अपमान कैसे कर सकते थे। "[19]

यह ध्यातव्य है कि तुलसीदास का समाज वर्णहीन या जातिहीन समाज नहीं है। उन्होंने जातिप्रथा या वर्ण–व्यवस्था का कहीं विरोध नहीं किया, लेकिन उपस्थित वर्ण–व्यवस्था के अन्तर्गत ही समानता का भाव स्थापित करने का प्रयत्न किया है। यह जरूर है कि तुलसीदास की कुछ ऐतिहासिक सीमाएँ हैं जो उस युग की परिस्थितियों की उपज हैं। अपने युग का अतिक्रमण वे नहीं कर सकें। परन्तु इससे उनका महत्व कम नहीं होता। तुलसीदास का मूल संदेश मानव–प्रेम है जिसमें किसी जाति का विशेष महत्व या किसी जाति की उपेक्षा नहीं है। सभी जातियाँ और वर्ण इस मानव प्रेम के सहभागी हैं।

विजयदेवनारायण साही धर्मनिरपेक्षता की चर्चा को आगे बढ़ाते हुए भक्ति साहित्य की अपेक्षा रीतिकालीन साहित्य को अधिक धर्मनिरपेक्ष मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि " रीतियुग की कविता धार्मिक अनुभूति के बाहर, या कम से कम उसके समानान्तर सबके लिए उपलब्ध एक नया रचना संसार सँजोने की कोशिश करती है जिसके एक सिरे पर केशवदास और रहीम हैं, दूसरे सिरे पर घनानंद और गुलाम नबी रसलीन हैं। "[20] हम देखते हैं कि रीतिकाल तक आते–आते काव्य के केन्द्र में धार्मिक अनुभूति का स्थान एक ललित रसमय अनुभूति ने ले लिया। प्रेम, श्रृंगार, राजनीति जैसे धर्मेतर विषयों

ने काव्य को अधिक धर्मनिरपेक्ष बनाया। इसलिए जब साही कहते हैं कि रीतिकाव्य भक्तिकाव्य से अधिक धर्मनिरपेक्ष है, तो यह युक्ति–संगत लगता है।

जायसी के व्यक्तित्व और काव्य के विस्तृत विश्लेषण के अंतर्गत साही ने अमीर खुसरो का भी विवेचन किया है। जायसी और अमीर खुसरो की तुलना करते हुए उन्होंने दोनों के सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टिकोणों का विश्लेषण किया है और यह लक्षित किया कि दोनों कवियों के बीच कई अर्थों में होड़ है। जायसी के सामने खुसरो के 'खजायनुल–फतूह' अथवा 'तारीखे–अलाई' में अलाउद्दीन की चितौड़–विजय का वर्णन था जो कुछ हद तक उनके 'पद्मावत' के उत्तरार्द्ध का आधार भी बना। लेकिन इस घटना के खुसरो के वर्णन में और जायसी के वर्णन में बहुत अंतर है। चितौड़ के किले की फतह को खुसरो इस्लाम की विजय के रुप में देखते हैं, जबकि साही इस पृथ्वी–विजय को झूठा देखते हैं। साही खुसरो के काव्य में कट्टर साम्प्रदायिकता रणथम्भोर की विजय के खुसरो द्वारा किए गए वर्णन में लक्षित करते हैं :

> " दास्ताने फतह रणथम्भोर कन्दर यक गजा।
> गश्त अजाँसाँ दारे–कुफ्रे दारे–इस्लाम दर कजा।। "[21]

साही कहते हैं कि खुसरो सूफी कवि होने के साथ–साथ चिश्तिया सम्प्रदाय के प्रसिद्ध बाबा निजामुद्दीन औलिया के शिष्य भी थे और राजदरबार में भी उनकी प्रतिष्ठा थी, इसलिए उनका इस प्रकार का कट्टर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण होना स्वाभाविक है। " हिन्दू तुर्क सत्ता – संघर्ष के बारे मे जो संकुचित दृष्टि खुसरो के 'खजायनुल–फतूह' में मिलती है, वह बादशाहों और मुल्लाओं को खुश करने वाली तो थी ही, निजामुद्दीन औलिया के मठ

के लिए भी लाभदायक और स्वीकार्य थी। ''[22] पर साही खुसरो को कई सूफियों के मुकाबले अधिक उदार मानते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सभी मध्ययुगीन कवियों और काव्य के विश्लेषण में साही ने एक तटस्थ दृष्टिकोण अपनाया है। अमीर खुसरो का भी उन्होंने उतनी ही सहृदयता से विश्लेषण किया है जितनी जायसी का। रचनाकार को उसके युगीन सन्दर्भ में जोड़कर देखना, जो अच्छी–समीक्षा की अनिवार्य शर्त है, साही की आलोचना की प्रमख विशेषता है। कबीरदास के काव्य में उनकी सहृदयता की कमी यदि दिखाई देती है तो शायद इसलिए कि वे कबीरदास को कवि नहीं, एक संत के रुप में देखते हैं, जिसका लक्ष्य अपने विचारों की स्थापना है। अत्यधिक वैचारिकता के कारण आगे चलकर उसका परिणाम मठ की स्थापना के रुप में हुआ। इस संदर्भ में परमानन्द श्रीवास्तव का कहना सही है कि '' यहाँ इस तथ्य को नजरअंदाज कर दिया गया है कि कबीर में प्रतिरोधी स्वर के साथ रागात्मक आंतरिकता की घुलावट भी मौजूद है। ''[23] लेकिन यह भी ध्यान रखना जरुरी है कि साही कबीरदास के महत्व को भी स्वीकार करते हैं।

साही की सह्रदयता का उत्कृष्ट रुप जायसी के विश्लेषण में दिखाई देता है। जायसी और उनके 'पद्मावत' का मूल्यांकन जिन आलोचकों ने किया है उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और विजयदेवनारायण साही। जायसी की काव्य–प्रतिभा को पहचान कर उनके काव्य का ऐतिहासिक विश्लेषण करके उनको एक महत्वपूर्ण कवि के रुप में स्थापित करने का पहला श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है। उनके बाद जायसी का एक कवि के रुप में संवेदनशील विश्लेषण साही ने किया है। जायसी के व्यक्तित्व से लेकर 'पद्मावत' की ऐतिहासिक व्याख्या तक में साही की विद्वत्ता और सहृदयता का अनोखा संयोजन मिलता है। रामस्वरुप

चतुर्वेदी के अनुसार '' 'जायसी' उनके व्यवस्थित अध्ययन–क्रम की पहली और अंतिम रचना है। यहाँ उन्होंने अपने को समकालीन वितंडा से खींच लिया और जायसी के अध्ययन और उनके काव्य विशेषतः 'पद्मावत' की व्याख्या में अपने को पूरी तरह से दे दिया; 'कवित्त–रस' में वे बूड़े और फिर स्वभावतः तिरे। ''[24] परमानन्द श्रीवास्तव के शब्दों में '' साही की पुस्तक 'जायसी' समकालीन कवि जायसी का एक अद्वितीय आधुनिक कवि के रुप में अविष्कार है। ''[25]

साही जायसी को 'पहला विधिवत कवि' मानते हैं। यह उनकी पहली महत्वपूर्ण स्थापना है। उन्होंने कबीरदास की तुलना में जायसी की काव्य प्रतिभा को अधिक सहज माना है। उनका कहना है कि कबीरदास की काव्य भाषा में सहज गति नहीं है। '' कबीर अपनी प्रतिभा के सहारे भाषा को ठेल–ठेलकर आगे–आगे बढ़ाते हैं। ''[26] जैसा पहले ही कहा जा चुका है साही कबीर को कवि की अपेक्षा संत अधिक मानते हैं। उनका कहना है कि इसलिए उनके काव्य में सहजता नहीं है। इसके विपरीत जायसी के काव्य में सहजता है। उसमें कवि का प्रयास नहीं दिखाई देता। अपनी सृजनात्मक प्रतिभा की दृष्टि से 'जायसी मूलतः कवि हैं।' ऐसा नहीं कि साही कबीरदास के महत्व को पूरी तरह नकारते हों। वे यह स्वीकार करते हैं कि कबीरदास ने अपनी कविता के द्वारा एक अत्यंत कठिन समय में अभिव्यक्ति की समर्थ और शक्तिशाली राह बनाई है। साही कबीरदास को अपना गुरु भी मानते हैं और प्रार्थना करते हैं –

'' परम गुरु
दो तो ऐसी विनम्रता दो
कि अंतहीन सहानुभूति की वाणी बोल सकूं
और यह अंतहीन सहानुभूति
पाखंड न लगे

....

दो तो ऐसी निरीहता दो
कि इस दहाड़ते आतंक के बीच
फटकार कर सच बोल सकूं
और इसकी चिंता न हो
कि इस बहुमुखी युद्ध में
मेरे सच का इस्तेमाल
कौन अपने पक्ष में करेगा। ''

इसके बावजूद साही कबीरदास के वैचारिक आतंक को नकारते हैं। उनकी धारणा है कि कबीरदास के काव्य में विचारधारा है और जायसी के काव्य में संवेदना है।

एक कवि की संवेदनशीलता तथा अपने अनुमान और तर्क–विश्लेषण के आधार पर साही ने जायसी की नई खोज की है। डॉ. दूधनाथ सिंह के शब्दों में '' साही जायसी तक एक आलोचक के साथ–साथ एक कवि की तरह पहुचते नजर आते हैं। ''[27]

जायसी के कवि–व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए साही उनको सूफीमत के प्रभामण्डल से निकालने की कोशिश करते हैं। उनकी दृष्टि में जायसी का व्यक्तित्व और स्वभाव एक बौद्धिक कवि के ढंग का है – सूफी संत या बाबा का नहीं। पहले जायसी ने अपने काव्य में अपने चार मित्रों का जो उल्लेख किया है उसके आधार पर साही जायसी के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हैं। जायसी लिखते हैं :

'' चार मीत कवि मुहमद पाये। जोरि मिताई सरि पहुँचाए।।

यूसुफ मलिक पंड़ित औ ग्यानी। पहिलै भेद बात उन्है जानी।।
पुनि सलार कांदन मति माहाँ। खाँडे दान उभेय निति बाहॉ।।
मिआँ सलोनें सिंघ अपारू। बीर खेत रन खरग जुझारू।।
सेख बड़े बड़ सिद्ध बखाने। कई अदेस सिद्धन्ह बड़ माने।।
चारिउ चतुरदसौ गुन पढ़े। औ संग जोग गोसाई गढ़े।।
बिरिख जो आछहिं चंदन पासाँ। चंदन होंहि बेधि तेहि बासाँ।।
मुहमद चारिउ मीत मिलि भए जो एकइ चित्त।
एहि जग साथ जो निबहा ओहि जग बिछुरन कित।। ''[28]

जायसी ने यूसुफ मलिक, सलार, मियाँ सलोने और बड़े शेख – इन चार दोस्तों का उल्लेख किया है।

यूसुफ मलिक के संदर्भ में उनका 'पंड़ित औ ज्ञानी' होने का मतलब साही पढ़ा–लिखा, बुद्धिमान और तजुर्बेदार आदमी लगाते हैं न कि उसका आध्यात्मिक अर्थ। यहाँ वे कहते हैं कि जायसी के बारे में यह कहना कि वे बहुत पढ़े–लिखे नहीं थे निराधार है। ''अगर यूसुफ मलिक पंडित और ज्ञानी थे तो उचित धारणा यही बनती है कि उनके मित्र मुहम्मद मलिक भी वैसे ही या कुछ अधिक पंडित और ज्ञानी थे।''[29] लेकिन यह अनुमान साही का अपना है। यह जरुरी नहीं कि अगर जायसी का मित्र पंडित है तो जायसी भी पंडित और ज्ञानी हों। इस चौपाई में जायसी कहतें हैं कि यूसुफ मलिक ने सबसे पहले भेद–बात जानी। वह भेद–बात क्या थी इसका उल्लेख जासयी ने नहीं किया। जायसी को सूफ़ीमत से अलग करके उन्हें एक साधारण व्यक्ति मानते हुए साही इस भेद–बात का अनुमान जायसी का कोई प्रेम का चक्कर लगाते हैं और उसके लिए इन पंक्तियों को प्रमाणस्वरुप पेश करते हैं :

" जेहि के बोल बिरह के घाया। कहु ते हि भूख कहॉ ते हि छाया।।
फेरे भेस रहइ भा तपा। धूरि लपेटा मातिक छपा।। "

दूसरे मित्र सलार के सम्बन्ध में साही का अनुमान डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुमान से मिलता जुलता है। सलार जिनकी मति में लड़ाई–झगड़ा ही भरा है, हमेशा अपने हाथों में खाँड़ा (तलवार) लिए फिरते रहते हैं। तीसरे मित्र मियाँ लोने के बारे में साही कहते हैं कि वे पेशे से सिपाही होंगे जो रणक्षेत्र में खड्ग का जुझारुपन दिखाते थे और जैसा उस काल में होता था युद्ध से फुरसत के समय खेती करते होंगे। जायसी अपने चौथे मित्र बड़े शेख के बारे में कहते हैं कि वे सिद्ध थे और उनको 'अदेस' कहते थे। जायसी को केवल कवि मानते हुए साही 'सिद्ध' का अर्थ साधु–स्वभाव का व्यक्ति लगाते हैं आध्यत्मिक अर्थ में सिद्ध नहीं। इन चारों के बारे में जायसी लिखते हैं कि इन चारों ने चौदह विद्याएँ पढ़ी हैं। यहाँ साही 'चतुर्दश विद्याओं' के भारतीय पारिभाषिक अर्थ को स्वीकार नहीं करते। (जिसमें वेद, वेदांग पुराण, मीमांसा, न्याय और धर्मशास्त्र सम्मिलित हैं) इसका अर्थ वे यही लगाते हैं कि वे चारों मित्र खासे पढ़े–लिखे थे। साही का मानना है कि जायसी ने पारिभाषिक शब्दावली को लचीला बनाकर अर्थ विस्तार द्वारा सांस्कृतिक मिश्रण किया है जैसे फिरदौसी ने फारसी के पुराने प्रचलित शब्दों को नवीन धार्मिक–सांस्कृतिक संदर्भ में प्रयुक्त किया था।

ऊपर उद्धृत चौपाई में जिस चंदन वृक्ष की बात जायसी ने कही है उससे साही यह अनुमान लगाते हैं कि वह चंदन वृक्ष जायसी ही होंगे जिनके सान्निध्य में वे चारों मित्र चंदन की तरह सुवासित हो गए। लेकिन इस पंक्ति का सीधा अर्थ तो यह है कि जायसी उन चारों को चंदन वृक्ष मानते हैं जिनके साथ रहकर वे खुद चंदन की तरह सुवासित हुए। पहली पंक्ति में भी जायसी

कहते हैं कि उन्होंने चार मित्र पाये जिन्होंने उनसे मित्रता जोड़कर अपने बराबर बना लिया। यहाँ साही जायसी को श्रेष्ठ कवि साबित करने के प्रयत्न में उनके मित्रों को कम प्रतिभावान, कम ज्ञानी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हुए दिखाई देते हैं।

जायसी के संबंध में अपनी 'उधेड़–बुन' में आगे बढ़ते हुए साही इस बात की ओर संकेत करते हैं कि जायसी ने अपनी एक आँख होने का उल्लेख बार–बार किया है।

" जो लहि अंबहि डाभ न होई। तो लहि सुगंध बसाई न सोई।।
कीन्ह समुद्र पानी जौं खारा। तौ अति भरउ असूझ अपारा।।
जौं सुमेरु निरसूल बिनासा। भा कंचनगिरि लाग अकासा।।
जौं लहि घरी कलंक न परा। कॉच होइ नहिं कंचन करा।।
एक नैन जस दरपन औ तेहि निरमल भाउ।
सब रुपवंत पाँव गहि मुंख जोवहि कइ चाउ।। "30

इसमें जायसी की मीठी गर्वोक्तियों के साथ मूर्खों या काव्य–गुण न समझने वालों द्वारा उपहास और कवि के आहत स्वामिभाव की हलकी–सी प्रतिध्वनि को साही लक्षित करते हैं और कहते हैं कि यह कवि जनित उक्ति ही हो सकती है, सूफी संतजनित उक्ति नहीं। जायसी का स्वाभिमान यहाँ भी व्यक्त होता है जब वह कहते हैं :

" कवि बिआस रस कंवला पूरी। दूरिहि निअर निअर भा दूरी।।
निअरहि दूरि फूल संग कॉटा। दूरि जो निअरै जस गुर चॉटा।।
भॅवर आइ बनखंड़ हुति लेहि कंवल कै वास।
दादुर बास न पावहिं भलेहिं जे आछहि पास।। "31

इन पक्तियों में 'दादुर' और 'काँटा' के प्रयोग में व्यक्त हल्के गुस्से की ओर संकेत करते हुए साही यह सवाल उठाते हैं कि " यदि जायसी सूफी संत होते सिद्ध या असिद्ध फकीर होते, आयतें पढ़कर और फूंककर बीमारियाँ दूर करते होते, निःसंतान राजाओं को संतान देते होते, दिल्ली की सरकार तक पहुँचवाले होते, मंतर से भूत–प्रेत भगाते होते तो इन काँटों और दादुरों पर लानत भेजने की जरुरत ही क्यों पड़ती ? "[32]

यहाँ साही जायसी को एक सामान्य मानव और प्रतिभावान कवि के रुप में स्थापित करते हैं, जिसमें संवेदनशीलता है, स्वाभिमान है और जिसे अपने काव्य–प्रतिभा के उपहास के प्रति गुस्सा भी आता है। उपर उद्धृत काव्य पंक्तियों में लक्षित जायसी की गर्वोक्तियों को साही उनके कवि व्यक्तित्व का एक अंग मानते हैं। वे लिखते हैं – " स्पष्ट है कि इन गर्वोक्तियों का आघात जायसी के लिए अपने कवि, बल्कि समर्थ कवि होने की चेतना ही है।...... बेशक इन गर्वोक्तियों में भी जायसी की अपनी शैलीगत विशेषता उपस्थित है। जिसमें बराबर एक मिठास बनी रहती है। "

जायसी के कवि–व्यक्तित्व में मीठे गर्व के साथ विनयशीलता भी विद्यमान है जिसका आभास इन पंक्तियों में मिलता है :

" हौं सब कबिन केर पछिलगा। कुछ कहि चला तबल देइ डगा।। "[33]

एक ओर जहाँ वे गर्व के साथ कहते हैं कि सब रुपवान उनका पैर पकड़ते हैं और चाव से उनका मुख जोहते हैं वहीं दूसरी ओर अपने आप को 'पछिलगा' कहने की विनयशीलता भी उनमें है। हर बड़ा कवि एक ही साथ विनीत और आत्मविश्वासी दोनों होता है। इन मीठी गर्वोक्तियों में आत्मविश्वास ही व्यक्त होता है। साही कहते हैं –" वास्तविक काव्य–प्रतिभा

कवि को बहुत गर्वीला और साथ ही साथ विनयशील भी बनाती है .... अपने गर्वोक्ति या विनयोक्ति, ये दोनों ही भंगिमाएँ कवि–कर्म की परम्परा है। ''[34]

जायसी अपने काव्य में अपने किसी वास्तविक आश्रयदाता का उल्लेख नहीं करते। उन्होंने दिल्ली के शहंशाह बाबर, हुमायूँ और कुछ विस्तार से शेरशाह की स्तुति की है। उनसे नीचे किसी का नाम नहीं लिया है जिनके दरबार में उनकी पहुँच है। जायसी का किसी दरबार के आश्रित न होने को भी साही उनके गर्वीले स्वभाव के अनुरुप ही पाते हैं।

साही जायसी को संवेदनशील कवि के साथ–साथ एक ''अलीक विचारक '' भी मानते हैं। वे कहते हैं –'' उनकी अनुभूति में वह गहरी तीव्रता थी जो सृजनशीलता को मनुष्य के प्राणतत्व से जोड़ती है। इसकी सम्भावना बहुत कम है कि वे साधू बाबा या सूफी फकीर भी रहे हों, बल्कि जो भी संकेत मिलते हैं, वे इस सम्भावना के विरुद्ध जाते हैं। यह भी संभव है कि जायसी न केवल किसी मठ से नहीं जुड़े, बल्कि किसी दरबार से भी नहीं जुड़े। इसके कारण उन्हें उपेक्षा और संभवतः गलतफहमी का भी शिकार होना पड़ा। ''[35] इस सन्दर्भ में हम यह कह सकते हैं कि जायसी अपने युग के सभी विचारों, मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भी अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति में तटस्थ रहे हैं। एक रचनाकार के रूप में वह मुक्त ढंग से सबको ग्रहण करते हैं, लेकिन किसी मतवाद या विचारधारा से प्रतिबद्ध नहीं रहते। इन मान्यताओं की स्वीकृति उनके अनुभव को अधिक संवेदनशील बनाती है, और उनकी रचना–दृष्टि को बौद्धिक सघनता प्रदान करती है। इस दृष्टि से जायसी 'अलीक विचारक' हैं। डॉ. रघुवंश ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हुए प्रसंगात् लिखा है – '' जिस रचनात्मक तटस्थता को साहित्य में निरन्तर महत्व दिया गया है, वह जायसी की मूल्य–दृष्टि रही है। इस तटस्थता के साथ

उनकी रचना में निंरतर उदार–भाव बना रहा है। उन्होंने इस भाव–स्तर पर अपनी कथा के संयोजन–विस्तार में सभी प्रकार के मतों–विचारों को समाहित किया है। यह उनकी रचना में निरन्तर लक्षित है कि बिना स्वीकार या प्रतिबद्धता के वह सब कुछ ग्रहण कर सके हैं। ''[36]

साही की दृष्टि में जायसी का व्यक्तित्व एक सामान्य किन्तु भावप्रवण मनुष्य, दिल मिलाने वाले दोस्त और अत्यन्त प्रतिभाशाली, कल्पनाशील और बौद्धिक कवि का है, सूफी सन्त या बैरागी बाबा का नहीं। वे यह रेखांकित करते हैं कि जायसी ने भी अपने कवि–व्यक्तित्व की पहचान का ही आग्रह किया है, जब वे कहते हैं–

'' केइँ न जगत जस बेचा केइँ न लीन्ह जस मोला ।
जो यह पढ़ै कहानी हम सँवरै दुइ बोल ।। ''[37]

जायसी की यही अपेक्षा थी कि जो इस कहानी को पढ़े वह उन्हें एक कवि के रूप में दो बोल याद करें।

'पदमावत' के अंतिम कड़वक को उद्धृत कर साही अलक्षित जायसी की तुलना निराला से करते हैं। निराला ने कहा है –

'' स्नेह निर्झर बह गया है
रेत ज्यों तन रह गया है
....
मैं अलक्षित हूँ यही
कवि कह गया है। ''

इसी प्रकार जायसी भी लिखते हैं –

'' मुहमद बिरिध बएस अब भई। जोबन हुत सो अवस्था गईं।।

बल जो गएउ कै खीन सरीरू। दिस्टि गई नैनन्ह दे नीरू।।
दसन गए कै तुचा कपोला। बैन गए दै अनरुचि बोला।।
बुद्धि गई हिरदै बौराई। गरब गएउ तरहुँड़ सिर नाई।।
सखन गए उँच दै सुना। गारौ गएउ सीस भा धुना।।
भँवर गएउ केसन्ह दै भुआ। जोबन गएउ जियत जनु मुआ।।
तब लगि जीवन जोबन साथाँ। पुनि सो मींचु पराए हाथाँ।।
बिरिध जो सीस डोलावै सीस धुनै तेहि रीस।
बूढ़े आढ़े होहु तुम्ह केइँ यह दीन्ह असीस।। ''[38]

इस वृद्धावस्था के वर्णन में वही वेदना व्यक्त होती है जो निराला की पंक्तियों में है। साही लिखते हैं कि '' जायसी ने लिखा चाहे मध्यकाल में हो, लेकिन वस्तुतः बीसवीं शताब्दी के कवि हैं। ''

एक मध्यकालीन कवि को आधुनिक कवि के रूप में स्थापित करने में उनका अपना सहृदय चिन्तन व्यक्त होता है। उनकी दृष्टि में जायसी के काव्य के केन्द्र में एक सहज मनुष्य है जो मध्यकाल में भी था और आधुनिक काल में भी है।

जायसी को पहला विधिवत कवि मानते हुए उनको सूफी सम्प्रदाय के दायरे से बाहर निकालकर एक प्रतिभावान कवि के रूप में उनकी पहचान बनाने का पहला प्रयत्न साही ने ही किया है, जिसमें वे सफल भी हुए। जायसी को पहचानने की, उनको समझने की एक नई दृष्टि हमें उनमें मिलती है। उन्होंने जायसी और 'पद्मावत' को सूफीमत के कटघरे से निकालकर साहित्य के व्यापक फलक पर खड़ा किया है जहाँ हम जायसी को एक विशुद्ध कवि और 'पद्मावत' को विशुद्ध काव्य के रूप में देखते हैं।

जाहिर है किसी काव्य को धार्मिक ग्रन्थ के रूप में पढ़ने में और एक विशुद्ध काव्य के रूप में पढ़ने में काफ़ी अन्तर होता है। धर्म–ग्रंथ का काव्यपरक विश्लेषण नहीं होता। अगर होता भी है तो एक सीमा तक ही, जिस पर धर्म की छाया मंडराती रहती है। परिणामतः काव्य की काव्यात्मकता, कवि की प्रतिभा, उसका व्यक्तित्व आदि ओझल हो जाते हैं। उसका सिर्फ धार्मिक विश्लेषण ही होता है। यही जायसी और 'पद्‌मावत' के साथ भी हुआ है। हालांकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी की काव्य प्रतिभा की पहचान की ओर 'पद्‌मावत' की काव्यात्मकता के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया, लेकिन अंततः उन्होंने उसे समासोक्ति काव्य ही माना और उसमें जगह–जगह पर रहस्यवाद को लक्षित किया। उन्होंने लिखा कि : " उस रहस्यमयी सत्ता का आभास देने के लिए जायसी बहुत ही रमणीय और मर्मस्पर्शी दृश्य संकेत उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत ही उंची कोटी की है। वे सूफियों की भक्ति–भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत् के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप माधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों को 'पुरुष' के समागम के हेतु प्रकृति के श्रृंगार, उत्कंठा या विरह–विकलता के रूप में अनुभव करते हैं। दसरे प्रकार की भवना पद्‌मावत में अधिक मिलती है। "[39]

'पदमावत' में कहा गया है कि तन चित्तौर है, मन राजा है, हृदय सिंहल है –

" तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल, बुधि पदिमिनी चीन्हा।।
गुरू सुआ जेहि पंथ–देखावा। बिन गुरू जगत को निरगुन पावा।।

नागमति यह दुनिया धंधा। बॉचा सोइ न एहि चित बंधा।।
राघव दूत, सोइ सैतानू। माया अलादीन सुलतानू।। ''

इन पंक्तियों के आधर पर शुक्ल जी ने 'पद्मावत' को रूपक काव्य माना है।

डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने अपने पाठ शोध में इस छंद को प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में लिखा है – '' इस छन्द को प्रामाणिक मान लेने के कारण जायसी के रूपक–निर्वाह के विषय में शुक्ल जी ने और उनके पीछे के समस्त आलोचकों ने कितना बड़ा वितंडावाद खड़ा किया है। '' वे कहते हैं –

'' अभी तक जायसी के आलोचक इस छंद का मोह नहीं छोड़ सके हैं और किसी न किसी प्रकार से इसका विवेचन–विश्लेषण करते ही हैं। ''[40] इस छंद को प्रक्षिप्त मानते हुए भी माताप्रसाद गुप्त ने 'पद्मावत' को सूफी काव्य ही माना है।

आचार्य शुक्ल द्वारा उठाये गये प्रश्नों का समाधान भी वे सूफ़ी सम्प्रदाय की कथाओं के आधार पर ही देते हैं।

परशुराम चतुर्वेदी ने भी पदमावत को एक कथा–रूपक माना है। लेकिन जहाँ उन्होंने लक्षित किया कि इसमें ऐसे तत्व भी हैं जो इस रूपक तत्व के विरोध में हैं, उन्होंने जायसी को रूपक–निर्वाह में असफल ठहराया।

इन सभी आलोचकों के विपरीत साही यह मौलिक स्थापना देते हैं कि न तो जायसी सूफी संत थे और न ही 'पद्मावत' सूफी काव्य। पूर्वग्रहों के

जाल से मुक्त होकर जायसी को समूचा, उनके सम्पूर्ण सृजनात्मक व्यक्तित्व के साथ देख सकने और श्रेष्ठ कवि का साक्षात्कार कर सकने के लिए साही अपनी प्रतिबद्धता सिर्फ जायसी की कविता के प्रति व्यक्त करते हैं।

'पद्मावत' को सूफी काव्य मानकर चलने के कारण जायसी और उनके काव्य के साथ हुए अन्याय को वे रेखांकित करते हैं –" सूफ़ी मत, सूफ़ी सम्प्रदाय और सूफ़ी सन्तपन का घेरा जायसी और उनके 'पद्मावत' की चारों ओर इस तरह तरह दिया गया है कि उनका कवि–व्यक्तित्व धुंधला पड़ गया है। "[41]

" इस धारणा के कारण कि जायसी सूफी सिद्ध थे, 'पद्मावत' की हमारी समझ पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। तर्क कुछ इस तरह का बन गया है कि चूंकि जायसी सूफ़ी सिद्ध थे, अतः 'पद्मावत' मूलतः सूफी काव्य है। परिणाम यह हुआ कि सब की दृष्टि केवल पद्मावत के केवल उन्हीं थोड़े से स्थलों पर केन्द्रित हो गई जहां सीधे अथवा खींचतान कर भावनात्मक या साम्प्रदायिक तसव्वुफ सिद्ध किया जा सकता था। चूंकि पद्मावत में ऐसे स्थल थोड़े हैं, अतः एक व्यावहारिक परिणाम यह हुआ कि समूचा ग्रंथ आलोचकों, अध्यापकों, साहित्य प्रेमियों और लेखकों की दृष्टि से ओझल हो गया। "[42]

साही के अनुसार जायसी का व्यक्तित्व एक बौद्धिक कवि का व्यक्तित्व है किसी सन्त या बाबा का नहीं। उनके अनुसार अगर जायसी सूफी हैं भी तो कुजात सूफी हैं। जायसी को एक बौद्धिक कवि प्रमाणित करने के लिए साही कई तर्क प्रस्तुत करते हैं।

कई आलोचकों ने इस आधार पर जायसी को सूफी कवि माना कि जायसी ने अपने ग्रंथ में कई सूफ़ी सन्तों के नाम अपने गुरूओं के रूप में लिये हैं। इस आधार पर जायसी को दो परम्पराओं से जोड़ा गया है। जैसे श्याम

मनोहर पाण्डेय लिखते हैं –" जायसी का सम्बन्ध दो गुरू परम्पराओं से है। उनके कुल पूज्य सैयद अशरफ जहांगीर समनानी थे जिनका देहान्त जायसी के रचनाकाल (1540 ई.) से 135 वर्ष पूर्व 1405 में हो गया था। उनके दीक्षा गुरू महदवी सम्प्रदाय के शेख बुरहान थे। "[43]

इस प्रकार किसी सिद्ध पुरूष को या कई सिद्ध पुरुषों को गुरूवत् नमस्कार करना साही सहज मानते हैं। उनका कहना है कि गुरूओं के नामोल्लेख मात्र से ही हम जायसी को सूफ़ी मत में दीक्षित नहीं मान सकते। वे यह भी तर्क देते हैं कि जायसी की सूची में अनेक बाबा हैं और ये बाबा अलग–अलग घराने के थे। किसी भी घराने के अंतर्गत जायसी का उल्लेख नहीं है।

बदायूनी ने अपने 'मुत्तखाबुल–तवारिख' में जायसी से बहुत पहले के कवि मुल्ला दाउद के 'चन्दायन' के बारे में लिखा है। लेकिन जायसी का नामोल्लेख भी नहीं किया है। बदायूनी ने शेख बुरहान के बारे में भी लिखा है जिनको जायसी ने अपने गुरू के रूप में प्रणाम किया है। आईने–अकबरी में भी शेख बुरहान का उल्लेख हुआ है। लेकिन कहीं भी जायसी के बारे में नहीं लिखा गया है, न ही सन्त के रूप में और न ही कवि के रूप में। जायसी के सम्बन्ध में इस 'दहाड़ती हुई चुप्पी' का साही यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जायसी किसी सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं थे जैसे मुल्ला दाउद या मंझन थे। इसलिए उनका नाम किसी भी इतिहास ग्रंथ में नहीं है। वे लिखते हैं : " अब हम इसका भी अनुमान लगा सकते हैं कि जायसी का उल्लेख क्यों किसी मठ या इतिहास में नहीं हुआ। आज भी सम्प्रदाय बनाने वाली हिन्दी आलोचना में यह प्रवृत्ति दिखती है कि अपने सम्प्रदाय के बाहर जो लेखक पड़ते हैं, उनकी उपेक्षा की जाती है। जायसी के युग में तो सम्प्रदाय,

गद्दियों, सरकारी अखबारनवीसों का बोलबाला था। इस परिधि के बाहर जीना मुश्किल था। तब जायसी जैसे फुटैल कवि को कौन पूछता ? "[44]

साही इस बात की ओर भी संकेत करते हैं कि जायसी ने अपने काव्य के साम्प्रदायिक या आध्यात्मिक उद्देश्य का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, जैसे 'छिताई–वार्ता', 'मृगावती', 'चन्दायन', 'रामचरितमानस' के कवियों ने किया है। इन कवियों ने अपने काव्य के मंगलकारी होने का दावा किया था। लेकिन जायसी ने ऐसा कोई दावा नहीं किया बल्कि इसके विपरीत उन्होंने लिखा है :

" सिंघल दीप कथा अब गावौं। औ सो पदुमिनि बरन सुनावौं।
बरन का दरपन भाँति विसेखा। जेहि जस रूप सो तैसेइ देखा।। "[45]

जब जायसी खुद कह रहे हैं कि उनका काव्य दर्पण की तरह स्पष्ट है तो उसमें अन्योक्ति या समासोक्ति की तलाश करना, न मिलने पर जायसी को असफल ठहराना असंगत ही लगता है। साही कहते हैं – " जायसी के इस दर्पण–न्याय से यदि आज का यथार्थवाद अभीप्सित नहीं है तो प्रतीकवाद या रूपक–निर्वाहवाद या अन्योक्तिवाद तो बिल्कुल नहीं है। "[46]

सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि इतने तर्क–वितर्क के बावजूद भी साही के बहुत बाद के लेखकों ने जायसी पर सूफी मत के गहरे प्रभाव को स्वीकार किया है। डॉ. रघुवंश लिखते हैं : " जायसी सूफी सम्प्रदाय के दार्शनिक, आध्यात्मिक पक्ष को अपनी कवि की रचना–भूमि पर ग्रहण एवं अभिव्यक्त करते हैं। यही कारण है कि उनके काव्य में प्रेम–साधना के अंतर्गत

मानवीय भाव–बोध में आध्यात्मिक जीवन की भूमिकाएं समाहित हैं। पद्मावती के अमूर्त और मूर्त दोनों प्रतीक रूपों का लोकोत्तर सौन्दर्य व्यंजित हुआ है। ''[47] उनका मानना है कि जायसी का सूफ़ी मत से सम्बद्ध होने के कारण उनकी काव्याभिव्यक्ति में अद्वैतवाद के अनेक पक्ष उजागर हुए हैं। साथ ही वे यह भी मानते हैं कि जायसी स्वतंत्र प्रकृति के रचनाकार हैं, जिन्होंने मानवीय स्तर पर जीवन की संवेदनाओं को ग्रहण तथा अभिव्यक्त किया है। वे लिखते हैं : '' जायसी को सूफी सम्प्रदाय में दीक्षित तथा 'पद्मावत' को सूफी प्रेमाख्यान मानकर चलने पर जायसी के कवि–व्यक्तित्व को सही दृष्टि से नहीं देखा जा सका है और न ही उनका मूल्यांकन ठीक परिप्रेक्ष्य में हो सका है। ''[48]

हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अगर हम जायसी को सूफ़ी मान भी लें तो साही के शब्दों में कुजात सूफ़ी। सूफ़ीमत और उसके प्रेम तत्व का प्रभाव चाहे 'पद्मावत' पर हो लेकिन वह पारम्परिक सूफ़ी काव्य नहीं है। जायसी सूफ़ीमत की अपेक्षा अपने कवि–कर्म के प्रति ही अधिक सजग और प्रतिबद्ध हैं। 'पद्मावत' को एक कथा–रूपक मान लेने के कारण उसकी उदात्त रचना–दृष्टि और उसमें व्यक्त व्यापक मानवता की भावभूमि आलोचकों की दृष्टि से ओझल हो गई है। संभवतः पद्मावत में कहीं–कहीं लोकोत्तर प्रेम लक्षित होता है। लेकिन यह स्पष्ट है कि 'पद्मावत' की रचना में जायसी का कोई आध्यात्मिक उद्देश्य नहीं है। उनका उद्देश्य सम्पूर्ण मानवीय जीवन की अभिव्यक्ति है। जायसी के काव्य की आध्यात्मिकता में उलझे रहने के कारण ही कुछ आलोचक जायसी के रूपक–निर्वाह में उलझन अनुभव करते हैं। और कुछ आलोचक तो उन्हें इस रूपक–निर्वाह में असफल भी घोषित करते हैं। अगर 'पद्मावत' के इस एक पहलू को हम अधिक महत्व न देकर सम्पूर्ण काव्य पर विचार करेंगे तो इसके कई पहलू उजागर होंगे जिनसे जायसी की उदात्त रचना–दृष्टि व्यक्त होती है।

साही ने व्यापक संवेदनाओं की भावभूमि पर स्थित जायसी की इस रचना–दृष्टि का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार जायसी की रचना–दृष्टि के केन्द्र में सामान्य मनुष्य है, अपने युग की सारी उपलब्धियों और सीमाओं के साथ। '' जायसी का प्रस्थान बिन्दु न ईश्वर है, न कोई नया आध्यात्म है। उनकी चिन्ता का मुख्य ध्येय मनुष्य है – मनुष्य जैसा कि सामान्य जिन्दगी में उठता–बैठता है सीखता है, प्रेम करता है, गृहस्थी चलाता है, युद्ध में वीरता और कायरता दिखलाता है, राज्य स्थापित करता है, छल–कपट, बेईमानी और कमीनापन करता है, सम्प्रदाय स्थापित करता है, बटोर करने के लिए नारे लगाता है – और इस

सब के बाद अपनी अपर्याप्तता की गहरी त्रासदी से ग्रस्त होता है। ''[49] साही के इस वक्तव्य के बारे में डॉ. कन्हैया सिंह ने लिखा है : '' जायसी की इतिहास–दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में साही ने बड़े ही सटीक ढंग से उनकी समग्र काव्य–दृष्टि के सम्बन्ध में एक नपा तुला और सार्थक निष्कर्ष निकाला है जिससे असहमत होना जायसी को ठीक से पढ़ने वाले किसी व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। ''[50]

जायसी मनुष्य को उसकी सारी कमजोरियों के साथ स्वीकार करते हैं। युग के सम्पूर्ण विघटित मूल्यों को लेकर चलते हैं। वे अपने काव्य में मानवीय करूणा को उसकी व्यापक सघनता के साथ प्रस्तुत करते हैं। इसलिए साही जायसी के 'पद्मावत' को ट्रेजडी कहते हैं। '' अपनी मूल प्रकृति में 'पद्मावत' एक त्रासदी है..........शायद हिन्दुस्तान या संभवतः एशिया की धरती पर लिखा हुआ एक मात्र ग्रंथ है जो यूनानियों की ट्रेजडी के काफ़ी निकट है। ''[51]

जायसी ने अपने युग को उसके सम्पूर्ण यथार्थ में स्वीकारा है। वे कहीं भी मूल्यों के विघटन की शिकायत नहीं करते, जैसे कबीरदास और

तुलसीदास अपने काव्यों में करते हैं, एक कुछ अधिक और दूसरे कुछ कम। कबीरदास मुखर रूप में अपने युग की विसंगतियों का विरोध करते हैं और तुलसीदास राम कथा के आदर्श चरित्रों के माध्यम से नैतिक मूल्यों की स्थापना करते हैं और उसी के अंतर्गत मूल्यों के ह्रास की स्थिति को भी दर्शाते हैं। लेकिन जायसी की दृष्टि इनसे भिन्न है। उनका स्वर प्रतिरोधी नहीं है। अपने रचना–कर्म में इन सभी विषमताओं के साथ मानव जीवन को स्वीकार करते हैं। डॉ. रघुवंश के अनुसार "इस प्रकिया में वह इस युग–यथार्थ को इतिहास और पुराण (मिथ–कथा) की कल्पनाओं में संयोजित करते हैं और रचनात्मक अनुभवों तथा भावों की अभिव्यक्ति के बीच सहज ही वह प्रेम व्यंजित होता चलता है जो मानवीय मूल्यों का आधार है, जो युग संदर्भो में विकसित होता हुआ युग–निरपेक्ष हो जाता है।"[52] इस स्थिति में जायसी के काव्य के चारों ओर घिरी पूरी आध्यात्मिकता अप्रासंगिक हो जाती है। यहाँ तसव्वुफ या धार्मिक विचारधारा का कोई स्थान नहीं होता। यहाँ प्रासंगिक रह जाते हैं तो केवल मनुष्य और मानव–मूल्य। साही तो यहाँ तक कहते हैं कि " जायसी की तरह भारतवर्ष और उसके समाज की छवि को फिर कोई न देख सका।"[53] डॉ. कन्हैया सिंह के शब्दों में " जिस मध्यकालीन पुराण लोक से तुलसी–सूर झीने आवरण से यथार्थ की ओर झाँक रहे थे, जायसी ने उसके साथ समसामयिक इतिहास को आमने–सामने रखकर उनके संघर्ष का जोखिम मोल लिया, पर इस जोखिम में जायसी सफल हुए।"[54]

साही और उनके बाद के आलोचकों ने जैसे लक्षित किया है जायसी का काव्य न ही मनोरंजक काव्य है और न ही संदेशवाहक है। साही कहते हैं – " सृजनशीलता के अभाव में मनोरंजन और संदेशवाहन दोनों ही एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। मात्र मनोरंजन और मात्र अध्यात्मिक संदेश – इन दो खतरों को बेधकर जायसी किस तरह अपनी अनुभूति को अर्थवान बनाते हैं, यही उनकी सृजनात्मक क्षमता का रहस्य है।"[55]

जायसी किसी विचारधारा या सिद्धान्त में उलझे नहीं रहते बल्कि वे अपने युग की सम्पुर्ण चिन्तनशीलता और अनुभूति को आत्मसात करते हुए दिखाई देते हैं। 'पद्मावत' में " ठोस मानवीय स्थिति वैचारिक आग्रह में घुलकर अप्रस्तुत नहीं हो जाती, जैसा अन्योक्ति में होता है, बल्कि वैचारिक मुहावरा ठोस परिस्थिति में ही घुल जाता है और ऊपर से सरल दिखने वाली घटनाएं लहर पर लहर फैलती हुई चिंतनशीलता में डूबी हुई दिखती है। अपने सम्पूर्ण प्रसार में यह चिंतनशीलता पूरी कथा में एक तरल विषाद दृष्टि का सृजन करती है जिसमें मानवीय व्यापार के प्रति पीड़ा है किन्तु अवसाद नहीं है; हल्का वैराग्य है, लेकिन गहरी संसक्ति भी है; तटस्थता है, लेकिन स्पष्ट नैतिक विवके भी है। यही वह सुगंध है जो फूल के मरने के बाद भी नहीं मरती। "[56]

'पद्मावत' का अंत किसी मतवाद की स्थापना के साथ नहीं होता बल्कि केवल एक सुगंध शेष रहती है – विषाद जागरूकता और सूक्ष्म नैतिक विवके से युक्त सुगंध। यहीं पर जायसी अमीर खुसरो के मुकाबले अधिक श्रेष्ठ ठहरते हैं। अमीर खुसरो सूफ़ी मत में दीक्षित होने के कारण अपने धर्म, सम्प्रदाय के प्रति प्रतिबद्ध दिखाई देते हैं और उनका लक्ष्य मतवाद की स्थापना है। जैसा पहले कहा जा चुका है अमीर खुसरो अपने 'खजायनुल फतूह' में चित्तौड़ पर अलाउददीन की विजय हिन्दू धर्म पर इस्लाम धर्म की विजय के रूप में देखते हैं जबकि जायसी अधिक संवेदनशीलता और सहिष्णुता के साथ इसे पृथ्वी विजय के रूप में देखते हैं और उस पृथ्वी विजय को भी झूठी घोषित करते हैं। यहां पर के.एम. अशरफ का वक्तव्य भी ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं – " In some ways he (Jayasi) was greater even than Amir Khusrau, for while the latter was more or less

confined in his treatment to Muslim society and adhered to the orthodox view of Islam, the former had drunk deep at the springs of both Hinduism and Islam, and was as a matter of fact, more Hindu than Muslim in his outlook on life. He is the oldest vernacular poet of Hindustan of whose works we have any uncontested remains."[57]

'पद्मावत' में अन्योक्ति या समासोक्ति की जगह साही एक तीसरी अवस्था की संभावना को लक्षित करते हैं जहाँ " वाच्यार्थ अथवा प्रस्तुत प्रसंग की प्रमुखता बराबर बनी रहे और दूसरा अर्थात अप्रस्तुत या व्यंजित अर्थ थोड़ी देर के लिए अतिरिक्त झलक दिखाकर पहले अर्थ में विलीन हो जाए।"[58] जायसी के काव्य में यही शैली दिखाई देती है और इस अवस्था में साही जायसी की बौद्धिक सघनता को देखते हैं। पूरे सिंहल द्वीप को 'यूटोपिया' के रुप में देखते हैं जो जायसी का आंतरिक लोक है जिसकी कोई पौराणिक अथवा साधारणीकृत मिथक–सरीखी सत्ता नहीं है। जैसे सूरदास और तुलसीदास के यहाँ है।

'पद्मावत' के विश्लेषण के क्रम में साही शुक्ल जी के विचारों के विरोध में यह स्थापना देते हैं कि 'पद्मावत' की कथा आदि से अंत तक जुड़ी हुई है। वे शुक्ल जी की तरह कथा को कल्पना और इतिहास में विभाजित नहीं करते

जायसी ने लिखा है :

मुहमद यहि कवि जोरि सुनावा। सुना सो पेम पीर गा पावा ।।
जोरि लाइ रकत कै लेई। गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई ।।

इन पंक्तियों के आधार पर साही कहते हैं कि " पूरी कथा एक इकाई है , उसे खण्डित करके देखने पर हम उसका वास्तविक आस्वादन कर नहीं कर सकेंगे। "[59] 'पद्मावत' को एक इकाई मानते हुए भी साही उसके दो स्वाभाविक विभागों को स्वीकार करते हैं और उन्होंने पूर्वार्द्ध को सिंहल–लोक और उत्तरार्द्ध को इतिहास–लोक कहा। साही की स्थापना है कि कथा का उत्तरार्द्ध भी इतिहास सम्मत नहीं है। बल्कि वे कहते हैं कि जायसी के 'पद्मावत' ने इतिहास का निर्माण किया है। "संसार के साहित्य में, कम ही सही ऐसी कृतियाँ अवश्य हुई हैं जिन्होंने इस प्रकार इतिहास का विशेषतः जातीय इतिहास का निर्माण किया। पद्मावती की यह क्षमता और उसका यह विशिष्ट प्रभाव, पद्मावत के सम्पूर्ण अर्थ पुंज का महत्वपूर्ण अंश है। "[60]

साही ने कथा के पूर्वार्द्ध को यूटोपिया या आंतरिक लोक कहा और उत्तरार्द्ध के इतिहास लोक से इसे भिन्न माना है। उनका कहना है कि इतिहास लोक में आंतरिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। वे सिंहल लोक की बड़ी मार्मिक व्याख्या करते हैं। उसे वे अलोक कहते हैं, जो हमारे सामान्य देश–काल से दूर है। "सिंहल लोक में अवस्थित घटनाक्रम और उससे उद्भूत काल–प्रवाह अपनी विविधता के बावजूद इतिहास–लोक का काल प्रवाह नहीं है जो विरोधों, संघर्षों और असामंजस्य को जन्म देता है। वस्तुतः यह कालप्रवाह तात्विक और मानवीय मूल्यवत्ता का प्रवाह है जिसकी जड़ें हमारी आंतरिकता में है।............ इस सिंहल लोक में तत्वतः न भूत है, न भविष्य। यह एक सतत वर्तमानता का लोक है। "[61]

परमानन्द श्रीवास्तव के शब्दों में "जायसी की विशिष्ट अवधारणा के रुप में सिंहल द्वीप या सिंहललोक की ऐसी मार्मिक व्याख्या करने वाले विजयदेवनारायण साही पहले व्यक्ति हैं।"[62] साही सिंहल लोक को शुद्ध

अलोक, दिल्ली को शुद्ध इतिहास लोक और चित्तौड़ को दो मुहाँ कहते हैं और इन सबको जोड़ने वाली कड़ी पद्मावती को मानते हैं। "वस्तुतः पद्मावती दो दर्पणों के बीच प्रकाश का वह सेतु है जिसके द्वारा कथा के दोनों भाग परस्पर अनुस्यूत होते हैं। "[63]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कथा के उत्तरार्द्ध को अधिक महत्व दिया है। वे पूर्वार्द्ध में प्रेम ही प्रेम देखते हैं और कहते हैं कि मानव जीवन की और उदात्त वृत्तियों का जो समावेश है वह उत्तरार्द्ध में है। वास्तव में सिंहल लोक और इतिहास लोक दोनों रचना की संश्लिष्टता में एक साथ प्रस्तुत हैं। कथा में प्रेम और युद्ध दोनों समान महत्व के साथ अभिव्यक्त हुए हैं। आचार्य शुक्ल ने 'पद्मावत' को केवल एक प्रेमाख्यान माना है। जबकि साही इसे केवल प्रेम की कहानी नहीं मानी बल्कि प्रेम और युद्ध की मिली जुली कहानी मानी है।

जायसी कथा के सभी पात्रों को आत्मसात् करते हैं, लेकिन उन्होंने पद्मावती को अधिक मनोयोग से रचा है। साही पद्मावती को आधा स्वप्न और आधा यथार्थ मानते हैं और यह जायसी का निजी स्वप्न नहीं है, एक पूरी संस्कृति का स्वप्न है। पद्मावती कथा के दोनों भागों में समान रुप से उपस्थित है। साही पद्मावती और नागमती के चित्रण की तुलना करते हैं। कथा के आंरम्भ में नागमती का कोई महत्व नहीं होता। वह केवल एक 'घरनारी' होती है जिसका रतनसेन एक झिड़की से तिरस्कार कर देता है।

"तुम्ह तिरिआ मति हीन तुम्हारी।
मूरुख सो जो मतै घरनारी।।"[64]

लेकिन नागमती का चित्रण यहीं तक नहीं होता। " जायसी की प्रतिभा की सर्वोत्कृष्ट कल्पना ने नागमती की एक तस्वीर हमारे सामने रखी है

जिसने कथा में एक बिल्कुल ही दूसरे प्रकार की गहराई उत्पन्न कर दी है। वह कल्पना है नागमती का विरह–वर्णन। ''[65] नागमती के विरह वर्णन के महत्व को पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पहचाना है। उनसे पहले आलोचकों ने सूफी विचारधारा को पकड़ने की कोशिश के क्रम में नागमती को हाशिए पर छोड़ दिया था। शुक्ल जी ने इस वर्णन में व्यक्त भावों की तीव्रता को पहचाना और उनका विश्लेषण किया है। लेकिन साही के लिए नागमती का विरह वर्णन केवल भावों का तीव्र और संगीतात्मक संप्रेषण मात्र नहीं है। उनके अनुसार वह हमारे आस्वादन में अनुभूतियाँ भी जोड़ता है। नागमती के विरह वर्णन को महत्व देकर साही ने पूरी कथा को सूफी धर्म के प्रभामंडल से बाहर निकाला है।

साही 'पद्मावत' की ट्रेजडी को प्रेम और युद्ध दोनों अवस्थाओं के एक साथ प्रज्वलित हो जाने की ट्रेजडी के रुप में देखते हैं। वे जायसी की उस 'विषाद–दृष्टि' को पकड़ते हैं जो निर्मल, सार्वभौम और एक निरन्तरता लिए हुए व्यक्त होती है। इस विषाद–दृष्टि को वे आधुनिक कवि की विषाद–दृष्टि कहते हैं और जायसी को बीसवीं शताब्दी के कवि घोषित करते हैं।

साही के जायसी और 'पद्मावत' के विश्लेषण में कई जगह व्यावहारिक समीक्षा का भी रुप उभरता है जहाँ साही पुरानी मान्यताओं का खण्डन करते हुए अपने अंतः साक्ष्य के आधार पर नई स्थापनाएँ प्रस्तुत करते चलते हैं। इसकी विस्तार से चर्चा अगले अध्याय में होगी। अन्त में परमानन्द श्रीवास्तव के शब्दों में हम इतना कह सकते हैं कि '' साही की पुस्तक 'जायसी' से गुजरना एक महत्वपूर्ण रचनात्मक अनुभव से गुजरना है। ''[66]

सन्दर्भ-सूची

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन बोध का स्वरुप
2. मध्यकालीन बोध का स्वरुप : पृ–24
3. मध्यकालीन बोध का स्वरुप : पृ–25
4. B. D. Chatopadhyaya – The Making of Early Medieval India ; P-10
5. रामशरण शर्मा , भारतीय सामन्तवाद : पृ–5
6. The Feudal order, ed. D. N. Jha : Pg-466
7. परम्परा का मूल्यांकन : पृ – 53–54
8. मुक्तिबोध रचनावली : खण्ड पाँच – पृ–29
9. मुक्तिबोध रचनावली ; खण्ड़ पाँच – पृ–292
10. साहित्य क्यों ? : पृ–84
11. Feudal order, Ed. By D. N. Jha : P-406
12. S. C. Ray Choudhary – Social, Cultural and Economic History of India : P- 102
13. 'अभिप्राय', मई, 1985 : पृ–18
14. जायसी : पृ–62
15. साहित्य क्यों? : पृ–87
16. साहित्य क्यों? : पृ–87
17. विजयदेवनारायण साही : प–21
18. परम्परा का मूल्यांकन : पृ–78
19. मुक्तिबोध रचनावली खंड़ 5 : पृ–291

20. साहित्य क्यों? : पृ – 91

21. विजयदेवनारायण साही, 'जायसी' : पृ – 59 पर उद्धृत

22. 'जायसी' : पृ – 61

23. पूर्वगह, 65 : पृ – 108

24. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास : पृ – 263

25. पूर्वग्रह, 65 : पृ – 108

26. जायसी : पृ – 1

27. अभिप्राय, मई 1985 : पृ–63

28. पद्मावत सं. माताप्रसाद गुप्त : पृ – 84

29. जायसी : पृ – 11

30. पद्मावत, संपादक माताप्रसाद गुप्त : पृ–83–84

31. पद्मावत, संपादक माताप्रसाद गुप्त : पृ – 86

32. जायसी : पृ–17

33. पद्मावत, सं. माताप्रसाद गुप्त : पृ–85

34. जायसी : पृ–2

35. जायसी : पृ–40

36. जायसी : एक नई दृष्टि, पृ–115

37. पद्मावत : सं. माता प्रसाद गुप्त, पृ–602

38. पद्मावत , संपादक माता प्रसाद गुप्त, पृ–602

39. जायसी ग्रंथावली, पृ–119

40. पद्मावत, संपादक माता प्रसाद गुप्त : पृ–65

41. जायसी : पृ–4

42. जायसी : पृ–25

43. सूफी काव्य विमर्श : पृ–3

44. जायसी : पृ–29

45. पद्मावत, संपादक : माता प्रसाद गुप्त : पृ–87

46. जायसी : पृ–49

47. जायसी : एक नई दृष्टि, पृ–39

48. जायसी : एक नई दृष्टि, पृ–39

49. जायसी : पृ–62

50. मलिक मुहमद जायसी : पृ–51

51. जायसी : पृ–62

52. जायसी : एक नई दृष्टि, पृ–14–15

53. जायसी : पृ–65

54. मलिक मुहमद जायसी : पृ–59

55. जायसी : पृ–66–67

56. जायसी : पृ–67

57. Life and Conditions of the People of Hindustan : Pg no.- 18

58. जायसी : पृ–70

59. जायसी : पृ–81

60. जायसी : पृ–87

61. जायसी : पृ–95

62. पूर्वग्रह 65 : पृ–109

63. जायसी : पृ–99

64. पद्मावत, संपादक – माताप्रसाद गुप्त : पृ–132

65. जायसी : पृ–110

66. पूर्वग्रह, 65 : पृ–110

अध्याय - पाँच

व्यावहारिक समीक्षा और साही का आलोचनात्मक-लेखन

रचना और आलोचना के बीच बुनियादी तौर पर द्विभाजकता (Dichotomy) की कोई गुंजाइश नहीं है । कारण यह कि जहाँ एक ओर हर महत्वपूर्ण रचना किसी न किसी रूप में अपने समय और समाज की आलोचना करती है, वहीं प्राय: महत्वपूर्ण आलोचना की प्रकृति भी मूलत: सर्जनात्मक हुआ करती है । कविता के सन्दर्भ में रचना और आलोचना के अन्त: सम्बन्ध पर गहराई के साथ विचार करते हुए कवि-आलोचक मलयज ने लिखा है कि 'आलोचना का संसार कविता के संसार का विरोधी, उसका विलोम या उसका प्रतिद्वन्द्वी संसार नहीं है, बल्कि वह कविता के संसार से लगा हुआ समानांतर संसार हैं । ये दोनों संसार अपनी-अपनी जगह पर स्वतन्त्र सर्वप्रभुतासम्पन्न संसार है, पर दोनों के बीच एक मित्रता की सन्धि है । दोनों की एक दूसरे के हितों में आपसी जिम्मेदारी है । कविता कुछ भी सिद्ध नहीं करती सिवाय एक अनुभव को रचने के । आलोचना कुछ भी प्रमाणित नहीं करती सिवाय उस रचे हुए अनुभव को व्यापक अर्थविस्तार देने के । अर्थ का एक व्यापक संसार है जिसमें वह अनुभव है और उस अनुभव में कविता है और आलोचना भी । अनुभव ही कविता को आलोचना से जोड़ता है, पर कविता में इस जुड़ने की भाषा अनुभूति है और आलोचना में विचार ।

कविता और आलोचना को जोड़नेवाली एक कडी है : पाठक । कविता पाठक के साथ एक संवाद है (चाहे पाठक स्वयं कवि के भीतर ही क्यों न निवास करता हो) और आलोचना इस संवाद की प्रासंगिकता को कवि और पाठक दोनों के

लिए अन्वेषित करने का काम करती है । कविता और आलोचना इस संवाद की अनिवार्यता के संदर्भ में ही पाठक के प्रति प्रतिश्रुत होते हैं ।2

गजानन माधव मुक्तिबोध ने 'आखिर रचना क्यों ?' का सवाल खड़ा करते हुए लिखा है कि "क्या किया जाए जिससे नयी कविता, जीवन के सुविस्तृत क्षेत्र के विविध रंगों से दीपित होकर, एक ओर वैविध्यपूर्ण जीवन-क्षेत्र का प्रतिनिधित्व कर सके, तो दूसरी ओर स्वात्मकता के खरे और भरे रंग उसमें मिल सकें । .... क्या हम कहें कि नयी कविता केवल मानसिक किन्तु तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है, क्षण-विक्षण प्रतिक्रिया और उसे वैसा होना ही चाहिए, नहीं तो वह नयी कविता नहीं है ? अथवा वह ऐसी काव्य प्रवृत्ति है जिसमें टोटल पर्सनैलिटी इन्वॉल्व्ड है (सम्पूर्ण व्यक्तित्व सन्निहित है) ? और फिर सम्पूर्ण व्यक्तित्व किस प्रकार से सन्निहित है अथवा किस प्रकार से उसे सन्निहित होना चाहिए ? .... क्या लेखक इस तरह लिखे कि अपनी कृति का हल्का-सा प्रभाव छोड़कर छुट्टी पा ले ? अथवा वह इस तरह लिखे कि कथ्य, अपने पूरे तत्वों को मूर्तिमान करते हुए, पाठक के हृदय में अपने प्रभाव के प्रभाव को घनीभूत कर दे, अर्थात् उसके हृदय में भावना उत्पन्न कर दे ? निःसन्देह, कृति की आलोचना अथवा कृति का प्रभाव-ग्रहण कवि के व्यक्तित्व का भी प्रभाव-ग्रहण है ।"3

जिस प्रकार मुक्तिबोध ने 'आखिर रचना क्यों ?' का सवाल खड़ा किया है, उसी प्रकार डॉ. नामवर सिंह आलोचकों द्वारा 'आलोचना क्यों ?' के सवाल पर विचार किया जाना जरूरी मानते हैं । उनके शब्दों में "दरअसल 'आलोचना क्यों ?'

का सवाल स्वयं आलोचकों के लिए है । रचनाकारों की ओर से उठते ही यह सवाल सवाल नहीं रहता, बल्कि एक मांग बन जाता है जबकि यदि यह मांग है भी तो हर आलोचक के अपने आलोचना-कर्म की आंतरिक मांग है । ...... इस प्रश्न का उत्तर एक दूसरे प्रश्न पर निर्भर है कि 'आलोचना क्यों ?' का प्रश्न कोई आलोचक कितने व्यापक और कितने सघन परिप्रेक्ष्य में उठाता है ।"4

जिस प्रकार रचना के क्षेत्र में समय-समय पर विभिन्न प्रवृत्तियों की उभार को रंखांकित किया जा सकता है, उसी प्रकार आलोचना के क्षेत्र में भी रचना की मीमांसा के लिए अनेक प्रविधियाँ अपनायी जाती हैं । पर अध्ययन-विवेचन की सुविधा के लिए आलोचना के क्षेत्र में प्रचलित विभिन्न पद्धतियों को मोटे तौर ार दो वर्गों में बांटकर देखा जा सकता है - सैद्धान्तिक आलोचना और व्यावहारिक आलोचना । स्मरणीय है कि सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत जहाँ साहित्य की विभिन्न विधाओं के मद्देनजर साहित्य मूल्यों के निर्धारण का कार्य सम्पन्न होता है वहीं व्यावहारिक आलोचना में किसी कृति-विशेष को केन्द्र में रखकर उसके प्रभाव, अभिप्राय तथा उसकी सार्थकता का संधान किया जाता है । दूसरे शब्दों में सैद्धान्तिक आलोचना के दरम्यान सूत्र रूप में जो बातें सामने आती हैं, व्यावहारिक आलोचना में उनका विनियोग किसी रचना के मूल्यांकन हेतु किया जाता है । सैद्धान्तिक समीक्षा की जीवन्तता के लिए यह बहुत जरूरी है कि वह शास्त्र-सम्मत प्रतिमान निर्मित करने के साथ ही अपने समय की सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक वास्तविकता से भी पूरी तरह अवगत हो । इसके अभाव में वह केवल शास्त्रीय और एकेडेमिक रूप ले

लेती है । प्रसंगात् डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है कि "जब किसी चर्चा का सम्बन्ध वास्तविकता से नहीं होता अथवा टूट जाता है तभी वह 'शास्त्रीय' रूप लेती है । जहाँ अपील के लिए प्रबुद्ध पाठक समुदाय नहीं होता, वहीं हर आदमी अपने-अपने सिद्धान्त की दुहाई देता है और हर सम्मति को पूर्वग्रह कहा जाता है । यदि प्रतिमान बनानेवालों को इस वस्तु-स्थिति का बोध होता, तो वे प्रतिमान की खोज में प्राचीन शास्त्रों की व्यर्थ खाक न छानते, बल्कि उनका ध्यान सामयिक साहित्यिक वातावरण में निहित प्रतिमान की ओर जाता ।"5 डॉ. सिंह का कहना है कि जहाँ सैद्धान्तिक आलोचना में शास्त्रीयता का आत्यंतिक आग्रह होता है और वह अपने सामयिक लेखन से विच्छिन्नता होती है, वहाँ आलोचना का प्रतिमान ही नहीं गिरता, बल्कि चिन्तन के स्तर में भी गिरावट आती है - आलोचना की भाषा में गिरावट आती है, लफ़्फाजी बढ़ती है, गोलमोल भाषा में हवाई बातें कही जाती हैं, उधार के पारिभाषिक शब्दों से कारोबार चलाया जाता है, जिनका सम्बन्ध अपने यहाँ की वास्तविकता से कतई नहीं होता, अनिश्चित अर्थवाले शब्द इस्तेमाल किये जाते हैं और चिन्तन की मौलिकता समाप्त हो जाती है ।6

बावजूद इसके हम जानते हैं कि दुनिया के विभिन्न साहित्यों की तरह ही हिन्दी में भी सैद्धान्तिक समीक्षा की एक लम्बी परम्परा है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा रचित 'रस मीमांसा', डॉ. नगेन्द्र कृत 'रस सिद्धान्त' आदि ग्रन्थ हिन्दी में सैद्धान्तिक समीक्षा के लगभग प्रतिमान से बन गये हैं । स्पष्टतः सैद्धान्तिक आलोचना की श्रेष्ठता सर्जनात्मक साहित्य की श्रेष्ठता पर आश्रित है, क्योंकि उत्कृष्ट साहित्य की

रचना के पश्चात् ही उसकी आलोचना के मानदण्ड निर्धारित किये जाते हैं । दूसरे शब्दों में, आलोचक द्वारा रचना-सिद्धान्तों का निर्धारण कोरी कल्पना की देन नहीं है, उनके मूल में सर्जनात्मक साहित्य की प्रतिबद्ध गवेषणा रहती है । यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि चिन्तन की गंभीरता का कोई अन्तिम आयाम नहीं होता, फलत: एक ही विषय पर प्राय: अनेक गम्भीर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना सहज संभाव्य है ।7 इससे भिन्न व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्गत रचना का प्रभाव-ग्रहण, उसकी व्याख्या तथा अन्तत: उसका मूल्यांकन और महत्व-निर्धारण किया जाता है । व्यावहारिक आलोचना के दरम्यान आलोचक की दृष्टि इस बात पर केन्द्रित होती है कि आलोच्य कृति सहृदय पाठक और समाज का कहाँ तक मार्ग निर्देशन कर सकती है । वह इस बात की भी खोज करता है कि युग विशेष का चित्रण करते समय कहीं लेखक ने उसके विविध मूल्यों को सीमित तो नहीं कर दिया है अथवा शाश्वत मानव मूल्यों के समन्वय द्वारा उसे कहाँ तक सर्वयुगीन बनाया गया है । मोटे तौर पर निर्णय की चार कसौटियाँ मानी गयी हैं - मानव-मूल्य, परम्परा-बोध, नैतिक मूल्य तथा व्यक्तिगत साहित्यिक रुचि । स्पष्ट ही आलोचक की व्यक्तिगत अभिरुचि को अन्य मूल्यों के सन्दर्भ में ही देखा जाता है । अत: यह कहना अनुपयुक्त नहीं कि "व्यावहारिक आलोचना का क्षेत्र भी अत्यन्त विशाल है । सिद्धान्तों को कृतियों पर लागू करके अथवा स्वतन्त्र कला-विवेक से जब कृतियों की आलोचना की जाती है तब व्यावहारिक आलोचना का रूप खड़ा होता है । इस आलोचना के अन्तर्गत रचना-प्रक्रिया व काव्य त्रिकोण (स्रष्टा, समीक्षक व पाठक-वाचक वर्ग) की व्यावहारिक व्याख्या तो हो ही सकती है, साथ ही युग व समाज, रचनाकार के निजी जीवन-

परिवेश और उसकी मनः स्थिति सामयिक युग की रचनाओं अथवा ऐतिहासिक अनुक्रम में रखकर पूर्वयुगीन रचनाओं से तुलना, प्रभाव-निरूपण, गुण-दोषों की विस्तृत व्याख्या, आगमन या निगमन पद्धति से विषय के सोदाहरण विश्लेषण-विवेचन से भी इस प्रकार की आलोचना का सजीव व परिपूर्ण व्यक्तित्व निर्मित होता है । इसमें रचनाकार की मौलिक दृष्टि, जीवन-मूल्यों, आस्था-विश्वासों व उसके व्यक्तित्व के अन्य भास्वर गुणों या तत्वों (जीवन-पर्यवेक्षण, अनुभूति गंभीर्य, कल्पना-शक्ति का उत्कर्ष, प्रभाव-ग्रहण-शक्ति, विषय-प्रतिपादन-क्षमता आदि) के प्रकाशन का अवसर भी यथेष्ट मात्रा में लेखक को प्राप्त होता है ।"8

कहने का तात्पर्य यह कि सिद्धान्ततः आलोचनात्मक प्रतिमानों पर चर्चा करना एक बात है और उसका किसी कृति विशेष की व्याख्या के क्रम में विनियोग करना बिलकुल भिन्न बात है । सच तो यह है कि शुद्ध सैद्धान्तिक समीक्षा लिखने वाले लोगों की विश्वसनीयता साहित्य क्षेत्र में प्रायः सन्दिग्ध हुआ करती है । संसार में व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य करनेवाले आलोचकों में एक आइ.ए. रिचड्र्स ने सही लिखा है कि "Critical principles, infact, need wary handling. They can never be a substitute for discernment though they may assist us to avoid unnecessary blunders. There has hardly ever been a critical rule, principle or maxim which has not been for wise men a helpful guide but for fools a will-o'-the-wisp,"9 इसी सत्य को अपने ढंग से विवकक्षित करते हुए रेनेवेलक और ऑस्टिन वारेन ने अपनी पुस्तक 'साहित्य सिद्धान्त' (Theory of Literature) में लिखा है कि साहित्य के सिद्धान्तों और

मानदण्डों के अध्ययन और ठोस साहित्यिक कलाकृतियों के अध्ययन के बीच फर्क आ जाता है, चाहे हम इन्हें "अलग छाँट कर अध्ययन करें या कालक्रम में रखकर । यदि हम साहित्यिक अध्ययन के नियमों, वर्गीकरणों और मानदण्डों को 'साहित्य-सिद्धान्त' मान कर चलें और इसे ठोस कलाकृतियों के अध्ययन से अलग करते हुए इस दूसरे को 'साहित्यालोचन' (जो मुख्यत: अध्ययन की एक रूढ़ प्रणाली है) या साहित्यिक इतिहास कहें तो हमारे लिए अधिक सुभीते की बात होगी । इसमें शक नहीं कि 'साहित्यालोचन' शब्द का प्रयोग अक्सर इस तरह किया जाता है मानो इसमें सारा साहित्य-सिद्धान्त समेट लिया गया हो, लेकिन इस तरह का प्रयोग करते समय एक उपयोगी भेद-रेखा की उपेक्षा कर दी जाती है । अरस्तू सिद्धान्तरचयिता थे, सेण्ट ब्यूव मुख्यत: आलोचक थे । केनेथ बर्क काफ़ी हद तक सिद्धान्तकार हैं, जब कि आर.पी. ब्लैकमूर साहित्यालोचक ।"10

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी लिखा है : "आलोचना या समालोचना का अभिप्राय 'काव्य मीमांसा' या 'साहित्य मीमांसा' नहीं है । दोनों को एक अथवा पर्यायवाची समझना एक बहुत बड़ी भूल होगी । 'काव्य मीमांसा' समालोचना से भिन्न कोटि की वस्तु है, यद्यपि दोनों परस्पर सम्बद्ध और सहायक हैं । काव्य-मीमांसा का सम्बन्ध मुख्यत: काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों के आख्यान और निरूपण से होता है, जबकि समालोचना का उद्देश्य-गुण-दोष विवेचन सहित कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्तर्पकृति की छानबीन कर उनका मूल्यांकन करना होता है, सैद्धान्तिक निरूपण और आख्यान नहीं - भले ही प्रसंगवश आनुषंगिक रूप से उसमें कहीं-कहीं सिद्धान्त कथन भी विद्यमान है ।"11

शुक्लजी के आलोचना-विषयक उपर्युक्त मंतव्य पर टिप्पणी करते हुए डॉ. रामकृपाल पाण्डेय कहते हैं "उसी समालोचना को वे (शुक्लजी) स्थायी साहित्य में परिगणित करते हैं जिसमें किसी कवि की अन्तवृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दिखाई जाती हैं । उस आलोचना को जो भाषा के गुण, दोष, रस, अलंकार आदि की समीचीनता इत्यादि परम्परागत विषयों तक ही सीमित रहती है, जिसमें कवि की अन्तवृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद नहीं होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दृष्टिगोचर नहीं होती हैं, वे स्थायी साहित्य के अन्तर्गत परिगणित नहीं करते । ...... समालोचना से उनका तात्पर्य व्यावहारिक आलोचना तक ही सीमित है, उसके भीतर सैद्धान्तिक आलोचना का समावेश नहीं है । पश्चिम में तो स्वयं शुक्ल जी के शब्दों में 'काव्य-सिद्धान्त-निरुपण से स्वतन्त्र एक विषय' है ही ।"12

हिन्दी में व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में हुए विकास पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल के अन्तर्गत तृतीय उत्थान के मद्देनजर विचार किया है । अपने साहित्येतिहास में उन्होंने व्यावहारिक आलोचना के नाम पर लिखित भावात्मक और काव्यात्मक गद्य को देखकर लिखा कि "जहाँ गंभीर विचार और व्यापक दृष्टि अपेक्षित है, उसे घसीटे जाते देख दुःख होता है । जो चिंतन के गूढ़ विषय हैं उनको भी लेकर कल्पना की क्रीडा दिखाना कभी उचित नहीं कहा जा सकता । विचार क्षेत्रों के ऊपर इस भावात्मक और कल्पनात्मक प्रणाली का धावा पहले पहल 'काव्य का

स्वरूप' बतलानेवाले निबंधों में बंग साहित्य के भीतर हुआ, जहाँ शेक्सपियर की यह उक्ति गूँज रही थी -

"सौंदर्य मद में झूमती हुई कवि की दृष्टि स्वर्ग से भूलोक और भूलोक से स्वर्ग तक विचरती रहती है ।"

काव्य पर न जाने कितने ऐसे निबंध लिखे गए जिनमें सिवा इसके कि 'कविता अमरावती से गिरती हुई अमृत की धारा है , 'कविता हृदय कानन में खिली हुई कुसुमलता है', 'कविता देवलोक के मधुर संगीत की गूँज है' और कुछ भी न मिलेगा । यह कविता का ठीक-ठीक स्वरूप बतलाना है कि उसकी विरुदावली बखानना ? हमारे यहाँ के पुराने लोगों में 'जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि' जैसी बहुत सी विरुदावलियाँ प्रचलित थीं, पर वे लक्षण या स्वरूप पूछने पर नहीं कि उसके स्वरूप का निरूपण भी भावमय, रसमय, चित्रमय हो । कविता के ही निरूपण तक भावात्मक प्रणाली का यह धावा रहता तो भी एक बात थी, कवियों की आलोचना तथा और विषयों में भी इसका दखल हो रहा है, यह खटके की बात है । इससे हमारे साहित्य में घोर विचारशैथिल्य और बुद्धि का आलस्य फैलने की आशंका है । जिन विषयों के निरूपण में सूक्ष्म और सुव्यवस्थित विचार परंपरा अपेक्षित है, उन्हें भी इस हवाई शैली पर हवा बताना कहाँ तक ठीक होगा ।"13

शुक्ल जी का मानना है कि सही मायने में समालोचना हम उसे ही कह सकते हैं जिसमें गुण-दोष के कथन से आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी

अन्त:प्रवृत्ति की छानबीन की ओर भी ध्यान दिया गया हो । कहने की जरूरत नहीं है कि इसके लिए आलोचक का सच्चे अर्थों में सहृदय होना पहली शर्त है क्योंकि इसके अभाव में आलोचना के नाम पर प्राय: वागविलास ही दिखाई देता है । अपने समय की आलोचना में व्याप्त ऐसी ही अराजकता की स्थिति के मद्देनजर रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है : "ऊपरी रंग ढ़ंग से तो ऐसा जान पड़ेगा कि कवि के हृदय के भीतर सेंध लगाकर घुसे हैं और बड़े-बड़े गूढ़ कोने झाँक रहे हैं, पर कवि के उद्धृत पद्यों से मिलान कीजिए तो पता चलेगा कि कवि के विविध भावों से उनके वाग्विलास का कोई लगाव नहीं । पद्य का आशय या भाव कुछ और है, आलोचक जी उसे उद्धृत करके कुछ और ही राग आलाप रहे हैं । कवि के मानसिक इतिहास का एक आरोपित इतिहास तक - किसी विदेशी कवि के मानसिक विकास का इतिहास कहीं से लेकर वे सामने रखेंगे, पर इस बात का कहीं कोई प्रमाण न मिलेगा कि आलोच्य कवि के पच्चीस तीस पद्यों का भी ठीक तात्पर्य उन्होंने समझा है ।"14

आलोचना विषयक उपर्युक्त विमर्श के आलोक में डॉ. विजयदेवनारायण साही के आलोचनात्मक लेखन पर विचारने से स्पष्ट होता है कि उनके अनुसार "आलोचना का काम साहित्यिक कृति की संवेदना को ज़बरदस्ती खींचकर पाठक तक पहुँचाना नहीं है । आलोचना सिर्फ़ इतना कर सकती है कि पाठक के जो भी वैचारिक या धारणात्मक पूर्वग्रह, जाने या अनजाने, अपनी उपस्थिति या अनुपस्थिति के कारण, पाठक को उस ओर उन्मुख होने से रोक रहे हैं जहाँ से काव्य का 'प्रभाव' प्रवाहित हो रहा है, उन्हें विशिष्ट करके पाठक को एक उचित तत्परता की अवस्था में

छोड़ दे । यन्त्र-जगत् की एक स्थूल उपमा के द्वारा हम यों कह सकते हैं कि रेडियो की सुई को उचित लहर-मान पर लाकर लगा भर देना आलोचना का काम है, बाकी ट्रान्समीटर से आता हुआ गायन तो रेडियो सेट स्वयं पकड़ेगा । अब अगर वहाँ से गायन आ ही न रहा हो या आवाज़ में गड़बड़ी हो, तो आलोचक गाने वाले के स्वर से स्वर मिलाकर गा नहीं सकता ।"15

कवि की अन्तवृत्तियों और मानसिक विशेषताओं को पकड़ने की जो बात आचार्य रामचन्द्र शुक्ल करते हैं वह साही की आलोचना में बख़ूब मिलती है । कविता की अन्तः प्रकृति तक पहुँचकर उसे सामाजिक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में रखकर उसके भाव को ग्रहण करना, साही की आलोचना पद्धति का महत्वपूर्ण अंग है । 'आल्हखण्ड' के विश्लेषण के क्रम में वे आल्हा-ऊदल के संघर्ष की कहानी के पीछे निहित उनकी मानसिक स्थिति, प्रतिशोध की भावना, समाज में बराबरी का दर्जा प्राप्त करने की आकांक्षा आदि को उद्‌घाटित करते हैं । इस काव्य में एक जगह आल्हा-ऊदल के पिता और पितामह उन्हें उलाहना देते हुए कहते हैं -

"हम तो जानी अपने मन में, लरिका जब हुई है हुसियार ।
गया हमारी ता दिन करि हैं जा लैहैं बदलो आप ।
आस टूट गई अब तौ हमरी लरिका जोगी भये हमार ।
घर-घर टुकड़ा माँगत डोलैं छत्री बंस लजाओ आप ।"

इन पंक्तियों की व्याख्या करते हुए साही लिखते हैं कि आल्हा ऊदल की पूरी कथा की 'थीम' बदले की भावना की है । "यह बदला - इस बदले की सारी कहानी उनके इस दावे की कहानी है कि वे क्षत्रियों के बराबर है और उन्हें इस बराबरी का दर्जा उस समय के स्थापित क्षत्रिय परिवारों द्वारा नहीं दिया जा रहा था । अतः उन्होंने अनगिनत लडाइयाँ-विवाह के लिए, शौर्य-प्रदर्शन के लिए, प्रतिशोध के लिए लड़ी । ये सब आल्हा-ऊदल की कथा की 'थीम' है ।"16

'धर्मनिरपेक्षता की खोज में हिन्दी साहित्य और उसके पड़ोस पर एक दृष्टि' डालते हुए डॉ. साही लिखते हैं कि मध्ययुगीन काव्य के सामने एक ओर फिरदौसी और दूसरी ओर कालिदास दोनों दो संभावनाएँ हैं । महमूद गजनवी के दमन के बावजूद 'शाहनामा' के अमर होने के पीछे फिरदौसी की जो दृष्टि है, साहस है, समन्वय का जो भाव है उसकी प्रशंसा करते हुए और 'शाहनामा' के सामने हीर-राँझा, सोहनी महीवाल, रस्सो-पुन्नो, यहां तक कि 'पद्मावत' की कथा की भी असफलता को रेखांकित करते हुए साही लिखते हैं कि "फिरदौसी और उसके शाहनामा के प्रवाह का मतलब सिर्फ दूर से झलकने वाली निर्मल, मोहिनी और चंचल लोक गाथा नहीं है । वह कुछ और है । वह एक ऐसा प्रामाणिक रचनाविधान है जो एक ही बहाव में लोक-संस्कृति और उच्च संस्कृति दोनों को इस तरह जोड़ देता है कि अंतर मिट जाता है :

मनम करदा-अम रुस्तमे दास्तां
वगरना चले बूद दर सीस्तां !

(मैंने उसे गाथा-पुरुष रुस्तम बना दिया, नहीं तो वह सीस्तान का एक पहलवान ही तो था ।)

बसे रंज बुददम दरी साल सी
अजम जिंदा करदम वदीं पारसी ।

(इन तीस वर्षों में मैं ने बड़े कष्ट उठाये, लेकिन अपनी इस फ़ारसी भाषा में मैंने ईरान को जीवित कर दिया ।)

इस तरह धर्मान्धता के सामने फ़िरदौसी ने बहुत पहले एक धर्मनिरपेक्ष समन्वय, राष्ट्रीयता की थरथराहट के साथ प्रस्तुत किया जिसके आगे महमूद ग़ज़नवी जैसा कट्टर बादशाह भी छोटा पड़ गया । भारतीय मध्यकाल के उथल-पुथलवाले समाज के सामने फ़िरदौसी का समन्वय, सम्भावना की तरह एक क्षितिज पर स्थित है ।"17

इसी बात को आगे बढ़ाते हुए साही कालिदास को संभावना के दूसरे क्षितिज पर स्थित मानते हैं । वे लिखते हैं - "कमनीयता, कीर्ति, प्रेम और मधुर मादकता से बनी हुई कालिदास की दुनिया मूलतः धर्मनिरपेक्ष दुनिया है । पराक्रमी पुरखों से लेकर आख़िरी क्षय तक कालिदास जिस तटस्थ भाव से समूचे रघुवंश की तसवीर हमारे सामने रखते हैं वह न केवल धर्मनिरपेक्ष है बल्कि कुछ हद तक नीति-निरपेक्ष भी लगती है । यह दूसरा क्षितिज है ।"18

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को इन दोनों क्षितिजों के बीच रखकर परखते हुए साही ने मध्यकालीन कवियों का मूल्यांकन किया है । वे तुलसीदास और सूरदास को श्रेष्ठ कवि तो मानते ही हैं लेकिन कबीरदास और जायसी को उनके महत्वपूर्ण अग्रज मानते हुए उनके काव्य और कवि-व्यक्तित्वों का विश्लेषण पहले और अधिक विस्तार से करते हैं । हिंदू और मुसलमान दोनों से समान दूरी पर रहनेवाले कबीरदास को वे मुखर कवि मानते हैं और अपनी एक कविता में कबीरदास को अपना गुरु मानते हुए उनसे फटकारकर सच बोलने की शक्ति देने की प्रार्थना भी करते हैं । परन्तु इस मुखरता का जो परिणाम केवल नये सम्प्रदायों और मठों की स्थापना के रूप में हुआ उसका भी वे उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि कबीरदास के इस विद्रोह ने समय के साथ अधिक विशाल विप्लव को जन्म नहीं दिया और जाति-संस्था में कोई झिंझोड नहीं पैदा किया जिसके कारण तुलसीदास को निर्गुण संतों की आलोचना करने का अवसर प्राप्त हुआ, जहां वे कहते हैं कि -

"साखी सबदी दोहरा, करि किहनी उपखान ।
भगति निरूपहि अधमजन, निंदहि वेद पुरान ।।"19

कबीरदास की क्षमता और उनके महत्व को स्वीकार करते हुए भी साही जायसी को हिन्दी का पहला विधिवत् कवि मानते हैं । वे इस बात को नहीं भूलते कि कबीरदास ने कविता के द्वारा एक अत्यन्त कठिन समय में अभिव्यक्ति की समर्थ और शक्तिशाली राह बनाई थी और उनके पथ-प्रदर्शन और क्षमता के बिना शायद जायसी

के लिए 'पद्मावत' को लिख पाना भी संभव न होता । लेकिन साथ ही रचना प्रक्रिया और भाषा की दृष्टि से वे कबीरदास को 'कवि' की अपेक्षा सन्त मानते हैं । इस दृष्टि से वे जायसी को हिन्दी का पहला कवि मानते हैं । इसी स्थापना के साथ साही ने जायसी के उपेक्षित कवि-व्यक्तित्व और उनके काव्य 'पद्मावत्' का विस्तार से विवेचन किया है । जायसी और उनके 'पद्मावत' को सूफ़ीमत के आवरण से निकालकर उन्हें विशुद्ध कवि और काव्य के रूप में स्थापित करके उन्होंने 'पद्मावत' के अध्ययन के नये रास्ते खोलें । अपने विश्लेषण के क्रम में वे 'पद्मावत' को दो हिस्सों में बाँटकर उन्हें सत्य के दो स्तर मानते हैं । 'पहला अंश - रत्नसेन और पद्मिनीवाला-ख़ासा अलौकिक और जादुई है । यहीं वह प्रेम-रसायन परिभाषित होता है । दूसरा अंश-अलाउद्दीन बनाम चित्तौड़वाला - लगभग यथार्थवादी और ऐतिहासिक घटना सरीखा है । इस तरह सत्य के दो स्तरों की मुठभेड़ है ।' सत्य के इन दोनों स्तरों को एक साथ पकड़ने का प्रयत्न साही ने किया है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'पद्मावत' को दो भागों में विभाजित किया था । लेकिन अपना पूरा ध्यान पहले भाग, जिसको वे कल्पना-लोक कहते हैं, पर केन्द्रित किया था और दूसरे भाग, इतिहास-लोक को गौण मान लिया था । साही ने इस इतिहास वृत्त को महत्व दिया जिसे वे इतिहास नहीं मानते । वे 'पद्मावत' के इस उत्तरार्ध की कथा को इतिहास पर आधारित मानने के बजाय पहले की लोक कथाओं पर आधारित मानते हैं । उनका कहना है कि दोनों भागों में कल्पना समान रूप से काम करती है । पद्मावत का निर्माण इतिहास के आधार पर नहीं हुआ, लेकिन संभवत: 'पद्मावत' के आधार पर इतिहास का निर्माण हुआ है, जैसे कुछ महत्वपूर्ण कृतियों से होता है । साही लिखते हैं - "जिसे शुक्ल जी

ने इतिहास का वृत्तान्त कहा है, वस्तुत: वह इतिहास नहीं है । आधुनिक अर्थों में वह पूर्णत: यथार्थवादी भी नहीं है । इसलिए हम उसे इतिहास या यथार्थ न कहकर थोड़ा अधिक लचीला नाम देंगे । कथा का उत्तरार्द्ध एक 'इतिहास-लोक' निर्मित करता है । यह इतिहास-लोक पूर्वार्द्ध के लोक से भिन्न है जिसे हमने यूटोपिया, अलोक या सुविधा के लिए सिंहल लोक जैसा नाम दिया है । इस इतिहास-लोक की प्रामाणिकता का आधार यह है कि इसकी घटनाएँ आस-पास के सत्ता-संघर्ष के सामान्यीकृत नमूने हैं । दिल्ली और शेष भारतीय समाज के बीच की खाई और उस खाई को निरन्तर युद्धों से पाटने की चेष्टा इस इतिहास-लोक को एक आतंककारी मुद्रा प्रदान करती है ।"20

इस इतिहास-लोक और सिंहल लोक के बीच की एकतानता को रेखांकित करते हुए साही 'पद्मावत' को सुगठित और एकतान संरचना का काव्य कहते हैं । वे लिखते हैं : "वास्तविकता यह है कि अलोक और लोक, सिंहल द्वीप और इतिहास का जो संधिस्थल जायसी ने देखा, वह फिर किसी कवि ने हिन्दी में नहीं देखा । इसीलिए जायसी अपने ट्रैजिक विज़न अथवा विषाद-दृष्टि में अकेले हैं, उनका न कोई पूर्ववर्ती है, न परवर्ती है ।

सिंहल-द्वीप का वर्णन करते हुए जायसी लिखते हैं :

"जबहि दीप निअरावावा जाई । जनु कविलास निअर भा आई ।।
घन अँबराउँ लाग चहुँ पासा । उठै पुहुमि हूति लाग अकासा ।।

तरिवर सबै मलौगिरि लाए । भै जग छाँह रैनि होइ छाए ।।

मलै समीर सोहाई छाहाँ । जेठ जाड़ लागै तेहि माहाँ ।।

ओहि छाँह रैनि होइ आवै । हरिअर सबै अकास रिखायै ।।

पंथिक जौं पहुँचै सहि धामू । दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू ।।

जिन्ह वह पाई छाँह अनूपा । बहुरि न आइ सही यह धूपा ।।

अस अँबराउँ सघन घन बरनि न पारौ अंत ।

फूलै फरै छहूँ रितु जानहु सदा बसंत ।।"21

इन पंक्तियों का विश्लेषण करते हुए साही लिखते हैं कि "पहली तसवीर बाहर से दिखती हुई अमराई की है और पहली चौपाई में द्वीप के निकट पहुँच कर 'कविलास' (जो जायसी के लिए यूटोपिया और स्वर्ग का मिलता-जुलता अर्थ देने वाला शब्द है) की प्रतीति होती है । फिर बारम्बार जेठ की धूप में तपकर आते हुए पथिक के लिए छाया और विश्राम के बिम्बों के द्वारा इस दूरी की अनुभूति को पुष्ट किया गया है । 'अनूप छाँह' सिंहल-लोक है । 'यह धूप' इतिहास-लोक है । इस छाँह का साक्षात्कार धूप वाली दुनिया को तिरोहित कर देता है, ऐसी इसकी प्रकृति है । लेकिन जैसा हम देखेंगे, रतनसेन की कथा सही है कि इस अनूप छाँह को पाने के बाद भी इस धूप वाले इतिहास-लोक में वापस आना पड़ा । दोनों लोकों का सम्बन्ध ही इसी प्रकार का है ।"22

ऊपर उद्धृत अनुच्छेद से गुजरते हुए एक आलोचक के रुप में साही की सर्जनात्मकता का पता चलता है । सिंहल द्वीप वर्णन विषयक 'पद्मावत' के काव्यांश

की आत्मा में प्रवेश करके वे लगभग अपना पाठ रचते हुए दिखाई देते हैं । लेकिन उनका पाठ 'पद्मावत' के मूल पाठ से रस ग्रहण कर समृद्ध हुए अपने भाव-लोक को विश्लेषण के स्तर पर शब्द बद्ध करने की प्रक्रिया में रचित पाठ है । जायसी द्वारा प्रयुक्त 'कविलास', 'छाँह अनूपा' और 'यह धूपा' जैसे पदों की जो व्याख्या यहाँ की गई है, वह आलोचक के रूप में साही के अर्थ-बोध और बिम्ब ग्रहण की अद्‌भुत क्षमता का परिचायक है ।

मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' में अपने मित्रों की चर्चा करते हुए लिखा है :

"चारिउ चतुरदसौ गुन पढ़े । औ संग जोग गुसाई गढ़े ।।
बिरखि जो आछहिं चंदन पासाँ । चंदन होहि बेधि तेहि बासाँ ।।

मुहमद चारिउ मीन मिलि भए जो एकइ चित्त ।
एहि जग साथ जो निबहा ओहि जग बिछुरन कित्त ।।"23

साही का कहना है कि प्राय: विद्वानों ने जायसी रचित इस प्रसंग को नजर अंदाज कर दिया, जबकि वास्तविकता यह है कि जायसी के व्यक्तित्व को समझने में इससे काफ़ी मदद मिलती है । "आखिर आदमी के व्यक्तित्व का अंदाजा उसके दोस्त किस तरह से है इससे भी लगता है । जायसी द्वारा अपने चार मित्रों का उलेख और भी महत्वपूर्ण है क्योंकि मसनवी पद्धति में ईश्वर, पैगम्बर, शाहेवक्त और गुरू की स्तुति के अतिरिक्त दोस्तों का उल्लेख करने की कोई परिपाटी नहीं है । ऐसा लगता है कि जायसी का उद्देश्य अपने काव्य के साथ अपने दोस्तों को भी अमर कर

देने का ही था, या इन दोस्तों ने ही अपना नाम अपने दोस्त की कविता में डलवाकर अपने अमर हो जाने का इंतजाम करवा लिया । दोनों ही स्थितियों में इन दोस्तों और जायसी में काफ़ी घनिष्ठता थी ।"24 साही की इस व्याख्या की सबसे बड़ी खूबी यह है कि जहाँ इसमें एक ओर उनकी दृष्टि काव्य-कृति के शिल्प पक्ष पर है, वहीं दूसरी ओर वे मानवीय सम्बन्धों की अंतरंगता से उत्पन्न तीव्र भावावेग के चलते मसनवी पद्धति का अतिक्रमण करनेवाली कवि-दृष्टि को भी रेखांकित करते हैं । इसके साथ ही जायसी की कविता में आये विभिन्न पारिभाषिक शब्दों को लेकर भी अपनी आलोचना के दरम्यान साही कई बार जूझते हुए से दिखाई देते हैं । जायसी के चारों मित्रों के सन्दर्भ में जिन चौदह विद्याओं की चर्चा की गई है, उसे समझाते हुए साही लिखते हैं : चौदह विद्याओं का निरूपण इस प्रकार किया गया है : चार वेद, छह वेदांग, पुराण, मीमांसा, न्याय और धर्मशास्त्र । स्पष्ट है कि चतुर्दश विद्या का यह पारिभाषिक अर्थ जायसी को अपने मुसलमान मित्रों के प्रसंग में अभिप्रेत नहीं है । जायसी 'पद्मावत' में तथा अन्यत्र भी हिन्दू पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मुस्लिम धार्मिक, साम्प्रदायिक या सांस्कृतिक सन्दर्भों में करते हैं । इस नितान्त नई बौद्धिक भंगिमा से जायसी का संपूर्ण व्यक्तित्व अनुप्राणित है । पारिभाषिक शब्दावली को इस तरह घुलाने, लचीला बनाने और अर्थ-विस्तार द्वारा सांस्कृतिक मिश्रण तैयार करने की कुछ शुरुआत मुल्ला दाऊद के 'चन्दायन' और उससे कुछ बड़े पैमाने पर सन्त कवियों कबीर आदि में मिलती है । लेकिन 'चन्दायन' में इतने बड़े सांस्कृतिक मिश्रण का अवसर नहीं है । कबीरदास की शब्दावली चूंकि हिन्दू-तुरुक, दोनों को काटती है, अत: उसमें अर्थ के फैलने की तुलना में एक नये सम्प्रदाय और फलत: नई

रूढ़ पारिभाषिक शब्दावली के निर्मित होने की संभावना अधिक है । कबीरदास में शब्दावली का विद्रोह है और नये संदर्भ की खोज है । जायसी में शब्दावली की अद्‌भुत स्थानान्तरणशीलता है और द्विभाजक सन्दर्भों को घुलाकर एक कर देने की क्षमता है ।"25

यह ठीक ही कहा गया कि सम्पूर्ण साहित्यकारों तथा साहित्यिक कृतियों का लेखा-जोखा ही इतिहास नहीं है, बल्कि किसी एक साहित्यकार अथवा एक साहित्यिक कृति का समुचित मूल्यांकन भी इतिहास हो सकता है, क्योंकि मुख्य प्रश्न ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का है । वास्तविक आलोचक किसी एक कृति का मूल्यांकन करते समय परोक्ष रूप से साहित्य की समस्त कृतियों का मूल्यांकन करता है, यदि वह ऐसा नहीं करता, तो वह मूल्यांकन ही नहीं है ।26 इस दृष्टि से साही की जायसी विषयक आलोचना पर विचार करते हुए स्पष्ट होता है कि किसी कृति या काव्यांश की व्यावहारिक आलोचना करते हुए भी वे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को कतई नजरअन्दाज नहीं करते । 'पद्मावत' की शब्दावली में द्विभाजित सन्दर्भों को घुलाकर एक कर देने की क्षमता को रेखांकित करने के क्रम में उन्होंने इसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का जिक्र किया है : "फ़ारसी शायरी में जायसी से लगभग पाँच सौ वर्ष पहले फिरदौसी के सामने भी कुछ ऐसी ही समस्या थी जब उसने 'शाहनामा' लिखा । फ़िरदौसी मुसलमान था और ईरानी भी । इस्लाम के साथ ईरान में अरबी धार्मिक-पारिभाषिक शब्दावली का फैलाव आया । फिरदौसी ने अपने काव्य में अरबी शब्दों का बहिष्कार किया और उनकी जगह फ़ारसी भाषा के पुराने और प्रचलित शब्दों को नवीन

धार्मिक-संस्कृतिक सन्दर्भ में प्रयुक्त किया । अरबी अल्लाह, नबी, मलायक आदि का फ़ारसी खुदा, पैग़म्बर, फरिश्ता हो जाने की यही कथा है । इसी सन्दर्भ में हम अल्लाह या खुदा की जगह जायसी के करतार या गुसाईं, नबी या पैग़म्बर की जगह बसीठ, कुरान की जगह पाढ़ित या पुरान और मलिक या फ़रिश्ता की जगह अढ़वायक या 'अढ़वैयन' की सृजनशीलता को समझ सकते हैं । फिरदौसी के कृतित्व से न सिर्फ़ फ़ारसी कविता और सृजनात्मक प्रतिभा को एक शक्तिवान उन्मेष प्राप्त हुआ, बल्कि खुद ईरानी समाज को एक नई पहचान मिली । ...... शब्दों की सांस्कृतिक स्थानान्तरणशीलता का आविष्कार करते समय जायसी की भूमिका भी फिरदौसी जैसी ही है ।"27 इस लम्बे उद्धरण से गुजरते हुए यह कहना अयुक्तियुक्त न होगा कि कला का रहस्य उसकी स्वतन्त्रता में ही छिपा होता है तथा हर कवि प्रासंगिक तत्वों को स्वीकार करता हुआ अप्रासंगिक तत्वों को अस्वीकार या रद्द करता चलता है । साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि अकसर कविता का अर्थ उसमें नहीं होता जो कहा जा रहा होता है, बल्कि वहाँ होता है जहाँ वह शब्दों के इर्द-गिर्द भाषा के भीतर एक और भाषा में एक प्रकार का आलोक वृत्त बुना जाता है ।

'पद्मावत' से गुजरते हुए कोई भी संवेदनशील पाठक इस बात को नजरअन्दाज नहीं कर सकता है कि इसमें जगह-जगह कवि के भीतर अपने आस-पास के लोगों द्वारा की जानेवाली उपेक्षा के चलते पैदा हुआ दर्द मौजूद है और तो और जायसी के अपने ही इलाके में ऐसे लोग थे जो उनकी कविता का मर्म नहीं समझते थे । ऐसे लोगों की संवेदनहीनता की चुटकी लेते हुए कवि ने लिखा है -

"कवि बिआस रस कँवला पूरी । दूरिहि निअर निअर भा दूरी ।।

निअरहि दूरि फूल संग काँटा । दूरि जो निअरैं जस गुर चाँटा ।।

भँवर आइ बनखंड हुति लेहिं कँवल कै बास ।

दादुर बास न पावहिं भलेहिं जे आछहिं पास ।।"28

इन काव्य पंक्तियों की व्यावहारिक आलोचना प्रस्तुत करते हुए साही लिखते हैं : "दूर-दूर से लोग आकर जायसी के काव्य का आनन्द उठाते हैं और ये पास ही बसने वाले दादुर अपने बीच में खिले हुए कमल की गन्ध भी नहीं पाते । धरम-स्थान जायस में ऐसे दादुरों की संख्या अवश्य ही इतनी थी कि अपनी अप्रतिभ शैली में जायसी के लिए चुटकी लेना जरूरी हो गया । मिठास तो इस चुटकी में भी है, लेकिन 'दादुर' और 'काँटा' के प्रयोग में शायद हल्का-सा गुस्सा भी है । इतने गुस्से की अभिव्यक्ति भी जायसी के लिए अपवाद ही है । जिस धर्मप्राण कवि के लिए उनका शैतान नारद भी दया का ही पात्र हो -

'ना-नारद तब रोइ पुकारा । एक जुलाहे से मैं हारा ।'

- अखरावट

उसने यदि थोड़ी-सी भृकुटी इन दादुरों पर उठायी है, तो हम कल्पना कर सकते हैं कि जायसवालों ने जायसी को काफ़ी उबा दिया होगा ।"29 इन पंक्तियों से गुजरते हुए साही के आलोचक की अनुभूति की वह गहरी तीव्रता बरबस हमारा ध्यान आकृष्ट करती है जिसमें सृजनात्मकता को मनुष्य के प्राण तत्व से जोड़ने की अद्‌भुत क्षमता है

। जायसी की ऊपर उद्धृत पंक्तियों में जो अकथनीय सत्य अपनी चुप्पी के बावजूद मौजूद है, उसे आलोचना के दरम्यान उद्‌घाटित किया गया है ।

कई बार आलोचना के दरम्यान यह देखा जाता है कि आलोचक आलोच्य कृति की अन्तः प्रकृति को नजरअन्दाज कर अनावश्यक वाग्विलास आरंभ कर देता है, जिसका कवि की संवेदना या कृति की अन्तर्वस्तु से कोई रिश्ता नहीं होता । विजयदेवनारायण साही जब 'पद्मावत' की व्यावहारिक आलोचना प्रस्तुत करते हैं, तो वहाँ इस खतरे के प्रति अतिरिक्त सावधानी दिखाई देती है । इतना ही नहीं आलोचना के दरम्यान रचनाकार की भाषा से उसके मौन को खोज निकालने का भी प्रयास वहाँ दृष्टिगोचर होता है । उदाहरण के लिए जायसी की कुछ काव्य पंक्तियाँ ली जा सकती हैं :

1. मुहमद कवि जो प्रेम का ना तन रकत न माँसु ।
   जेइँ मुख देखा तेइँ हँसा सुना तो आए आँसु ।।
2. एक नैन कवि मुहमद गुनी । सोइ बिमोहा जेइ कवि सुनी ।।
3. एक नैन जस दरपन औ तेहि निरमल भाउ ।
   सब रूपवंत पाँव गहि मुँख जोवहिं कइ चाउ ।।"30

ऊपर उद्धृत काव्य पंक्तियों पर टिप्पणी करते हुए डॉ. साही ने लिखा है - "जायसी केवल कवि नहीं है, वे आत्म-सजग कवि हैं । अपने कवि होने का, गुणी होने का उन्हें पूरा भरोसा, बल्कि गर्व है । अपने कवि और गुणी होने का जिक्र

'पद्मावत' में जायसी ने आरंभ, मध्य और अन्त में बार-बार प्रत्यक्षत: या परोक्षत: किया है ।"31 स्पष्ट ही यह सारी बातें कविता के किसी भी सामान्य पाठक की भी समझ में आ सकती हैं । किन्तु ऊपर उद्धृत काव्य-पंक्तियों के मद्देनजर साही जब कहते हैं कि इनसे गुजरते हुए यह पता चलता है कि 'जायसी ने अपनी कविता की प्रकृति या अपने अनुसार कविता मात्र की प्रकृति का भी संकेत दिया है', तो यह उनकी विलक्षण आलोचनात्मक सूझ को दर्शाता है । उनके अनुसार इसका सीधा आशय यह है कि कविता की प्रकृति जायसी के लिए भावना के संप्रेषण की है । यह सभी उक्तियाँ कविता, विशेषत: 'पद्मावत' के केन्द्र में अनुभूति को स्थापित करती है, किसी मतवाद या दार्शनिक सिद्धान्त को नहीं । इसी प्रकार 'पद्मावत' के उपसंहार खण्ड में कवि ने अपनी काव्य-कृति और अपने कवि-व्यक्तित्व के बारे में जो बातें कही हैं, वे भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है -

मुहमद यहि कबि जोरि सुनावा । सुना सो पेम पीर गा पावा ।।
जोरी लाइ रकत कै लई । गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई ।।
औ मन जानि कवित उस कीन्हा । मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा ।।
कहाँ सो रतनसेनि अस राजा । कहाँ सुआ असि बुधि उपराजा ।।
कहाँ अलाउदीन सुलतानू । कहँ राघौ जेइँ कीन्ह बखानू ।।
कहँ सुरूप पदुमावति रानी । कोइ न रहा जग रही कहानी ।।
धनि सो पुरुख जस कीरति जासू । फूल मरै पै मरै न बासू ।।
केइँ न जगत जस वेचा केइँ न लीन्ह जस मोल ।

जो यह पढै कहानी हम सँवरै दुइ बोल ।।"32

उपर्युक्त काव्यांश के मर्म को उद्‌घाटित करते हुए साही ने लिखा है कि "इस अंश में प्रेम की पीर, रक्त की लेइ और नैन-जल की भीगी हुई गाढ़ी प्रीति की चर्चा की गयी है । इन तीनों उक्तियों में निहित भाव को पाठक, कृति के चरित्रों और कृतिकार के मानस में एक साथ उपस्थित किया गया है । अर्थ एक चंचल आवर्तन की तरह है । इस आवर्तन में चक्कर काटकर हम इस सब के स्रोत कवि के व्यक्तित्व की ओर ही लौटते हैं । कवि ने मन में यह समझकर ऐसा काव्य रचा कि संभवत: संसार में उनकी पहचान शेष रह जाय । इस काव्यगत अस्मिता को निर्मित करने के बाद पाठक से उनकी अपेक्षा है कि जो यह कहानी पढ़े, जायसी को दो बोल याद कर ले । इस 'सँवरै दुइ बोल' में न जाने कितने अर्थों की झनकार है । एक छोटे से टुकडे में प्रभूत अर्थवत्ता भर देने में जायसी की क्षमता अद्वितीय है । परन्तु यह समस्त अर्थवृत्त जायसी की अस्मिता की चारों ओर ही चक्कर काटता है जो उपसंहार का केन्द्र बिन्दु है । लगता है, जैसे सारी कथा, सारी घटनाएँ, सारे चरित्र - सब के सब अपनी भूमिका निभाकर विलीन हो गये और हमारे सामने सिर्फ़ जायसी का उधड़ा हुआ मर्म, बिना किसी अन्तर्पट के, उपस्थित हो गया है । हमारा काम है कि इस मर्म का निर्बाध और सम्पूर्ण साक्षात्कार करें । यही 'दो बोल सँवरना' है ।"33

ग़ौरतलब है कि जायसी की उपर्युक्त काव्यांश में "हम सँवरै दुइ बोल" का एक दूसरा संदर्भ भी है जिसकी ओर इंगित करते हुए शिरेफ़ के हवाले से वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि "दो बोल कुरान शरीफ के दो छोटे सूरे हैं । कब्रों के पत्थर

पर प्राय: यह प्रार्थना लिखी रहती है कि जानेवाले पथिक उन दो कलमों को पढ़ दें । इससे मृत व्यक्ति को पुण्य और शान्ति मिलती है । यह काव्य जायसी का स्मारक है । जो इस स्मारक को पढ़े वह इसके कर्ता के लिए 'दो बोल' पढ़ दे । यह कवि की नम्र उक्ति है । ये दो शब्द दुआएं मग़फिरत कहलाते हैं, जो इस प्रकार है - 'रब्बे इग़फ़िर' हे ईश्वर, क्षमा कर । इस काव्य से तृप्त हुए सहृदय का मन कवि के लिए ईश्वर से क्षमा की प्रार्थना करे ...... कवि ने अपने काव्य के भी संक्षेप में 'दो बोल' कहा है । इसमें एक रत्नसेन का बोल है, दूसरा पद्मावती का बोल है । सारा काव्य इन्हीं दो बातों की व्याख्या है ।"34 साही के लिए 'पद्मावत' में चित्रित विशाल छविमय कल्पना संसार को जोड़नेवाली कवि की सृजनात्मक अनुभूति ही सर्वोपरि है, जिसे उसने अपने 'रक्त की लेई' कहा है । इस 'रक्त की लेइ' के मर्म को समझाते हुए वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि "रत्नसेन में प्रेम की पीड़ा उत्पन्न हुई । उसने उसे रक्त से सींचा । पद्मावती के मन में गाढ़ी प्रीति थी । अन्त में उस गाढ़ी प्रीति को उसने अपने आँसुओं से सींचा । आटे से लेई बनाते समय उसमें पानी मिलाना आवश्यक है । ऐसे ही राजा ने प्रेम की पीड़ा में अपना रक्त मिलाकर उसे जोड़ा । गाढ़ी होने पर लेई में पानी मिलाया जाता है । ऐसे ही जब वह प्रेम गाढ़ा हुआ तो रानी ने उसमें अपने आँसू मिलाए । यही इस प्रेम कथा का सूत्र है - रत्नसेन के रक्त और पद्मावती के नेत्र जल मिलने से यह प्रेम कथा पूरी हुई है । कवि जायसी के पक्ष में भी यह अर्द्धाली घटित होती है । अपने शरीर के श्रम और हृदय की करुणा से उसने यह काव्य जोड़ा है ।"35 इसी प्रकार वहाँ फूल के मुरझा जाने के बावजूद जिस

सुगंध के न मरने पर बल दिया गया है, वहाँ और कुछ नहीं जायसी की कविता में निहित मनुष्यता की सुगंध ही है ।

काव्य की रचना-प्रक्रिया पर विचार करने वाले विद्वानों का मानना है कि "सहज सूक्ति या स्वभावोक्ति अंतर्मन की भाव-प्रक्रिया का विशुद्ध क्षेत्र है, क्योंकि इसमें बुद्धि-संस्पर्शी अर्थवत्ता का अतिवाद प्रवेश नहीं पाता । जिस मन का अनुभव हमें होता है, सामान्यत: जगत् में जिसकी व्यावहारिकता घटित होती रहती है और जिसके संवेग में हम सुख-दु:ख, ताप-शांति, ह्लाद-प्रमाद का भाव-भार वहन करते हैं, उस मन के अनंतर हमारे प्राणों के बीच कोई रहस्यदर्शी अंतर्मन सोया रहता है । वह जागता है, तो केवल शांति और ह्लाद की अनुभूति होती है, दु:ख और ताप को भी यह अंतर्मन स्वप्न(रहस्य, एकांत)-लोक में ले जाकर ह्लाद में बदल देता है । सर्जक के पास यही अंतर्मन विराट् बन जाता है और अपने रहस्य-लोक को आनंद का रूपायण प्रदान कर देता है । ऐसा रूपायण, जो सर्वथा अद्धितीय रहता है ।"36 कहना न होगा कि जहाँ यह अद्धितीय रूपायण हो, वहाँ कविता द्धारा अतिरिक्त अर्थ की व्यंजना की संभावना स्वाभाविक है । उदाहरण के लिए 'पद्मावत' नीचे उद्धृत काव्यांश द्रष्टव्य है :

"चहूँ पास समुझावहिं सखी । कहाँ सो अब पाइअ गा पँखी ।।
जो लहि पिंजर अहा पेखा । अहा बाँदि कीन्हेसि नित सेवा ।।
तेहिं बँदि हुते जौं छूटै पावा । पुनि फिरि बाँद होइ कित आवा ।।
ओइँ उड़ान फर तहिऔ खाए । जब भा पंखि पाँख तन पाए ।।"

इन काव्य पंक्तियों पर साही ने जो टिप्पणी की है वह व्यावहारिक आलोचना का श्रेष्ठ उदाहरण है । प्रसंगात् उन्होंने लिखा है : "इन चौपाइयों में प्रथमत: तो पक्षी पर साधारण मानवीय भावना का आरोप किया गया है जो सामान्यत: बन्धन तोड़कर मुक्त हो जाना चाहता है । बेशक पिंजरा और बन्धन की उक्ति हमें आगे आने वाले आध्यात्मिक अर्थ के लिए भी तैयार करती है । लेकिन 'उडान का फल उसी दिन तोते ने खा लिया जब उसके शरीर में पंख उगे' यह उक्ति अर्थ के लौकिक एवं मानवीय पक्ष को पूरी संवेदना से व्यक्त करती है । आगे आने वाली आध्यात्मिक ध्वनि अर्थ पर अंकुश रखती है । पाठक के भावात्मक उद्रेक को यह पूरा वर्णन विपरीत प्रतीत होती हुई दिशाओं में संचालित करता है । जब पद्मावती के दु:ख और आँसुओं का वर्णन हुआ तो हमारी सह-अनुभूति पद्मावती के साथ जागृत की गयी । सखियों के समझाने के प्रकरण में वह सह-अनुभूति तोते के पक्ष में जागृत की गयी, जैसे ठीक ही हुआ कि तोता उड़ गया - मुक्त आकाश में उड़ान के फल खाने वाला पक्षी कब तक पिंजरे में बँधा रहता ? इस उद्रेक के तत्काल बाद धरती द्वारा सभी प्रियजनों को खा जाने और तोते के कालातीत लोक में चले जाने की उक्ति हमारी सह-अनुभूति को फिर उन लोगों की ओर वापस भेजती है जिनका प्रिय पात्र हमेशा के लिए बिछुड़ गया है ।"37

कुछ लोगों ने आरोप लगाया है कि यदि रचना के बारे में कही गई बातें आलोचना है, तो कहना पडेगा कि साही ने "रचना के बारे में बहुत कम कहा है, एक

तो उन्होंने इतर प्रसंगों के बारे में अधिक कहा है, जिससे रचना के बारे में कहने का समय उनके पास बचता नहीं । कभी-कभी रचना के सशक्त पक्ष तक आते-आते उनकी साँस फूलने लगती है । जायसी पर विचार करते-करते साही जब नागमती के विरह वर्णन तक पहुँचते हैं तब थक जाते हैं और कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं रहते ।"38 ग़ौरतलब है कि नागमती के वियोग-वर्णन पर साही के पूर्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काफी गहराई और विस्तार के साथ विचार किया था, जिसको फिर से दोहराने की जरूरत नहीं थी । बावजूद इसके उन्होंने जायसी की कविता के उस पक्ष का उद्‌घाटन किया है, जो शुक्ल जी, डॉ. माताप्रसाद गुप्त एवं डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे विद्धान आलोचकों से भी अनदेखा रह गया । उन्होंने जायसी को 'आध्यात्मवादियों के बीच भौतिकवादी और भौतिकवादियों के बीच अध्यात्मवादी' बताने के साथ ही नागमती के विरह-वर्णन पर जो टिप्पणी की है, वह निश्चित तौर पर हिन्दी आलोचना में शुक्ल जी के काम को आगे बढ़ाने वाला सिद्ध हुआ है । अपने तईं नागमती वियोग-वर्णन की विस्तृत और गहरी मीमांसा करने के बाद कदाचित निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए साही ने लिखा है कि "नागमती का विरह-वर्णन भावों का तीव्र और संगीतात्मक सम्प्रेषण मात्र ही नहीं है । वह हमारे आस्वादन में कुछ और अनुभूतियाँ भी जोड़ता है । पूरा विरह-वर्णन, बारहमासे की शक्ल में, नागमती की वाणी के द्धारा रूप ग्रहण करता है । नागमती का पार्थिव शरीर और महल की सखियाँ शुरु की कुछ पंक्तियों में झीनी-सी दिखलाई पड़ती हैं । अचानक कल्पना एक झटके से मुक्त हो जाती है और हमारा साक्षात्कार आवाज़, सिर्फ़ आवाज से होने लगता है । धीरे-धीरे झीनी पार्थिवता भी केंचुल की तरह छूट जाती है । सारी

पार्थिवता तिरोहित होने लगती है । सखियाँ पिघल कर तिरोहित हो जाती हैं । चित्तौड़ का किला, राजमहल सब तिरोहित हो जाता है, यहाँ तक कि नागमती का पार्थिव शरीर भी तिरोहित हो जाता है । वीरानों, जंगलों, वनखण्डों, पहाडियों, गाँवों, खेतों में टीसती हुई एक साफ लेकिन अशरीरी आवाज़ शेष रह जाती है । यह आवाज़ पूरे देश के, गुज़रते हुए समय के मर्म में निरन्तर तैरती रहती है । देश और काल, दोनों अनावश्यक आवरण की तरह छूट कर गिर जाते हैं - मर्म, केवल मर्म ही रह जाता है । किसकी आवाज है यह ? नागमती की ? इस आवाज़ में एक पारदर्शी निर्वैयक्तिकता है जो नागमती को भी पीछे छोड़ जाती है । शनैः शनैः यह अन्तर्वर्ती आवाज़ पूरे चित्तौड़ की और उससे भी आगे बढ़कर उस पूरे इतिहास-लोक की आवाज़ हो जाती है जिसे छोड़कर रतनसेन चला गया है ।"39

विजयदेवनारायण साही पर यह आरोप लगाया गया है कि "उन्होंने साहित्य से अधिक साहित्येतर चिन्तन किया है । न केवल मात्रा की दृष्टि से बल्कि समस्याओं की दृष्टि से भी उन्होंने साहित्येतर प्रसंगों पर अधिक विचार किया ।"40 साही के सम्पूर्ण आलोचनात्मक एवं वैचारिक लेखन के सन्दर्भ में भले ही यह बात एक हद तक सच प्रतीत हो, किन्तु गुणात्मकता की दृष्टि से विचार करने पर वहाँ हमें कुछेक ऐसे निबन्ध देखने को मिलते हैं जो न केवल साहित्य केन्द्रित हैं बल्कि उनमें हिन्दी के कई कवियों या कविताओं की व्यावहारिक समीक्षा की गई है । इस क्रम में सर्वप्रथम 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' शीर्षक निबन्ध का जिक्र स्वाभाविक है । सन् 1964 में इलाहाबाद की 'विवेचना गोष्ठी' में पठित अपने इस निबन्ध में उन्होंने स्वीकार किया है कि "शमशेर की कविताओं की दुरुहता का प्रश्न है । इसमें शक

नहीं कि हिन्दी में शमशेर से ज्यादा दुरूह कविताएँ किसी और ने नहीं लिखी हैं । शमशेर के बारे में बात करने वाले व्यक्ति से शायद एक उम्मीद की जा सकती है कि वह बहुत कुछ व्याख्याता का काम करे । यह काम अपने में ही इतना दिलचस्प है कि शायद एक उम्मीद की जा सकती है कि शायद पूरी-पूरी बातचीत इसी तक सीमित रह जाए । ...... इससे भी आगे शिल्प और प्रयोग का एक पहलू है और इससे मिला-जुला इन कविताओं के 'नयेपन' का भी सवाल है । शमशेर ने कविता के छंद, लय, शब्दावली सब में बहुत से नये प्रयोग किये हैं । उन्होंने ऐसे नये प्रतीकों और बिम्बों का सृजन किया है जो कविता के अभ्यस्त पाठकों और श्रोताओं को अक्सर चुनौती की तरह लग सकते हैं ।"41

शमशेर की कविताओं की तथाकथित दुरुहता के बारे में गजानन माधव मुक्तिबोध ने सही लिखा है कि "शमशेर पर लगाया गया यह दोषारोप कि वे उलझे हुए हैं और उनकी बात समझ में नहीं आती, उस आदत को सूचित करते हैं, जिसे हम सामान्यीकरण की आदत कह सकते हैं । चिन्तन के अनुशासन से विहीन व्यक्ति भी बहुत आत्मविश्वास के साथ सामान्यीकरण करता है । सामान्यीकरण की इस आदत को ही हम यान्त्रिक विचार-शैली कहते हैं । यान्त्रिक विचारणा विशिष्ट के आन्तरिक ताने-बाने, उसकी मौलिक विशेषताओं और उसके समृद्ध रूप-तत्व की उपेक्षा करके चलती है । यान्त्रिक विचारणा से अनेक हानियाँ हुई हैं । साहित्य-चिन्तन में यान्त्रिक विचारणा की कमी कभी नहीं रही । विशिष्ट की मौलिकता की कीमत पर, अर्थात् उसकी मौलिकता की उपेक्षा करते हुए, जो सामान्यीकरण होगा, वह छिछला,

सतही और यान्त्रिक होगा ।"42 इस निबन्ध में उनकी प्रतिज्ञा है कि बात शमशेर की कविताओं जैसी कविता पर होने के बजाय शमशेर की कविता पर ही हो क्योंकि इसके बगैर शमशेर के साथ न्याय करना सम्भव नहीं है । प्राय: हिन्दी आाोचना में नई कविता की सामान्य विवेचना के लिए शमशेर को उदाहरण की तरह इस्तेमाल किया गया है । इसके विपरीत साही को लगता है कि कवि शमशेर का जो अपना निजी स्वत: स्फूर्त काव्य-जगत है, उसमें प्रवेश करना जरूरी है । इस क्रम में उन्होंने कवि शमशेर की कुछ कविताओं का जबरदस्त विश्लेषण किया है । एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

एक पीली शाम

पतझर का ज़रा अटका हुआ पत्ता

शांत

मेरी भावनाओं में तुम्हारा मुखकमल

कृश म्लान हारा-सा

(कि मैं वह मौन दर्पण में तुम्हारे कहीं ?)

वासना डूबी

शिथिल काजल में

लिये अद्‌भुत रूप-कोमलता

अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू

सान्ध्य तारक-सा

अतल में ।"

इस कविता पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है : अतल में गिरने के पहले संकोच का, अटकाव का, एक क्षण है जिसमें आँसू अपनी जीवितता ग्रहण करता है । वह सृजन के रूप में शुद्ध सम्भावना के एक झिलमिलाते हुए अंतराल में अटका हुआ है । यह वह क्षण है जहाँ आँसू अनस्तित्व-गर्भ से अलग होकर जन्म लेता है । जन्म लेना अलग होना है, अनस्तित्व-गर्भ से अतल की ओर जाना है । निजी और बिलकुल पराये के बीच एक और क्षण है - जहाँ आँसू निजी है भी और नहीं भी है । पराया है भी और नहीं भी है । न तो वह बिलकुल आत्मपरक है और न बिलकुल वस्तुपरक । वह अभिव्यक्ति भी है और संकोच भी है ।"43 साही का कहना है कि कविता सिर्फ जन्म ही नहीं लेती, वह कवि से अलग होकर एक सार्वजनिक अस्तित्व ग्रहण करती है, जन्म और अस्तित्व, काल-क्षण और काल-प्रवाह के बीच एक दरार है । शून्य से, नितान्त न कुछ से, कविता का जन्म होता है - इस गति में शायद रुकावट नहीं है । लेकिन जन्म लेते ही एक प्रतिगति भी सक्रिय होती है । शमशेर की कविता में एक प्रतिगति है, उसी शून्य, उसी न कुछ में वापस चले जाने की । गति और प्रतिगति-अभिव्यक्ति और संकोच के इस तनाव में एक तरह की स्थिरता, सन्तुलन पैदा होता है ।44 कहना न होगा कि यही सन्तुलन प्रकारान्तर से साही की आलोचना में भी मौजूद है । दूसरा सप्तक में शमशेर बहादुर सिंह ने वक्तव्य दिया था कि "सुंदरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन होता रहता है । अब यह हम पर है कि हम अपने सामने और चारों ओर की इस अनंत और अपार लीला को कितना अपने अंदर घुला सकते हैं ।"45 शमशेर की कविताओं के मद्देनजर साही की

सर्वप्रमुख स्थापना यही है कि "तात्विक रूप से शमशेर की काव्यानुभूति सौन्दर्य की ही अनुभूति है । ...... में एक कदम और आगे बढ़कर कहना चाहूँगा कि आज तक हिन्दी में विशुद्ध सौन्दर्य का कवि यदि कोई हुआ है, तो वह शमशेर है और इस 'आज तक' में मैं हिन्दी के सब कवियों को शामिल करके कह रहा हूँ ।"46 अपनी इस स्थापना को उन्होंने शमशेर की दो कविताओं को उदाहरण के रूप में पेश करके पुष्ट किया है ।

एक :

मैं ने
क्षितिज के बीचोंबीच
खिला हुआ देखा
कितना बड़ा फूल ।
देख कर
गम्भीर शपथ की एक
तलवार सीधी अपने सीने पर
रखी और प्रण लिया
कि :
वह आकाश की माँग का फूल
जब तक मैं चूम न लूँगा
चैन से न बैठूंगा

और महान संदेश लिए
दौड़ता हुआ संदेशवाहक हो जैसे -
मैं दोड़ा :
चार दिशाओं का आलोक
सिर पर धारे
पाँवों में उत्साह के पर औ'
अक्षुण्ण गति के तीर
बाँधे ।
और पहुँच कर वहीं
अपने प्रेम की
बाँहों में बाँहें डाल दी मैं ने
और इस सीमा के ऊपर खड़े हुए
हम दोनों प्रसन्न थे ।
अमर सौंदर्य का
कोई इशारा-सा
एक तीर -
दिशाओं की चौकोर दुनिया के बराबर
संतुलित
सधा हुआ
निशाने पर

छूटने-छूटने को था

...   .

(हमारा अंतर

एक बहुत बड़ी विजय का

आलोक चिह्न

है ।)   (प्रतिनिधि कविताएँ : पृ - 98)

दो :

एक अंधकार के चमकीले निर्झर में

तुम्हारे स्वर चमकते हैं :

एक इंतजार के झुरमुट में

यह फल है

जिसका अंतर एक तीखी पुकार है

उस आकाश में तुम्हारी गूँज

कि जैसे खून बजता हो हवा में

कि जैसे मुक्त जीवन का प्रवाह बजता हो

सौन्दर्य जो त्वचा में नहीं

थिरकते रक्त में नहीं

मस्तिष्क में

नहीं : कहीं इनके पार से

बरसता है अणु-अणु, पल-पल में

बदन में दृष्टि में

शब्द में : और उसके पार से

कहीं शब्द के अर्थ में

दु:ख सा, मौन-सा

अपरिमित सुख की चेतना में

मथता है,

 मथता है

ओ स्पर्श

मुझे क्षमा करना

कि तुम मुझी में होकर मुझी से परे हो

ओ माध्यम

क्षमा करना

कि मैं तुम्हारे पास जाना चाहता रहा

वह जो तुम्हारे हृदय में बज रहा है

मैं उस साज़ में एक चाँद

देखता हूँ

उसको पकड़ना चाहता रहा हूँ

मेरी अपनी इस चाह के अलाव मैं कुछ नहीं

 कुछ नहीं

तुम कि एक सितारे की झलक आँसू में :

उस आँसू की झलक में एक किरण

मैं हूँ

और कुछ नहीं

कुछ नहीं

वह न होता मेरा, जो तुम्हें मेरे ही लिए

प्रिय है ।

मैं उसी के हित हूँ ।

काश कि मैं न होऊँ

न होऊँ

तो कितना अधिक विस्तार

किसी पावन विशेष सौन्दर्य का

अवतरित हो ।

पावन विशेष सौन्दर्य का

कितना अधिक विस्तार

अवतरित हो

यदि मैं न होऊँ ।"

(प्रतिनिधि कविताएँ : पृ - 132)

इन कविताओं का विश्लेषण करते हुए साही ने लिखा है : "बेशक दूसरी कविता में झिलमिलापन और भावों की उमड़न पहली कविता के मुकाबले अधिक

है । लेकिन क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि पहली कविता का शीर्षक 'चीन' है और वह 'चीनी' जनता का 'लोकसत्तात्मक गणतन्त्र राज्य' के चीनी अक्षरों को चित्र-पहेली की तरह इस्तेमाल करके रची गयी है और दूसरी कविता का शीर्षक 'सौन्दर्य' है ? सच तो यह है कि शमशेर की सारी कविताएँ यदि शीर्षकहीन छपें या उन सब का एक ही शीर्षक हो 'सौन्दर्य' शुद्ध सौन्दर्य, तो कोई अन्तर नहीं पड़ेगा । शमशेर ने किसी विषय पर कविताएँ नहीं लिखी हैं । उन्होंने कविताएँ, सिर्फ कविताएँ लिखी हैं या यों कहें कि एक ही कविता बार-बार लिखी है । शमशेर इस पल-छिन अवतार लेते हुए सौन्दर्य के गवाह हैं - ऐसे गवाह जिसने इस अवतार के हर रंग और हर विस्तार को उसके 'अनन्त लीला' रूप में स्पृहा के माध्यम से ठीक-ठीक स्वायत्त करने की शपथ ली हो । यह स्पृहामय साक्षी भाव शमशेर की काव्यानुभूति का दूसरा तत्व है ।" 47

जहाँ तक शमशेर रचित 'एक पीली शाम' कविता की साही द्वारा प्रस्तुत व्यावहारिक समीक्षा की गुणात्मकता का प्रश्न है, तुलना के लिए हिन्दी के सुप्रसिद्ध प्रगतिशील आलोचक डॉ. नन्दकिशोर नवल द्वारा की गई इस कविता की व्यावहारिक समीक्षा को भी सामने रखकर देखना समीचीन होगा । प्रसंगात् डॉ. नवल लिखते हैं : " 'एक पीली शाम' तीन बन्दों की एक छोटी कविता है ।" इसके बाद कविता के प्रथम बन्द को उद्धृत करते हुए वे लिखते हैं : "शाम का वक्त है । सूर्यास्त के बाद का पीलापन पश्चिम के आकाश में छाया हुआ है, लेकिन थोड़ी देर के लिए, जैसे पतझर में वृक्ष का पीला पत्ता उसकी डालों से तभी तक लगा रहता है, जब तक कि हवा का झ-

गोंका आकर उसे जमीन पर गिरा नहीं देता । शमशेर ने साभिप्राय 'अटकना' क्रियापद का प्रयोग किया है, जो निस्संदेह पर्याप्त अर्थव्यंजक है । मरणासन्न व्यक्ति की कथा कहने के लिए शाम, पीलापन, पतझर और पतझर के डाल पर अटके पीले पत्ते की यह पृष्ठभूमि बहुत उपयुक्त और संकेतपूर्ण है, लेकिन मैं इस चित्र की नवीनता की तरफ ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, जिसमें तीक्ष्णता और सूक्ष्मता भी उतनी ही है । निश्चय ही यह कहना सही है कि शमशेर के शब्द-प्रयोग में या किसी भी चित्र-सामग्री के प्रयोग में वही सधाव, वही संतुलन और वही नजाकत है, जो वृक्ष की डालों से जरा-से लगे पतझर के पीले पत्ते में होती है । इसका सबसे अच्छा उदाहरण स्वयं यह चित्र है, शब्द-चित्र ।

आगे की पंक्तियों में कवि अपना ध्यान अपनी प्रिया के उस मुख पर केंद्रित करता है, जो उसकी अपनी भावनाओं में उभर आया है । मुख सुंदर है, इसलिए वह 'मुखकमल' है । शमशेर की आधुनिकता की बहुत चर्चा की जाती है, लेकिन उनमें प्रत्येक स्तर पर हिंदी-उर्दू की काव्यपरंपरा से संबद्धता है, उसे भुला दिया जाता है । परंपरागत शब्दों, उपमानों और अभिव्यक्ति-पद्धतियों का भी उन्होंने बहुत सार्थक उपयोग किया है, जिसके प्रमाण-स्वरुप इस 'मुखकमल' शब्द को देखा जा सकता है, जिसका प्रतिस्थानी ढूँढ़ना कठिन है । यह मुखकमल एक क्षयग्रस्त और चिंताशील तरुणी का है, इसलिए शांत ही नहीं, कृश, म्लान और हारा हुआ-सा भी है । संध्याकाल का कमल भी तो ऐसा ही होता है । निराला ने भी 'राम की शक्तिपूजा' में युद्ध से पराजित होकर लौटते हुए लक्ष्मण के लिए कहा है - "नमति-मुख सांध्य कमल

।" लेकिन शमशेर की कविता का प्रसंग अधिक वेधक और मार्मिक है । इसलिए उनके द्वारा प्रयुक्त उपमान भी वैसा ही है ।"48

कहना न होगा कि कविता के इस टुकडे में जो सवाल की मुद्रा दिखाई देती है, वह वस्तुतः कवि द्वारा अपने आप से किया गया सवाल है । प्रकट रूप में प्रिया से पूछा जा रहा है कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि चिंताजडित तुम्हारे मुख दर्पण में वह मेरी ही उदास मुख छवि है, कहीं तुम्हारे चहरे में मेरा ही विषादग्रस्त चहरा तो नहीं झलक रहा है । कुल मिलाकर प्रतीत होता है कि प्रेमिका प्रेमी के दुःख से पीडित है और प्रेमी प्रेमिका के दुःख से । एक का दुःख दूसरे के दुःख को प्रतिबिम्बित कर रहा है । यह है वह बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव, जिसका ऐसा उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है । शमशेर का प्रिय शब्द 'मौन' यहाँ भी मौजूद है, जो 'दर्पण' का नहीं, 'मैं' का विशेषण है, कवि की उदासी को अलग से गहराई प्रदान करने वाला ।

डॉ. नन्दकिशोर नवल ने बार-बार इस बात पर बल दिया है कि 'यह कविता' कवि-पत्नी को सम्बोधित है' । "शमशेर की पत्नी अतिशय सुंदर थीं । स्वभावतः उनकी अद्‌भुत रूप-कोमलता उनके मन में वासना का संचार कर देती थी । लेकिन अब सौंदर्यजनित वासना या कामोत्तेजकता समाप्त है । आँखों की पलकें शिथिल हो गई हैं, उनमें सिर्फ स्नेह यानी आँसू रह गया है, काजल की तरह लगा हुआ । सारी वासना शिथिल पलकों में अटके हुए आँसू में डूब गई है, अपनी सारी रूप-कोमलता के साथ । अब न वासना रही, न उसे पैदा करनेवाला सौंदर्य और मार्दव, अथवा सौंदर्योचित मार्दव ।

'स्नेह-काजल' अर्थात् पलकों में काजल की तरह लगा हुआ स्नेह । यहाँ 'स्नेह' आँसू है, उसी के रूप में अभिव्यक्ति, यह कविता के अंतिम बंद की उक्ति से स्पष्ट होता है :

'अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
सांध्य तारक-सा
अतल में ।'

आँसू कवि की नहीं, पत्नी की आँखों में है, वैसे ही अटका हुआ, जैसे वृक्ष की डाल पर पतझर का पीला पत्ता । पत्नी की आँखों से अपनी चिंता में आँसू टपकना शमशेर के लिए महान् घटना है, किसी शाम तारा टूटकर पातल में समाने की तरह, दिशाओं को बिजली की कांध से भर देनेवाली, पृथ्वी को हिला देनेवाली । राम अपनी पत्नी के लिए रोए थे, 'राम की शक्तिपूजा' में निराला ने उनकी दोनों आँखों से टपकी आँसू की दो बूँदों के बारे में कहा था - चमके नभ में ज्यों तारादल ।' यहाँ पत्नी पति के लिए रोती है । राम दैवी पात्र थे, अतः उनके आँसू यदि हनुमान को टूटे हुए नक्षत्रों की तरह भास्वर दिखलाई पड़े, तो कोई ताज्जुब की बात नहीं । ताज्जुब की बात यह है कि एक मानवी के आँसू शमशेर को 'सांध्य तारक' की तरह लग रहे हैं, उनका टपकना भी नक्षत्र टूटने की तरह । इस भावना की गहराई का अंदाजा पाना मुश्किल है । पाठक बस उससे अभिभूत या आक्रांत रह जाता है, शमशेर की तरह मौन । नक्षत्रपान रात्रि के किसी प्रहर में हो सकता है, यहाँ 'सांध्य तारक' इसलिए कि वक्त

शाम का है ।"49 स्पष्ट ही शमशेर की यह कविता एक अत्यधिक तराशी हुई चुस्त कविता है । इसलिए इसका पाठ कुछ शब्द-लाघव के चलते और कुछ अनुभूति के सम्मिश्र स्वरुप के चलते जटिल है । शमशेर की कविता में ऐंद्रीय संवेदना और भाव विचित्र प्रकार से मिले हुए होते हैं । "पीली शाम, पतझर का अटका हुआ पत्ता, मुखकमल, दर्पण, शिथिल पल, स्नेह-काजल, रुप-कोमलता, अटका हुआ आँसू, सांध्य तारक, उसका गिरना ये सभी ऐंद्रिय चित्र हैं, जिनमें गहरी उदासी, विषाद प्रेम, भय आदि भावनाओं का विचित्र प्रकार से मिश्रण है । शमशेर निस्संदेह उदात्त के कवि हैं, निराला और मुक्तिबोध की तरह, लेकिन क्लासिकी संयम में निराला से भी आगे । इस कविता का बंधन विलक्षण है, जैसे ऊपर पतझर का पत्ता अटका हुआ है, वैसे ही नीचे आँसू । 'कि मैं हूँ । मौन दर्पण में तुम्हारे कहीं ? यह आत्मसंलाप है, जो कविता को बीच में संवादधर्मी बना देता है । अंतिम दो बंदों में 'पल में' और 'काजल में' के साथ 'अतल में' की तुकात्मक बंदिश है, जो वीणा के कसे हुए तारों की तरह पूरी कविता में एक सांगीतिक तनाव ला देती है । सांगीतिक तनाा से युक्त यह कविता चित्र से अधिक एक मूर्ति है, सुशिल्पित ।"50

वस्तुत: शमशेर की 'एक पीली शाम' कविता की दो व्यावहारिक समीक्षाओं से गुजरते हुए स्पष्ट होता है कि विजयदेवनारायण साही की समीक्षात्मक टिप्पणी में वही 'बौद्धिक सघनता' आदि से अंत तक मौजूद है, जिसको उन्होंने महाकवि जायसी के सन्दर्भ में रेखांकित किया है । सच तो यह है कि जायसी के 'पद्मावत' में साही द्वारा कथित 'बौद्धिक सघनता' मौजूद है या नहीं यह विवाद का विषय हो सकता है, पर

खुद साही की आलोचना में इसके नमूने बार-बार प्रकट होते हैं । इसके चलते पाठक के सामने जो सबसे बड़ी कठिनाई पैदा होती है, वह यह है कि यदि पाठक समधीत और संवेदनशीलता के धरातल पर अतिशय सचेत नहीं है, तो यह आलोचना कविता में व्यक्त कवि की आत्मा की प्रतिध्वनि को सुनने-समझने में बहुत दूर तक मददगार सिद्ध नहीं होती । इसके बरक्स नन्दकिशोर नवल की व्यावहारिक आलोचना में एक ऐसी तरलता व्याप्त है जिससे कविता की एक-एक पंक्ति का मर्म पाठक के समक्ष उद्घाटित होता चलता है । आलोचना की इस प्रक्रिया में जो सहजता है, वह हमें प्राचीन भाष्य ग्रन्थों की याद दिलाती है । इसलिए आम पाठक के मद्देनजर व्यावहारिक आलोचना की सार्थकता की यदि पड़ताल की जाए, तो शमशेर की इस कविता के सन्दर्भ में साही के मुकाबले डॉ. नवल की आलोचना ज्यादा संप्रेषणीय प्रतीत होती है । बावजूद इसके, हमें यह नहीं भूलना चाहिए की शमशेर की कविता की प्रकृति उनकी तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद नागार्जुन जैसे जनकवि की कविता से नितान्त भिन्न है । गजानन माधव मुक्तिबोध ने सही लिखा है कि "शमशेर की मूल मनोवृत्ति एक इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार की है । इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार अपने चित्र में केवल उन अंशों को स्थान देगा जो उसके संवेदना-ज्ञान की दृष्टि से, प्रभावपूर्ण संकेत-शक्ति रखते हैं । वह दृश्य-चित्र में उन्हीं अंशों को स्थान देता है कि जो उसके संवेदना-ज्ञान की दृष्टि से उस दृश्य के अत्यन्त महत्वपूर्ण, अत: प्रगाढ़, प्रभावपूर्ण, अंग हैं । केवल कुछ ही ब्रशेज में वह अपना काम करके दृश्य के शेष अंशों को दर्शक की कल्पना के भरोसे छोड़ देता है । दूसरे शब्दों में, इम्प्रेशनिस्ट चित्रकार दृश्य के सर्वाधिक संवेदनाघात करनेवाले अंशों को प्रस्तुत करेगा और यह

मानकर चलेगा कि यदि संवेदनाघात दर्शक के हृदय में पहुँच गया तो दर्शक अचित्रित शेष अंशों को अपनी सृजनशील कल्पना द्वारा भर लेगा । शमशेर ने अपने हृदय में आसीन चित्रकार को पदच्युत कर कवि को अधिष्ठित किया है । इससे एक बात यह हुई है कि कवि का कार्यक्षेत्र (स्कोप) बढ़ गया है । इम्प्रेषनिस्टिक ढंग का चित्रकार जीवन की उलझी हुई स्थितियों का चित्रण नहीं कर सकता - वह उसके किसी दृश्य-खण्ड को ही प्रस्तुत कर सकता है । उस विचित्र दृश्य-खण्ड में भी, वह दृश्य के सूक्ष्म पक्षों को प्रस्तुत नहीं कर सकता । किन्तु कवि वैसा कर सकता है ।"51

स्मरणीय है कि मुक्तिबोध न केवल कवि के कार्यक्षेत्र से भली-भान्ति परिचित है बल्कि वे एक चित्रकार की सीमाएँ भी अच्छी तरह समझते हैं । संभवत: इसी वजह से शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट पर उन्होंने जो टिप्पणी की है, वह अत्यन्त प्रामाणिक प्रतीत होती है । दूसरे शब्दों में कहें, तो कवि शमशेर को कायदे से समझ-ाने के लिए विजयदेवनारायण साही के निबन्ध के साथ-साथ मुक्तिबोध का सुप्रसिद्ध निबन्ध 'शमशेर : मेरी दृष्टि में' को मिलाकर पढ़ना बहुत जरूरी है । शमशेर के दृश्य-वर्णन संश्लिष्ट है । जहाँ एक ओर उन्होंने अपने सौन्दर्य-बोध को रहस्यवादी होने से बचाया है, वहीं दूसरी ओर उनके सौन्दर्य चित्रों में कहीं भी स्थूलता दिखाई नहीं देती । इसलिए उनकी कविता का कोई एकायामी पाठ अथवा अर्थ तय करने के अपने ख़तरे हैं ।

यह बात केवल कवि शमशेर या उनकी एक कविता पर ही लागू होती हो, ऐसा नहीं है । सच तो यह है कि छायावादोत्तर कविता और खास तौर से 'नई कविता' पर

विचार करते हुए जिन लोगों ने उसमें अनायास ही रूप, वस्तु, भाव और उद्देश्य को एक के बाद एक पा जाने की कोशिश की उन सबको 'नई कविता' लोहे का चना प्रतीत हुई है 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' नामक अपने निबन्ध में साही ने सूत्र रूप में 'छायावाद' और 'नयी कविता' की संरचना में आये अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "तीसरे दशक ने हमारी चेतना में क्या योगदान दिया ? किसी देश के सांस्कृतिक जागरण के कम से कम हिन्दुस्तान के पिछले सौ वर्षों के - चार चरण दिखते हैं । पहले हम प्रकाश प्रतीकों के प्रति सचेत होते हैं फिर उन आदर्शों और विचारों के प्रति जिनमें ये प्रतीक समाहित हो जाते हैं, फिर हम सभ्यता अथवा संस्कृति की उस आन्तरिक लय (rythm) के प्रति जागरूक होते हैं, जो उन प्रतीकों और आदर्शों को पचा लेती है, फिर यह आन्तरिक लय अभिव्यक्ति माँगती है - एक नई सृजनशीलता के साथ, नये प्रतीकों का जन्म होता है । तीसरे दशक की कविता का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यही है कि उसने यह देखा कि सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ सिर्फ प्रतीकों और आदर्शों के सहारे नहीं चलतीं । उनको चलाने वाली वस्तु उनसे भी गहरी है जो उनका भी निर्माण करती है - वह है हमारे देश की आन्तरिक लय । आज की नयी कविता की मनोभूमि उस लय को बारम्बार सृजनशील अर्थ देने की कोशिश करती है । इस दृष्टि से इन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कविता के रूप को बदलती चलती है । छायावादी कलाकृति मूलत: एक विस्फोट करता हुआ कला-रूप है - जैसे केन्द्रीय अर्थ फूटकर चारों ओर क्रमश: विलीन होता हुआ बिखर रहा हो । तीसरे दशक की कलाकृति उसे विस्फोट की तरह नहीं, बल्कि एक लहर की तरह निर्मित करती है - जिस प्रयास में महादेवी से लेकर बच्चन तक के गीत निर्मित होते हैं । नयी

कविता उस तरंग के रूप को एक 'स्ट्रक्चर' में बदल देती है, जैसे हीरे का क्रिस्टल हो ।" 52 चूंकि ऐसी कविताओं में प्राय: सब कुछ संरचना ही होता है, तत्व जैसी कोई चीज नहीं होती, इसलिए व्यावहारिक आलोचना करते समय आलोचक को तलवार की धार पर चलना पड़ता है और प्राय: विश्लेषण में अंतत: कुछ भी अलग से प्राप्त नहीं होता । जो लोग इस सत्य की उपेक्षा करते हैं उनकी आलोचना में सरलीकरण की संभावना पैदा हो जाती है । जैसा कि डॉ. नन्दकिशोर नवल की ऊपर उद्धृत व्यावहारिक आलोचना में दिखाई देता है । कहने की जरूरत नहीं है कि कोई भी श्रेष्ठ प्रेम कविता केवल किसी एक स्त्री, चाहे वह पत्नी हो या प्रेमिका के लिए नहीं लिखी जाती । ऐसे में 'एक पीली शाम' कविता को केवल कवि-पत्नी के सौन्दर्य वर्णन तक सीमित कर देना आलोचक की संवेदनशीलता की सीमा का परिचायक है । एक जमाने में डॉ. रामविलास शर्मा कवि केदारनाथ अग्रवाल की प्रेम कविताओं के मद्दे नजर स्वकीया प्रेम और प्रकीया प्रेम का जो भेदोपभेद खड़ा करके केदार की प्रेम कविताओं को शुद्ध स्वकीया प्रेम की कविताओं के रूप में स्थापित किया था, उसका हमारे जमाने में कोई खास महत्व नहीं है ।

सुप्रसिद्ध रूसी कवि पुष्किन ने कविता में दो तरह की असंगतियों की चर्चा की है - एक जहाँ भावावेग क्षीण होता है और शब्द विचारों की जगह ले लेते हैं । दूसरी जहाँ भावावेग तीव्र प्रवाही होते हैं, पर विचार अनुपयुक्त शब्दों में प्रकट होते हैं । दुनिया के तमाम कवियों की तरह शमशेर बहादुर सिंह की भी कुछ सीमाएँ हो सकती हैं और हैं । पर उनकी कविता की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वहाँ भावावेग

भी तीव्र प्रवाही है और शब्द भी अचूक संवेदनात्मक । यह बात उनकी प्रगतिशील कही जानेवाली कविताओं के सन्दर्भ में भी उतनी ही सच है जितने कि सौन्दर्यपरक कविताओं के सन्दर्भ में । इसी वजह से उनकी राजनीतिक कविताओं में भी इकहरापन नहीं है । जाहिर है कि शमशेर की आस्था मार्क्सवादी विचारधारा और जीवन-दर्शन में रही है । इसके बावजूद मार्क्सवाद के साथ उनके कवि-व्यक्तित्व या काव्य-मानस का सम्बन्ध प्रायः द्वन्द्वात्मक रहा है । प्रगतिशील आन्दोलन के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण मानी गई उनकी एक कविता 'लेकर सीधा नारा' (1941) की आन्तरिक संरचना पर यदि विचार करें, तो स्पष्ट होगा कि इस कविता में भी कवि शमशेर की आंतरिक समस्या अभिव्यक्त हुई है जो अपनी मूल आस्था की जाँच करने के सिलसिले में पैदा होती है ।

"लेकर सीधा नारा
कौन पुकारा
अंतिम आशाओं की संध्याओं से ?
पलकें डूबी ही-सी-थीं -
        पर अभी नहीं;
कोई सुनता-सा था मुझे
        कहीं;
पर किसने यह, सातों सागर के पार
एकाकीपन से ही, मानो-हार,

एकाकी उठ मुझे पुकारा

कई बार ?

मैं समाज तो नहीं; न मैं कुल

जीवन;

कण-समूह में हूँ मैं केवल

एक कण ।

-कौन सहारा !

मेरा कौन सहारा !" - प्रतिनिधि कविताएँ : पृ - 31

इस कविता के अन्तिम बन्द को उद्धृत कर उस पर टिप्पणी करते हुए विजयदेवनारायण साही लिखते हैं कि "चीजें जन्म लेती हैं, लेकिन वे अपनी गति से निरंतर अस्तित्व में स्थापित नहीं होतीं । इस निरंतर अस्तित्व के लिए एक बाहरी प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है, उसी तरह जैसे विष्णु तत्व जीव को अपनी अँजुली में धारण करके सार्थकता देता है । यही शमशेर की काव्यानुभूति का आरम्भ-स्थल है । भारतीय दर्शन की शब्दावली में कहें, तो यह रहस्यवाद नहीं है, पुष्टिमार्ग की तलाश है ।" अपने विश्लेषण में साही ने विलक्षण ढंग से शमशेर की ऊपर उद्धृत कविता के अन्तिम बन्द के मद्देनजर यह मान्यता प्रतिपादित की है कि एक तरह की वैष्णव भावना अर्पित निरीहता शमशेर की कविता में बराबर मौजूद है । वही है जो उनकी काव्य-जगत को धारण करती है । अपने इस मत को पुष्ट करने के लिए उन्होंने 'काव्यानुभूति की मालार्मीय विडंबना' का जिक्र किया है । उनके अनुसार "जितने

गहरे मालार्मे को यह विश्वास जकड़ता जाता था कि चारों ओर के भौतिक, जड़ जीवन के अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है, उतना ही काव्यानुभूति के लिए आवश्यक अतिक्रमण उसे असंभव दिखता था । सृजन प्रक्रिया स्वयं में ही एक विशाल व्यर्थता का प्रतीक लगती थी । मालार्मे के पास इस अपाहिज विडम्बना का एक ही हल था : लिखा ही न जाए । सृष्टि के प्रति नफरत और नितान्त न कुछ का बंजर प्रेम ।"53 जबकि सच्चाई यह है कि हर महान कविता मनुष्य के रोजमर्रा के जीवन का अतिक्रमण करने की कोशिश करती है । इसी बात को प्राचीन मिथकीय प्रतीकों के माध्यम से स्पष्ट करते हुए साही ने लिखा है कि "हम एक ऐसी सृष्टि की कल्पना करें, जिसमें जन्म देनेवाले ब्रह्मा तो हैं, लेकिन उस सृष्टि को धारण करनेवाले, उसे निरन्तर अस्तित्व प्रदान करने वाले - सही लगाने वाले विष्णु का अभाव है । सच्चाई की तलाश इसी विष्णु तत्व की तलाश है । ... मालार्मे के काव्य जगत् में तो रचने वाले ब्रह्मा का ही अभाव है, लेकिन शमशेर की समस्या विष्णु तत्व को स्थापित करने की है ।"54 1941 में रचित शमशेर की ऊपर उद्धृत इस कविता पर टिप्पणी करते हुए डॉ. नामवर सिंह ने थियोडोर एडोर्नो का एक वाक्य उद्धृत किया है । इसका भाव यह है कि 'कविता जो कुछ कह रही है उसे सिर्फ वही समझ सकता है जो उसके एकाकीपन में मानवता की आवाज सुन सकता है ।' उनका मानना है कि इस कविता में समाज के उस दबाव को भी महसूस किया जा सकता है जिसके विरुद्ध खड़ा होकर व्यक्ति कई बार अपने नैतिक साहस का परिचय देता है । इसके साथ ही उन्होंने इस कविता में व्यक्ति के अपने अकेले होने की विडंबना को भी रेखांकित किया है ।

"यही वे बिन्दु हैं जो इस कविता की निराशा को बच्चन जैसे कवियों की सरल सपाट निराशा से अलग करते हुए एक गहरी सामाजिक सच्चाई को व्यक्त करते हैं ।"55

वस्तुतः शमशेर की इस कविता के बहाने डॉ. नामवर सिंह ने उन कविताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करने की कोशिश की है, जो सीधे-सीधे सामाजिक न होकर अपनी वैयक्तिकता और आत्मपरकता के कारण 'लिरिक' या प्रगीत काव्य की कोटी में आती हैं । यह हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में व्याप्त अराजकता की ही स्थिति कही जाएगी कि एक ओर विजयदेवनारायण साही को कवि शमशेर काव्य रचना के क्षेत्र में 'विष्णु तत्व' को स्थापित करने वाले कवि प्रतीत होते हैं और नामवर सिंह शमशेर की आत्मपरक जान पड़नेवाली कविता में सामाजिक सच्चाई का आभास पाते हैं, दूसरी ओर प्रयोगवाद और नयी कविता के शलाका पुरुष अज्ञेय कुल मिलाकर शमशेर को द्विभाजित चेतना का अति यथार्थ कवि ही मानते हैं । डॉ. रामविलास शर्मा के लिए शमशेर की कुल काव्यात्मक समस्या रीतिवाद से मुक्त न हो पाने की है । जबकि शमशेर का अपना वक्तव्य है कि 'मेरी भावनाओं पर सबसे गहरा असर पड़ा है 'परिमल' और 'अनामिका' का । ऐसी जटिल स्थिति में साहित्य के एक संवेदनशील पाठक के नाते विजयदेवनारायण साही की आलोचना कवि शमशेर के बारे में हमारी समझ में इजाफा ही नहीं करती बल्कि उसे एक पुष्ट सैद्धान्तिक व तार्किक आधार भी देती है ।

हिन्दी आलोचना में वस्तुपरकता और आत्मपरकता के बीच प्रायः द्विभाजकता (Dichotomy) की स्थिति मानी जाती है । किन्तु साही कहते हैं कि

काव्यानुभूति के क्षण में यह सारी स्थिति इस तरह अलग-अलग नहीं प्रस्तुत होती । उसकी प्रतीति एक समूची इकाई की तरह होती है । कहना न होगा कि कविता में इस इकाई का आधार है कवि की दृष्टि और उससे भी बढ़कर उसका एहसास । यदि इस एहसास में कोई दरार होगी, तो वह कविता द्वारा व्यंजित यथार्थ में भी स्पष्ट दिखाई देगी । इस प्रसंग में साही ने शमशेर की दो कविताएँ उद्धृत की है -

एक :

ये लहरें घेर लेती हैं
ये लहरें ...
उभर कर अर्द्ध द्वितीया
टूट जाता है ...
अंतरिक्ष में
ठहरा एक
दीर्घ समतल मौन
दूर ... उत्तर पूर्व तक
तीन
ब्रह्माण्ड

टूटे हुए मिले चले गये हैं
अगिन व्यथा भर सहसा

कौन भाव

बिखर गया इन सब पर ।

(प्रतिनिधि कविताएँ : पृ - 40)

दो :

"एक आदमी दो पहाड़ों को कुहनियों से ठेलता
पूरब से पच्छिम को एक क़दम से नापता
बढ़ रहा है
कितनी ऊँची घासें चाँद-तारों को छूने को है
जिनमें घुटनों को निकालता वह बढ़ रहा है
अपनी शाम को सुबह से मिलाता हुआ
फिर क्यों
दो बादलों के तार
उसे महज़ उलझा रहे हैं ?"

- (प्रतिनिधि कविताएँ : पृ - 116)

ऊपर उद्धृत कविताओं पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है कि "देश की ही तरह काल में भी फाँक है । यों शमशेर की कल्पना काल को भी देश की ही तरह अनुभूत करती है, एक विशाल विस्तार की तरह जिसमें पौर्वापर्य की बाध्यता नहीं है । देश के रूप में काल की अनुभूति या यों कहें कि काल की वह सरहद जहाँ वह देश से अभिन्न दिखता है, अस्तित्व की किस अवस्था का सूचक है, यह विवेचना की अलग

दिशा है और मेरे लिए बहुत आकर्षक भी है । लेकिन यह विस्तार की बात है । ... यह इतिहास को इतिहास के भीतर देखने की कोशिश है । शमशेर के लिए यूटोपिया का अस्तित्व भविष्य की भविष्यता में नहीं, भविष्य की वर्तमानता में है, बल्कि अतीत और भविष्य दोनों की वर्तमानता में है । इसलिए वह इतिहास की सरहद पर नहीं ऐतिहासिक क्षण के मर्म में, उसकी धड़कन में विद्यमान है । नैरन्तर्य या पौर्वार्थ नहीं है, बल्कि नि:सीमता है ।"56

ऊपर उद्धृत दूसरी कविता में दो पहाडों को ठेलकर उभरते हुए आदमी का जो बिम्ब आया उसकी व्याख्या करते हुए साही का कहना है कि "ठेले जाते हुए पहाड़ देश में और सुबह और शामकाल में दरार या रिक्तता की स्थापना करते हैं । यह फाँक वही है जो पहली कविता में 'अंतरिक्ष में ठहरे हुए एक दीर्घ समतल मौन' से व्यक्त होती है ।

1. 'आसमान में गंगा की रेत आईने की तरह हिल रही है ।
मैं उसी में कीचड़ की तरह सो रहा हूँ ।
और चमक रहा हूँ कहीं ।
न जाने कहाँ ।'

2. 'सीने के सागर में ठाहरह
एक नाव है
(नाव वह मेरी है)

....

ओ मन ओ

तू एक नाव है

(और नाव वह हमारी है)'

यथार्थ के मर्म में जो फाँक है, वह कुछ नहीं है, कवि के मर्म की ही फाँक है । चेतना के अन्तरिक्ष में ही इस अभाव का, न-कुछ का, दीर्घ समतल मौन का जन्म होता है । इस तरह जैसे पानी की सतह पर फैले हुए तेल की झिल्ली, फैलने की प्रक्रिया में ही बीच में फट जाती है और पानी की सतह पर एक शुद्ध अभाव छोड़ जाती है । इस अंतर्वर्ती शुद्ध विस्तार के उस पार आईने में जो दिखता है, वह और कोई नहीं है कवि स्वयम् है । ब्रह्माण्ड चेतना के उस पार नहीं है, बल्कि चेतना के भीतर अंतवर्ती विस्तार के उस पार है ।"57

इसी क्रम में उन्होंने सवाल उठाया है कि यथार्थ के मर्म में अथवा चेतना के मर्म में जो फाँक है, क्या उसे पाटना सम्भव है ? उसका जवाब देते हुए वे खुद लिखते हैं कि काव्यानुभूति का क्षण एकसाथ ही अन्तवर्ती विस्तार के दो कोरों पर रखे हुए आईनों के साक्षात्कार का और इसीलिए अपने को ही दो हिस्सों में विभाजित पाने का क्षण है । उनका मानना है कि कवि ईमानदारी के साथ यदि सवाल उठाता है, तो वह श्रेष्ठ कविता की रचना के लिए काफ़ी है । यह कतई जरुरी नहीं है कि वह उन तमाम प्रश्नों का उत्तर भी दे । अधिक से अधिक वहाँ उत्तर की संभावना व्यक्त हो सकती है । अपनी इस धारणा को शमशेर काव्य के सन्दर्भ में विनियोजित करते हुए

वे लिखते हैं कि शमशेर का प्रश्न, प्रश्न की शुद्धावस्था नहीं है, वह 'मैं' का ऐसे 'तू' के प्रति फेंका हुआ तीर है, जो प्रश्न के पहुँचते-पहुँचते 'मैं' में ही परिवर्तित हो जाता है । शमशेर के प्रश्न के कोर पर उत्तर की संभावना झिलमिलाती है । वस्तुत: वह प्रश्न नहीं है, उत्तर भी नहीं है : उत्तर की संभावना है । अपनी बात को और स्पष्ट करने के लिए साही ने शमशेर और महादेवी की कविता में कुछ समानताओं को रेखांकित किया है । उनके विवेचन का निष्कर्ष यह है कि महादेवी का प्रश्न जहाँ शुद्ध प्रश्न है वहाँ शमशेर की कविता में उठाये गये प्रश्न उत्तर की संभावना से ओत-प्रोत है । काव्यानुभूति के स्तर पर शमशेर इस स्थिति को चरितार्थ करने के लिए एक से बढ़कर एक बिम्बों की रचना करते हैं जिसके परिणाम स्वरुप उनका बिम्बलोक यथार्थ के मर्म में पैदा हुई दरार को पूरा का पूरा भर देता है और सुन्दरता का अहेतुक अवतार, अनन्त और अपरम्पार लीला होने लगती है । अत्यधिक उल्लास और चमकते हुए उत्साह के साथ, परिपूर्ति का यह अनुभव एक नये तरह की निस्सीमता, बन्धन-मुक्ति और स्वतन्त्रता की नि:सीमता से कवि का साक्षात्कार कराता है । साही मानते हैं कि सर्जना के क्षेत्र में यह सिर्फ उल्लास और आवेग का नहीं बल्कि एक बहुत बड़ी विजय का भी क्षण है । शमशेर की कविता का यही स्वधर्म है । इससे विलग जहाँ वे मार्क्सवाद से अतिरिक्त रूप से प्रभावित होकर काव्य रचना करते हैं, वह हिस्सा उनकी काव्यानुभूति के बाहर पड़ता है । साही के शब्दों में वह शुद्ध वस्तुपरकता है जहाँ कवि मर जाता है और कवि ही क्यों यथार्थ भी मर जाता है, हाथ आता है सिर्फ एक मरा हुआ वर्तमान और मरा हुआ भविष्य । ग़ौरतलब है कि ये सारी बातें हवा में नहीं की जा रही हैं बल्कि शमशेर के रचना सन्दर्भ की जमीन पर खडे होकर सप्रमाण

कही जा रही हैं । उपर्युक्त आलोचनात्मक निष्कर्षों को पुष्ट करनेवाली शमशेर का काव्यांश द्रष्टव्य है जिसमें साही के शब्दों में यूटोपिया की स्पृहा अपने अंतिम रूप में मृत्यु की स्पृहा की तरह महसूस होती है :

"आईनो, रोशनाई में घुल जाओ और आसमान में
मुझे लिखो और मुझे पढ़ो ।
आइनो, मुस्कराओ और मुझे मार डालो ।
आइनो, मैं तुम्हारी ज़िन्दगी हूँ ।"

सच तो यह है कि शमशेर की कवि-दृष्टि में दृश्यमान का उतना महत्व नहीं होता । काव्य-वस्तु यदि स्पृश्य है, तो उन्हीं में होकर उन्हीं से परे हैं । यदि वह माध्यम है, तो कवि उसके पार जाना चाहता है । वह एक सितारे की झलक में आँसू, आँसू की झ ालक में किरण की तरह है । कवि का प्रयोगशील सत्यान्वेषी मन दृश्य रंगों से चलकर अदृश्य गतियों के बीच पहुँचता है, तब कई बार कल्पनातिरेक का आभास मिलता है । कहना न होगा कि इसी कल्पनातिरेक को विजयदेवनारायण साही ने अति यथार्थवाद के रूप में रेखांकित किया है । अति यथार्थवाद की सैद्धान्तिक व्याख्या और ऐतिहासिक स्थिति के मुकाबले साही के लिए ज्यादा प्रासंगिक यह है कि कवि शमशेर किस रूप में उसका निजी इस्तेमाल करते हैं । उनके शब्दों में शमशेर के लिए "अतियथार्थवाद शुद्ध आत्मपरकता है जिस तरह मार्क्सवाद शुद्ध वस्तुपरकता है । रेखाचित्रों की शक्ल में वह 'कुछ कविताएँ' नामक संग्रह में 'घनीभूत पीड़ा', शीर्षक कविता में हाशिये पर मौजूद है और ये चित्र 'चीन' नामक कविता के चीनी अक्षरों की

भाँति कविता की 'पहुँच के बाहर' होते हुए भी कविता के 'अभिन्न अंग' है । बहरहाल, मुख्य बात यह है कि दोनों हाशियों की तरफ़ कवि का रुख़ एक जैसा नहीं है । मार्क्सवाद या वस्तुपरकता वह है जिसका कवि कायल है, लेकिन जिसे वह काव्यानुभूति में ला नहीं पाता । अतियथार्थवाद वह है जो बरबस काव्यानुभूति में फूटा पड़ता है, लेकिन कवि जिसका कायल नहीं है और जिसे दबाकर, निकाल कर कविताओं में से अलग कर देना चाहता है । एक तरफ़ अपने को वायवी बनाकर असम्भव ऊँचाई को छू लेने की स्पृहा है, दूसरी तरफ़ अपने को पत्थर की तरह ठोस बनाकर उमड़ती हुई वायवीयता को दबा देने की कोशिश है । इन दोनों हाशियों के बीच शमशेर की काव्यानुभूति एक व्याकुल शांति की तरह स्थिर है । मूलत: वह जिसे हम जीवन कहते हैं, दो अतियों अथवा सीमाओं के बीच गति और प्रतिगति का एक झीना, झिलमिलाता हुआ और बेचैन सन्तुलन है ।"58

मार्क्सवाद और प्रगतिशील काव्यान्दोलन के सन्दर्भ में कवि शमशेर की क्रान्तिकारी भूमिका से हिन्दी कविता का पाठक समुदाय अच्छी तरह वाकिफ है । उन्होंने विश्व स्तर पर साम्यवाद की प्रतिष्ठा में, किसानों और श्रमजीवियों के पक्ष में सहज किन्तु प्रभावशाली कविताओं की रचना की है । यह ठीक है कि कई बार ऐसी कविताओं में प्रयोजन प्रमुख है और कवित्व एक हद तक अनुपस्थित - पर स्मरणीय है कि ये भी शमशेर की ही कविताएँ हैं । संभवत: इसी वजह से साही ने मार्क्सवाद या वस्तुपरकता को स्वभावत: शमशेर की काव्यानुभूति का हिस्सा नहीं माना है । बावजूद इसके साही के इस कथन से पूरी तरह सहमत होना मुश्किल है कि 'प्रगतिवाद

शमशेर के लिए मात्र वह नहीं है जो वह है ।' एक दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि कई बार साही के आलोचनात्मक निष्कर्षों में स्वत्व व्याघात की स्थिति भी दिखाई पड़ती है । उदाहरण के लिए एक स्थान पर साही कहते हैं कि 'मार्क्सवाद या वस्तुपरकता वह है जिसका कवि कायल है, लेकिन जिसे वह काव्यानुभूति में ला नहीं पाता', तो दूसरे स्थान पर उनका कथन है कि 'प्रगतिवाद शमशेर के लिए उनकी काव्यानुभूति की बनावट का अंग बनकर प्रस्तुत होता है । इस अर्थ में वह उनके लिए अभिनय नहीं वास्तविकता है ।' गौरतलब है कि ये दोनों ही वक्तव्य 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' शीर्षक लेख में मौजूद है, जो पाठक के सामने भ्रम की स्थिति पैदा करते हैं । इसके साथ ही जहाँ एक ओर वे शमशेर की काव्यानुभूति में अतियथार्थवाद के बरबस फूट पड़ने की तारीफ़ करते हैं वहाँ दूसरी ओर अतियथार्थ को निषेधात्मक यूटोपिया के रूप में रेखांकित करते हुए नमूने के तौर पर शमशेर की 'सींग और नाख़ून' तथा 'शिला का खून पीती थी' जैसी कविताओं को पेश करते हैं :

एक :

सींग और नाख़ून
लोहे के बख़्तर कंधों पर ।

सीने में सूराख़ हड्डी का ।
        आँखों में : घास काई की नमी ।
एक मुर्दा हाथ
        पाँव पर टिका

उलटी क़लम थामे ।

तीन तसलों में कमर का घाव सड़ चुका है ।

जड़ों का भी कड़ा चाल

हो चुका पत्थर ।

(प्रतिनिधि कविताएँ : पृ - 36)

दो :

शिला का ख़ून पीती थी

वह जड़

जो कि पत्थर थी स्वयं ।

सीढ़ियाँ थीं बादलों की झूलतीं,

टहनियों-सी

और वह पक्का चबूतरा,

ढाल में चिकना :

सुतल था

आत्मा के कल्पतरु का ?"

(प्रतिनिधि कविताएँ : पृ - 37)

ऊपर उद्धृत कविताओं पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं कि ये दोनों कविताएँ निषिद्ध यूटोपिया का चित्र प्रस्तुत करती है । सवाल यह उठता है कि क्या निषेधात्मक दृष्टि से किसी महान कला का सृजन संभव है ? कहना न होगा कि साहित्य और कला का

इतिहास इस बात का साक्षी है कि कोई भी महान कविता या काव्यधारा का सृजन और विकास केवल निषेधात्मक दृष्टि से कतई संभव नहीं है । जैसे सभ्यता के विकास के मूल में अंतर्विरोध और प्रतिक्रिया दोनों का योग होता है, उसी प्रकार संस्कृति के विकास की प्रक्रिया में भी केवल प्रतिक्रिया या निषेधात्मकता की भूमिका बहुत सीमित होती है । दूसरी बात यह कि साही की स्थापना के अनुसार यदि इन कविताओं में 'घिरा हुआ असीम भी पूरा का पूरा भर गया है' तो यह केवल निषेधात्मक यूटोपिया का परिणाम नहीं हो सकता । यह ठीक है कि ये कविताएँ सहज कविता का नमूना नहीं है और इनमें प्रयुक्त बिम्ब केवल बिम्ब नहीं रहकर कई बार प्रतीक हो जाते हैं । पर इसी वजह से साही के इस आलोचनात्मक निष्कर्ष को जायज़ नहीं ठहराया जा सकता कि "प्रतीक हैं - कुछ-नहीं के । अक्षरशः कुछ-नहीं के । यह पीड़ा की वह अवस्था है जहाँ उसमें से स्पृहा, उच्छ्वास, तड़प, बेचैनी सबकुछ अनुपस्थित हो जाता है और दर्द संगमर्मर की एक जड़ चट्टान की तरह जम जाता है । हाशिये की इस ऋण दशा में भी कविता जैसे-जैसे बढ़ती है, अपनी मृत्यु की ओर बढ़ती है । इसलिए कि इसके आगे पागलपन, मानसिक विक्षिप्तता की स्थिति है जो चेतना की मृत्यु का पर्याय है ।"59

कवि-आलोचक मलयज ने लिखा है कि "उत्कृष्ठ शिल्प तन्त्र और सामाजिक यथार्थवाद के दो साँचों में आलोचकों ने कवि शमशेर को गाहे-बगाहे फिट करना चाहा है । एक साँचे का आग्रह भीतरी बनावट की विवशता है, दूसरे का अपने व्यक्ति की पुकारती हुई सी माँग - अपने 'स्व' को बृहत्तर 'पर' से जोड़ने की अनिवार्य

सजगता ।"60 किन्तु गहराई से विचारने पर स्पष्ट होता है कि विजयदेवनारायण साही की कवि शमशेर विषयक आलोचना में कुछ पूर्वग्रहों के बावजूद ऐसा कोई साँचागत इकहरापन बहुत दूर तक नहीं है ।

हिन्दी की विभिन्न साहित्यिक कृतियों का आलोचनात्मक विश्लेषण करने के क्रम में आलोचक विजयदेवनारायण साही यदि एक ओर उनमें रचनात्मक अंत:सम्बन्ध के सूत्र की खोज करते चलते हैं, तो दूसरी ओर किसी कृति विशेष को ऐतिहासिक धारावाहिकता में रखकर देखने की पेशकश करने से नहीं चूकते । उदाहरण के लिए प्रेमचन्द और छायावादी कवियों की रचनाशीलता के बीच स्थित अंत:सम्बन्ध के सूत्र को रेखांकित करते हुए वे लिखते हैं, "कहा गया है कि छायावाद ने यथार्थ का तिरस्कार करके हवाई या स्वप्नदर्शी उड़ान में निकल भागना चाहा । इसको 'पलायनवादी' दृष्टि भी कहा गया है । इस ढ़ंग से कभी-कभी कवियों की तुलना में प्रेमचन्द को यथार्थवादी या यथार्थ के निकट कहा गया है । वस्तुत: प्रेमचन्द, प्रसाद और दूसरे छायावादी कवि समान मनोभूमि पर स्थित हैं । इनके वर्ण्य विषय अलग-अलग हैं और होना स्वाभाविक है । वे यथार्थ का तिरस्कार नहीं करते । यथार्थ के प्रति उनकी एक दृष्टि है । वे यथार्थ को मूलत: अपरिभाषित, निर्माणातुर, अवरोधी, कच्ची और गीली मिट्टी की तरह देखते हैं जिस पर आदर्श की कोई मुहर लगाई जा सकती है, जिसको किसी भी शकल या रूप-रंगत में मोड़ा जा सकता है ।"61 प्रसंगवश गजानन माधव मुक्तिबोध के एक निबन्ध की चर्चा अपरिहार्य है, जिसमें उन्होंने कामायनी और गोदान की रचनात्मक परिणति की तुलना

करते हुए कहा है कि प्रसाद और प्रेमचन्द न केवल एक ही युग के रचनाकार है बल्कि 'कामायनी' और 'गोदान' का रचनाकाल भी लग-भग एक ही है, किन्तु कामायनी का मनु कृति के अंतिम सर्ग में श्रद्धा के साथ कैलाश यात्रा करता है जबकि गोदान के अन्त में होरी की मृत्यु होती है । मुक्तिबोध ने सवाल उठाया है कि क्या यह फ़र्क महाकाव्य और उपन्यास की विधागत संरचना के बीच अंतर का परिणाम है ? उनकी अपनी मान्यता यह है कि इसके पीछे निहित प्रसाद और प्रेमचन्द की दो भिन्न विश्व दृष्टियों के बीच अंतर को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता । कहना न होगा कि लूसीय गोल्डमान द्वारा साहित्यालोचन के क्षेत्र में बहुप्रयुक्त पद 'विश्वदृष्टि' कुल मिलाकर लेखक की वर्गीय दृष्टि से बहुत अलग नहीं है ।

बावजूद इसके साही की यह स्थापना निराधार नहीं है कि प्रेमचन्द और छायावादी कवियों की मनोभूमि में समानता है । इस प्रसंग में गोदान के प्रोफेसर मेहता का स्त्री विषयक दृष्टिकोण किसी न किसी रूप में कथाकार प्रेमचन्द पर छायावादी प्रभाव का परिचायक है । प्रोफेसर मेहता एक स्थान पर कहते हैं कि 'पुरुष जब स्त्री के गुण अपना लेता है, तो वह देवता हो जाता है जबकि स्त्री यदि पुरुष का गुण अपनाती है, तो कुलटा हो जाती है' । इसी प्रकार साही के इस कथन के पीछे भी तर्क का बल है कि कटु यथार्थ या कठोर यथार्थ की कल्पना न छायावादी काव्य में ही है, न आरंभिक प्रेमचन्द में ही । "या है भी तो बहुत गौण । एक बार जब नैतिक या कल्पनात्मक 'विज़न' की आँच पड़ती है, तो यथार्थ में एक नाटकीय परिवर्तन होता है और वह रेशे-रेशे, कण-कण में व्याप्त हो जाता है - इस तरह कि यथार्थ की यथार्थता

का एक चिह्न भी शेष नहीं रह जाता, जिस तरह एक बार आश्रम खुल जाने पर वेश्या के वेश्यात्व का कोई निशान भी बाकी नहीं बचता । काव्य में तो नैतिक या कल्पनात्मक 'विज़न' की सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता स्वयंसिद्ध है ही, स्वयं प्रेमचन्द में यथार्थ की मिट्टी कितनी गीली है और कितने असम्भव रूपों तक में हो सकती है, इसका अनोखा उदाहरण उनका वह अद्‌भुत उपन्यास 'कायाकल्प' है जो शिशु-आस्था का एक अप्रत्याशित दृश्य ही हमारे सामने प्रस्तुत कर देता है ।"62

डॉ. रामविलास शर्मा ने गोदान पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि होरी नाम का किसान तो पराजित होकर खप गया, लेकिन साहित्य की अगली पीढ़ी का मनुष्य होरी के पुत्र और मेहता नामक फ़िलोसफ़र के सम्मिश्रण से निर्मित होगा । डॉ. शर्मा के उपर्युक्त निष्कर्ष पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए विजयदेवनारायण साही ने 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' शीर्षक निबन्ध में लिखा है कि "होरी को मरे हुए छब्बीस-सत्ताईस वर्ष हो गये और उसके बाद जो 'नयी पीढ़ी' आयी है, कविता में, गद्य में, उसके सबके सब सदस्य प्रो. मेहता द्वारा शिक्षित, होरी के मानस-पुत्र है । अपराजेय विवशता द्वारा पराजित पिता के दार्शनिक पुत्र ।"63 गोदान में साही के अनुसार प्रेमचन्द की कला पराकाष्ठा को प्राप्त हुई है । उन्हें ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द के पहले के सभी उपन्यास - 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' - इस उपन्यास की मंजिल के रास्ते के पड़ाव हैं । अपने अन्य उपन्यासों में प्रेमचन्द ने एक कल्पित आदर्श या सुधार के पक्ष में यथार्थवाद का उपयोग किया है किन्तु 'गोदान' में यथार्थवाद उपयोग की वस्तु नहीं है, वह एक दृष्टि बन जाता है, जिसके

भीतर मानव का केन्द्रीय प्रश्न उठता हुआ दिखता है । साही के अनुसार इसी वजह से 'गोदान' प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों से न केवल भिन्न और श्रेष्ठतर है, बल्कि वह महान उपन्यास की कोटी में परिगणित किये जाने योग्य है । इन सारी खूबियों को रेखांकित करने के बावजूद साही जब इस कृति की विषयवस्तु और संरचना के साथ-साथ उपन्यासकार के रचनात्मक संदेश की मीमांसा आरम्भ करते हैं, तो उनके निष्कर्षों से सहमत होना कठिन जान पड़ता है । उनका कहना है कि " 'गोदान' का समाज ठहरा हुआ है, सभी चरित्र जैसे प्रतीक्षारत हैं, जैसे कोई घटना घटेगी । लेकिन कोई घटना नहीं घटती । यह नहीं कि कुछ होता नहीं, हर बार यही लगता है कि हर घटना अनावश्यक बुलबुला बन कर समाज के अथाह ठहराव में विलीन हो जाती है । होरी की मृत्यु भी बुलबुलों की इस श्रृंखला में सिर्फ आखिरी बुलबुला है, जिसका प्रयोग उपन्यास का अन्त करने के लिए कर दिया गया ।"64 साही के अनुसार प्रेमचन्द अपने अन्य उपन्यासों में बुनियादी तौर पर परिवर्तन के आकांक्षी प्रतीत होते हैं और उनमें कोई न कोई केन्द्रीय समस्या जरूर है । इसके विपरीत 'गोदान' में कोई भी केन्द्रीय समस्या नहीं है । उसमें तमाम समस्याएँ पूरे समाज के समग्र ठहराव के सामने तिरोहित हो गई हैं । पर उनकी तटस्थता समस्याओं के प्रति नहीं, पूरे समाज और उनके अलग-अलग व्यक्तियों के प्रति परिलक्षित होती है । उनके पहले के उपन्यासों में समस्याग्रस्त मनुष्य के भीतर से कहीं एक ऐसी राह खोजने का रचनात्मक उद्यम दिखाई देता है, जो राह हमें एक अनन्त दिशा का संकेत देती है । "लेकिन 'गोदान' में जैसे वह राह बन्द हो गई है, प्रेमचन्द ने दूसरी राह नहीं खोली है । इनमें विचित्र बात यह है कि खुली हुई राह के बन्द हो जाने से प्रेमचन्द के मन में

तिलमिलाहट, बेचैनी, घुटन, व्याकुलता बिलकुल नहीं है । इस विवशता को तटस्थ भाव से स्वीकार कर लेने के बाद, उससे ऊपर उठने के लिए उन्होंने एक अमोघ अस्त्र का प्रयोग किया है, वह है विशाल दृश्यता । वह अपनी सहानुभूति सबको देते हैं, लेकिन इस सहानुभूति से दखल देने का आग्रह नहीं है ।"65

अपनी उपर्युक्त स्थापना के मद्देनजर साही सवाल खड़ा करते हैं कि क्या यह व्यापक सहानुभूति, तटस्थ करुणा हमें तृप्त कर पाती हैं ? उन्हें इस उपन्यास में बराबर एक अपर्याप्तता का बोध होता है । साथ ही उन्हें यह भी प्रतीत होता है कि खुद 'गोदान' के लेखक को भी इस अपर्याप्तता का भान था और इसमें व्यक्त सहानुभूति उसके लिए आपद्धर्म मात्र थी । सच तो यह है कि 'गोदान' की सबसे बड़ी कलात्मक विशेषता ही आलोचक को उसकी अपर्याप्तता नजर आ रही है । ऐसे आलोचनात्मक निष्कर्षों के मूल में आलोचक का पूर्वाग्रह सक्रिय है या कविता के मूल्यांकन के लिए उपयोग में लायी जानेवाली तर्क पद्धति का कथाकृति की आलोचना के दरम्यान प्रयोग करने की कोशिश, यह कहना कठिन है ।

'गोदान' के अलावा हिन्दी की जिन गिनी चुनी कथाकृतियों की साही ने व्यावहारिक आलोचना की है, उनमें शिवप्रसाद सिंह रचित औपन्यासिक कृति 'अलग-अलग वैतरणी' सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । उनका कहना है कि 'वैतरणी' नाम रखते समय लेखक को 'गोदान' के प्रतीक की याद थी या नहीं यह तो कहना मुश्किल है, पर दोनों प्रतीकों में न केवल गहरा साम्य है, बल्कि इन दोनों उपन्यासों में प्रतीकों का

रिश्ता भी देखने लायक है । उनके शब्दों में "प्रेमचन्द का होरी भी वैतरणी में उभ-चूभ कर रहा है । लेकिन उसे आशा है, संस्कारों के रस में भीगे हुए कल्पित गोदान का, जिसकी गऊ की पूंछ शायद वैतरणी को पार कराने में मदद कर दे । श्री शिवप्रसाद सिंह के उपन्यासों में संस्कारों की गऊ न जाने कहां खो गयी है, शेष सिर्फ वैतरणी ही वैतरणी है, जिसमें सब ऊभ-चूभ कर रहे हैं । इस वैतरणी को पार नहीं किया जा सकता, सिर्फ इससे भाग कर जाया जा सकता है, गजीपुर में डिग्री कालेज की अध्यापकी के लिए ।"66 जाहिर है कि 'अलग-अलग वैतरणी' एक जमीन्दार परिवार के टूटन की कहानी है, जिसका युवक वंशधर गाँव की असफल रिहायशी से ऊब कर शहर भाग जाता है । टूटन क्रमशः आती है । छावनी के बाबुआन जैपाल सिंह और गाँव के धनी जमींदार सुरजू सिंह में पुश्तैनी शत्रुता है जिसके मूल में इन परिवारों के एक युवक और एक युवती देवपाल और राजमती की प्रेमबलि है । यह शत्रुता नये युग के अनुरुप विकसित होती है । जैपाल सिंह परिवर्तित परिस्थिति के अनुकूल पैंतरे बदलते हैं और अपने बड़प्पन को संभाले जा रहे हैं । परंतु अपने उत्तराधिकारी बुझारथ के संबंध से डोमन चमार की बेटी सगुनी को एक दिन छावनी पर पाकर उन्हें ऐसा धक्का लगा कि उठ नहीं पाये । एक गौरवपूर्ण अध्याय समाप्त हो गया । आगे गिरावट, छल-छद्म, हीन मंसूबे और अंधी लागडाट चलती है जिसके कीचड़ में समूचा गाँव सराबोर है । ऐसे ही में शहर की पढ़ाई समाप्त कर करैता में आया बुझारथ का छोटा भाई विपिन, एक फर्स्ट क्लास का स्कॉलर । उसका साथी देवनाथ भी डॉक्टरी पास कर गाँव में जमने की कोशिश कर रहा है । दोनों के मन में गाँव के प्रति स्नेह है । समय-समय पर विपिन में नये खून की ताजगी दिखायी पड़ती

है । एक दिन न्याय और कानून के नाम पर उसने थानेदार को डांट कर चुप कर दिया । अपने परिवार के विरुद्ध चुपके से मदद कर उसने पुष्पा का घरबार नीलाम पर चढ़ने से बचा लिया । बचपन का प्रेमांकुर पनप कर लहक तो उठा, पर गाँव की हवा उलटी पड़ी और अपने मूक-प्रेम को लेकर विपिन टूटने लगा ।67 इस उपन्यास में विपिन जैसे पात्र को केन्द्र में रखकर बुनी गई केन्द्रीय कथा के अलावा बहुत सारी उपकथाएँ भी हैं जिनके वर्णन-चित्रण के क्रम में अनेकानेक पात्र उभरकर सामने आते हैं । उपन्यास में एक पात्र के माध्यम से कहलवाया गया है कि विपिन उन थोडे से लोगों में से है जिनके पास चेहरा है । बाकी भीड़ बिना चेहरेवालों की है । इस बारे में विजयदेवनारायण साही ने लिखा है कि विपिन के पास चेहरा सिर्फ इतना ही है कि वह पढ़ा लिखा है, गाँव को समस्या की तरह देखता है । वर्ना उसके जैसा बिना चेहरे का पात्र पूरे उपन्यास में नहीं है, क्योंकि विपिन व्यक्ति नहीं है देखने का ढ़ंग है । साही मानते हैं कि 'अलग-अलग वैतरणी' शुद्ध सामाजिक दस्तावेज और जीवन के प्रतीकात्मक अर्थ के बीच स्थित है "इस कशमकश में ही विपिन, जो कथा का केन्द्र है, लुंजपुंज हो गया है । करैता को एक इकाई या तत्व की तरह महसूस करने के कारण वह करैता से कटकर अलग हो गया है । उसका बाहरीपन, करैता के प्रति लेखक के तथा पाठक के बाहरीपन का प्रतीक है । उसके लिए करैता एक कठिन समस्या की तरह है, जिसके साथ उसका एक ही रिश्ता बन सकता है कि वह उसे सुलझाने की कोशिश करे । यह रिश्ता अपने आप में एक दिमागी रिश्ता है । करैता से विपिन के जितने और सम्बन्ध हैं पैदायशी, खानदानी या पुष्पी के साथ हलकी सिहरन वाले, उनकी भूमिका सिर्फ इतनी ही है कि दिमागी रिश्ते को थोड़े वक्त के

लिए करैता से जोड़ दें । सिर्फ सास्या को इस तरह उपस्थित कर दें कि विपिन के लिए समस्या का साक्षात्कार करना अनिवार्य हो जाए । मगर उन रिश्तों में इतना दम नहीं है कि विपिन को विचलित कर सकें या भीतर का आदमी बना सकें ।"68

ग़ौरतलब है कि इस उपन्यास में करैता नामक जिस गाँव का जिक्र किया गया है, वहाँ अच्छे लोगों की जो कतार मौजूद है उसमें मास्टर शशिकान्त, ख़लिल, जगन मिसिर, देवनाथ विपिन आदि उल्लेखनीय हैं । इन्हें देखकर लगता है कि भारतीय गाँव अभी प्राणहीन नहीं है । किन्तु इनमें से जगन मिसिर को छोड़कर बाकी सारे पात्र गाँव छोड़कर चले जाते हैं । वस्तुत: जगन मिसिर एक खरे व्यक्तित्व वाला पहलवान है जिसने अनाथ जैसी स्थिति में जन्म लिया और जिसे दैव योग से जीवन भर नि:सन्तान होने की मन:स्थिति और नियति से लडना पड़ा । सच तो यह है कि तमाम तरह के मानसिक एवं सामाजिक अन्तर्विरोधों से जूझने वाले जगन मिसिर में सच्चे ग्रामीण जन की निर्भीकता मिलती है गाँव के बिखराव के प्रति उनके भीतर एक हार्दिक तड़प है । इसको देखते हुए कई बार ऐसा लगता है कि इसउपन्यास में यही एक पात्र है जो गाँव के प्रति आशान्वित है और जिसके चलते पूरा उपन्यास आशावादी बना रहता है । इसके ठीक विपरीत विपिन का चरित्र है । विजयदेवनारायण साही ने सही लिखा है कि "विपिन के माध्यम से उपन्यासकार उस सम्पूर्ण इकाई से टकराने की कोशिश करता है । इस भूमिका को मान लेने के बाद विपिन के लिए दो ही औपन्यासिक स्थितियाँ हो सकती थीं - वह या तो क्रान्तिकारी हो जाता या पलायनवादी । वह पलायनवादी ही होना स्वीकार करता है । यों कहें कि बराबर

पलायनवादी ही रहता है ।"69 उनका मानना है कि 'अलग-अलग वैतरणी' में उपन्यासकार बहुत कुछ विपिन से अभिन्न है, लेकिन पूरे उपन्यास की समस्या विपिन से एक कदम और आगे है । विपिन का व्यक्तित्व अन्य पात्रों से सिर्फ़ इस मायने में भिन्न है कि वह पढ़ा-लिखा है, शहर से परिचित है तथा अच्छी नौकरी पा सकता है जबकि करैता गाँव कुल मिलाकर अपढ़ और गरीब लोगों की ऐसी बस्ती है जिन्हें बाहर की दुनिया का कोई अता-पता नहीं है । साही के शब्दों में वह वैतरणी इसी कारण है कि बाहर की दुनिया उससे इतनी भिन्न हो चुकी है कि उसके मुकाबले करैता ने अपना अर्थ खो दिया है । सामाजिक दस्तावेज के रूप में शिवप्रसाद सिंह का यह उपन्यास आर्थिक विघटन और चुनाव वाले जनतन्त्र के दौर में नैतिक, सामाजिक परम्पराओं की झंकार को टूटता हुआ या नपुंसक दिखाता है । वहाँ का सांस्कृतिक मानस तो जलते तवे पर पडी हुई पानी की बूंद की तरह कभी का गायब हो चुका है । बावजूद इसके यह कहा जा सकता है कि धारणाओं के जिस चौखटे में यह साफ़ सुथरी तस्वीर पेश की गई है, वह सामान्य धारणाओं में कहीं खराश पैदा नहीं करती । इस अर्थ में उपन्यास कहीं चौंकाता नहीं है । साही कहते हैं कि 'अलग-अलग वैतरणी' को पढ़कर लगा कि जिस जमीन को चुक गया मानकर चलने की हवा चल पड़ी थी, अभी भी उसमें निरन्तर नई उद्‌भावनाओं की गुंजाइश है । उनका मानना है कि गाँव को छोड़कर मनुष्य को परिभाषित करने की कोई भी औपन्यासिक कोशिश कम से कम हिन्दुस्तान में कतई काम्याब नहीं हो सकती । इस उपन्यास में आये एक पात्र शशिकान्त मास्टर को साही ने विपिन का 'दिमागी सहोदर' बताया है जो सुधार के कठिन और ईमानदार परिश्रम में लगता है । लेकिन उसकी सक्रियता उसे करैता के

भीतर का ही एक तत्व बना देती है, जिसके परिणामस्वरूप वह पूरी तस्वीर का एक हिस्सा भर बन जाता है । साही के अनुसार वह बिना चेहरेवाले लोगों की भीड़ में से एक है और उसकी असफलता पूरे माहौल की असफलता है ।

'गोदान' और 'अलग-अलग वैतरणी' के अलावा विजयदेवनारायण साही ने राही मासूम रज़ा की औपन्यासिक कृति 'आधा गाँव' तथा अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' पर भी आलोचनात्मक टिप्पणी की है । जाहिर है कि 'आधा गाँव' हिन्दी का एक ऐसा उपन्यास है जिसकी अन्तर्वस्तु को लेकर एक जमाने में काफ़ी बावेला मचा था । इसकी चर्चा करते हुए प्रो. कुँवरपाल सिंह ने लिखा है कि "राही मासूम रजा के उपन्यास 'आधा गाँव' पर उसके प्रकाशित होते ही (1966), कई तरह के आरोप लगाए गए । कुछ लोगों ने कहा कि ये अश्लील है और इसमें गालियों की भरमार है । साम्प्रदायिक मानसिकता वाले हिन्दू और मुसलमान इसे साम्प्रदायिक उपन्यास के रूप में देखते रहे हैं । साहित्य अकादमी पुरस्कार भी 'आधा गाँव' को इसलिए नहीं मिला कि कुछ लोगों की दृष्टि में यह अश्लील उपन्यास था । पूरे हिन्दी जगत में इस पर विवाद तब शुरु हुआ जब डॉ. नामवर सिंह ने इसे एम.ए. के पाठ्यक्रम में लगाया । सम्प्रदायवादी तो इसके विरोध में थे ही, रामविलास शर्मा ने भी (बकौल डॉ. नामवर सिंह के) इसके सम्बन्ध में जो टिप्पणी की, वो आर्य समाजी नैतिकता के आधार पर की गई लगती है । यह प्रतिक्रिया इस प्रकार थी - "साम्प्रदायिक तो नहीं पर अश्लील है और विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाने लायक नहीं है ।" (तद्भव अंक-2, सितम्बर, 1999) । इसके बाद यह उपन्यास पाठ्यक्रम से हटा दिया गया और

डॉ. नामवर सिंह ने भी हाथ झाड़ लिए । 1998 में औरंगाबाद विश्वविद्यालय में भी इस उपन्यास पर यही आरोप लगे ।" [70]

'आधा गाँव' के बारे में विजयदेवनारायण साही का मानना है कि यह उपन्यास "एक गाँव या गाँव के सामाजिक अंश के, गंगोली के शीया सैयदों के सामाजिक दस्तावेज की तरह लिखा गया है । राही मासूम रज़ा के सामने एक मुकदमा है, जिसे उन्हें साबित करना है । एक तस्वीर पेश करना है । चूंकि राही मासूम रजा का उद्देश्य सरल है, इसलिए उनके उपन्यास का अन्त उतना सन्तोषप्रद नहीं लगता । जिस तरह झूले झुलाने वाली बड़ी चरखी की अनगिनत कुर्सियों के ऊपर तरह-तरह के लोग ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर चक्कर काटते हैं, उसी तरह तमाम तसवीरें राही के उपन्यास में आधी पहचानी, आधी अनपहचानी आँखों के सामने से गुजरती रहती हैं - फिर एक वक्त आता है जब उपन्यासकार चरखी का चक्कर बन्द कर देता है और कहता है - "इत्यादि, इत्यादि !' उपन्यास इसी 'इत्यादि, इत्यादि' पर खत्म हो जाता है । लोगों से घिरे हुए हकीम अली कबीर आखिरी सांस लेते हैं ।" [71]

राही मासूम रज़ा ने 'आधा गाँव' की रचना प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए लिखा है - यह उपन्यास वास्तव में मेरा एक सफ़र है । मैं गाजीपुर की तलाश में निकला हूँ लेकिन मैं पहले अपने गंगोली में ठहरूंगा । अगर गंगोली की हकीकरत पकड़ में आ गई तो मैं गाजीपुर का एपिक लिखने का साहस करूंगा । यह वास्तव में उस एपिक (महाकाव्य) की भूमिका है । किन्तु इस कृति की औपन्यासिक संरचना पर विचार करते हुए साही कहते हैं कि इसमें "किस्सा गंगोली से शुरु होता है, गंगोली

पर खत्म हो जाता है और यह गंगोली ज्वार-भाटा से भरे हुए समद्र की तरह, एक इकाई है, जिसमें मौत और पैदाइश की लहरें उठती-समाती रहती हैं । मगर समुद्र खुद एक अव्यय की तरह कायम है । राही की कहानी का कोई तार्किक अन्त नहीं है । वह कहीं भी खत्म हो सकती है आगे भी चल सकती है, इत्यादि की तरह । वह जिस अनंतता को कायम रखना चाहते हैं, वह अनंतता गणित के अंकों की अनंतता है ... । यह अनंतता अर्थ की अनंतता नहीं है, इसीलिए उपन्यास के बाद यह नहीं लगता कि अभी आधी बात कही गई है ।"7।

यह ठीक ही कहा गया है कि आलोचना का लक्ष्य केवल किसी कृति के अर्थ की मीमांसा ही नहीं, बल्कि उसकी सार्थकता की पड़ताल भी है । जब तक कोई आलोचना कृति की सार्थकता की पड़ताल नहीं करती, वह उसके रचनात्मक अभिप्राय एवं प्रभाव की ठीक-ठीक व्याख्या नहीं कर सकती । 'आधा गाँव' के रचनात्मक अभिप्राय को लेकर साही का आलोचक लग-भग चुप है । स्पष्ट ही इस कृति के रचनात्मक अभिप्राय का सम्बन्ध बुनियादी तौर पर भारतीय समाज में रोज ब रोज नये-नये रूपों में सामने आनेवाली साम्प्रदायिकता की समस्या से है जिसे राही मासूम रज़ा ने एक रोग कहा है । वे हिन्दू और मुस्लिम साम्प्रदायिकता को एक ही सिक्के के दो पहलू मानते हैं । इस उपन्यास में बार-बार यह बात कही गई है कि जब अन्ध भक्ति किसी समाज में उत्पन्न कर दी जाती है, तो सत्य-असत्य, कल्पना-यथार्थ के बीच की दीवारें टूट जाती हैं । कुल मिलाकर उपन्यासकार का रचनात्मक निष्कर्ष यह है कि "नफ़रत और खौफ़ की बुनियाद पर बनने वाली कोई चीज़ मुबारक नहीं हो

सकती ।"72 चूंकि विजयदेवनारायण साही ने 'धर्म निरपेक्षता की खोज में हिन्दी साहित्य और उसके पडोस पर एक दृष्टि' जैसा महत्वपूर्ण निबन्ध लिखा है, इसलिए उनसे यह अपेक्षा स्वाभाविक है कि वे 'आधा गाँव' की अन्तर्वस्तु तथा उसमें निहित रचनात्मक अभिप्राय पर भी अपनी पैनी निगाह डालते । इस अभाव के बावजूद उन्होंने इसकी औपन्यासिक संरचना एवं रचनात्मक प्रभाव का आकलन करते हुए जो बातें कही हैं वे भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं । 'अलग-अलग वैतरणी' और 'आधा गाँव' की तुलना करते हुए साही ने लिखा है कि "राही के उपन्यास में विपिन जैसा कोई पात्र नहीं है । यहां तक कि उपन्यास के भीतर का मासूम भी औरों की तरह भीड़ में खोया रहता है । इस कारण किसी तरह का उलझन पैदा होने की गुंजाइश नहीं होती । गाँव के भीतर की जिन्दगी समस्या की तरह नहीं, बल्कि एक ममतापूर्ण प्रवाह की तरह सामने आती है । सवाल सब कुछ को सोचकर, अपनी परिस्थिति को परिभाषिक करने का नहीं है बल्कि अपने को उस प्रवाह में बेहिचक छोड़ देने का है, उसके साथ गड्डमड्ड हो जाने का है, ताकि मासूम को कोई गंगोली से उठाकर रायबरेली न ले जा पटके । लेकिन विपिन की समस्या मुख्यत: विचारक की समस्या है - इस कुलबुलाती वैतरणी को किस तरह अर्थ दिया जाए ।"73

अज्ञेय की औपन्यासिक कृति 'नदी के द्वीप' को विजयदेवनारायण साही ने आंचलिक दृष्टि के तत्व से भरपूर रचना माना है । वे कहते हैं कि 'नदी के द्वीप' "किसी भौगोलिक अंचल की कथा नहीं है । लेकिन यदि हम आंचलिकता को कथाकार की दृष्टि से सम्बद्ध मानें और परिभाषा के अनुसार कटे हुए, अपने-आप में

बन्द, स्वतः सम्पूर्ण समाज की उद्‌भावना और छविमयता को उसकी कसौटी मानें तो आंचलिक दृष्टि के तत्व उसमें मिलेंगे । एक अर्थ में उसके मुख्य पात्र केवल व्यक्ति या वर्ग विशेष नहीं है - वे मिलकर एक अलग 'समाज' का निर्माण करते दिखते हैं । बेशक इस समाज की स्वतः सम्पूर्णता उतनी चरम नहीं है जितनी 'मैला आँचल' के समाज की । वस्तुतः इस समाज का 'समाज' न बनकर जगमगाते द्वीपों की तरह बिखर-बिखर जाना ही कथाकार का महत्वपूर्ण कथ्य है । मगर इसके पीछे उपन्यासकार की वह मौलिक तलाश ही हे जो खाई के उस पार अन्य मूल्यों पर आधारित एक भिन्न सामाजिकता की छविमय सम्भावना को देखना चाहती है । दीपक की लौ की तरह इस सम्भावना का अस्तित्व और निर्वाण एक ही प्रक्रिया का नाम है जो इस ज्योतिर्मय 'दु:खभरी कहनी' को जन्म देती है । इसी अर्थ में 'नदी के द्वीप' में आंचलिकता का आभास होता है - खाई, चेतना की स्वतंत्र सत्ता और यथार्थ की छविमयता ।"74 गौरतलब है कि 'नदी के द्वीप' को हिन्दी में व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर गहराई के साथ विचार और रोचकता के साथ वर्णन करने वाले गिने चुने उपन्यासों में एक माना गया है । संभवतः साही को छोड़कर अन्य किसी आलोचक ने इसका उल्लेख आंचलिक उपन्यास के रूप में नहीं किया है । यह ठीक है कि महानगरों के सागर में भी गाँवों के द्वीप हुआ करते हैं और ऐसे द्वीपों में रहनेवाले लोगों के जीवन को विषय-वस्तु बनाकर अनेकानेक श्रेष्ठ रचनाएँ लिखी गई हैं, पर महानगरीय अभिजन वर्ग की जीवनगत विसंगतियों और विडम्बनाओं को चित्रित करने के क्रम में प्रयुक्त चन्द भाषागत वैशिष्ट्य, खास तौर से कुछ अंग्रेजी शब्दों के सटीक प्रयोग के मद्देनजर किसी कृति को आंचलिक उपन्यास कहना

आलोचकीय नवोन्मेष का उदाहरण भले ही हो, इतिहास सम्मत वक्तव्य कतई नहीं है । वस्तुतः स्थानीय रंगत एवं विशिष्ट भाषिक प्रयोगों को ही आँचलिकता का पर्याय मान लेने की वजह से प्रायः इस तरह का भ्रम पैदा हो जाया करता है । इन्दु प्रकाश पाण्डेय ने बैंटले का हवाला देते हुए साफ़ लिखा है कि "आँचलिक उपन्यास एक ऐसा उपन्यास है, जो एक विशिष्ट भाग, विशिष्ट क्षेत्र, विशिष्ट राष्ट्र पर केन्द्रित होता है और उस क्षेत्र के जीवन को इस प्रकार चित्रित करता है, जिससे पाठक का ध्यान उस क्षेत्र की विशिष्टताओं की ओर खिंचता है और वह आसानी से उस क्षेत्र को अन्य स्थानों से अलग करके देख और समझ सकता है । वे कहते हैं कि स्थानीय रंगत और आँचलिकता की विशेषताओं में भेद कर सकने में असमर्थ हिन्दी के अनेक आलोचकों ने बहुत से दूसरे तरह के उपन्यासों को भी आँचलिक उपन्यासों की कोटि में घसीट लिया है ।75

कुल मिलाकर यह कहना अयुक्तियुक्त न होगा कि विजयदेवनारायण साही कि व्यावहारिक आलोचना की शक्ति जहाँ काव्यालोचन के क्षेत्र में प्रकट हुई है वहीं कथालोचन के क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण वैचारिक स्फुलिंग से परिपूर्ण स्थापनाओं के बावजूद उनकी सीमा को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता ।

सन्दर्भ-सूची

1. मलयज - कविता के साक्षात्कार, पृ. 1.
2. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड-5, पृ. 249.
3. इतिहास और आलोचना
4. इतिहास और आलोचना, पृ. 126.
5. इतिहास और आलोचना, पृ. 120.
6. हिन्दी आलोचना के आधार स्तंभ, पृ. 24.
7. हिन्दी आलोचना के आधार-स्तम्भ, पृ 52.
8. Practical Criticism, P. 12.
9. साहित्य सिद्धान्त, पृ. 52.
10. चिंतामणि
11. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्य-सिद्धान्त, पृ. 166.
12. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 305.
13. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 306.
14. छठवाँ दशक, पृ. 230.
15. अभिप्राय, मई, 1985, पृ. 18.
16. साहित्य क्यों ? पृ. 44.
17. साहित्य क्यों ?, पृ. 44.
18. जायसी, पृ. 90.
19. पद्मावत, सं. माताप्रसाद गुप्त, पृ.

20. जायसी, पृ. 93.
21. सं. माताप्रसाद गुप्त, पद्मावत, पृ. 109.
22. जायसी, पृ. 10.
23. जायसी, पृ. 14.
24. डॉ. नामवर सिंह, इतिहास और आलोचना, पृ. 177.
25. जायसी, पृ. 14.
26. सं. माताप्रसाद गुप्त, पद्मावत, पृ.
27. जायसी, पृ. 17.
28. संपादक - माताप्रसाद गुप्त, पद्मावत, पृ.
29. जायसी, पृ. 31.
30. सं. माताप्रसाद गुप्त, पद्मावत, पृ.
31. जायसी, पृ. 34.
32. पद्मावत, सं. वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 714.
33. -वही- पृ. 714.
34. डॉ. कुमार विमल - काव्य रचना-प्रक्रिया, पृ. 135.
35. जायसी, पृ. 71.
36. डॉ. रामबक्ष, समकालीन हिन्दी आलोचक और आलोचना, पृ. 208.
37. जायसी, पृ. 111.
38. समकालीन हिन्दी आलोचक और आलोचना, पृ. 214.
39. छठवाँ दशक, पृ. 194.

40. मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-4), पृ. 436.
41. प्रतिनिधि कविताएँ, पृ. 101
42. छठवाँ दशक, पृ. 197.
43. छठवाँ दशक, पृ. 197.
44. छठवाँ दशक, पृ. 200.
45. छठवाँ दशक, पृ. 203.
46. कसौटी-3, अक्तूबर-दिसंबर, 1999, पृ. 105.
47. कसौटी-3, पृ. 106.
48. कसौटी-3, पृ. 107.
49. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड-5, पृ. 434.
50. छठवाँ दशक, पृ. 312.
51. छठवाँ दशक, पृ. 199.
52. छठवाँ दशक, पृ. 196.
53. छठवाँ दशक, पृ. 199.
54. वाद विवाद संवाद, पृ. 111.
55. छठवाँ दशक, पृ. 109.
56. छठवाँ दशक, पृ. 210.
57. छठवाँ दशक, पृ. 213.
58. छठवाँ दशक, पृ. 214.
59. कविता से साक्षात्कार, पृ. 24.

60. छठवाँ दशक, पृ. 276.

61. छठवाँ दशक, पृ. 277.

62. छठवाँ दशक, पृ. 277.

63. वर्धमान और पतनशील, पृ. 61.

64. वर्धमान और पतनशील, पृ. 62.

65. वर्धमान और पतनशील, पृ. 50.

66. बीहड पथ के आदमी, विवेकी राय, पृ. 102.

67 . वर्धमान और पतनशील, पृ. 54.

68. वर्धमान और पतनशील, पृ. 55.

69. वर्तमान साहित्य- शताब्दी कथा विशेषांक, जनवरी-फरवरी, 2000, पृ. 39.

70. वर्धमान और पतनशील, पृ. 52.

71. वर्धमान और पतनशील, पृ. 53.

72. आध गाँव, पृ. 372.

73. वर्धमान और पतनशील, पृ. 55.

74. छठवाँ दशक, पृ. 227.

75. हिन्दी के आँचलिक उपन्यासों में जीवन-सत्य, पृ. 14.

अध्याय - छः

विजयदेवनारायण साही की आलोचना की भाषा

कवि-कर्म की विशेषता या काव्यानुभूति की सार्थक बनावट की तरह ही आलोचना-कर्म की सार्थकता और विशेषता को जाँचने का एक विश्वसनीय माध्यम है आलोचना की भाषा का विश्लेषणप्रेरित साक्षात्कार । साहित्य का हर पाठक इस तथ्य से अपरिचित नहीं है कि रचना की भाषा की तरह ही आलोचना की भाषा में भी शब्द और अर्थ का सम्बन्ध प्राय: एक और एक का न होकर बहुत गहरा होता है । चूंकि श्रेष्ठ रचनात्मक कृतियाँ अभिव्यक्ति के लिए शब्दों पर निर्भर होने के बावजूद शब्दों के अतिक्रमण से भी या इस दिशा में संघर्ष से भी अर्थ या रूप उपलब्ध करती हैं, इसलिए आलोचना के दरम्यान उस विशिष्ट अर्थ या उपलब्ध रूप की व्याख्या के लिए कई बार सामान्य शब्द अपर्याप्त सिद्ध होते हैं । बावजूद इसके यह स्मरणीय है कि आलोचना क्रम में शब्दों के अतिक्रमण को भी अन्तत: शब्दों में ही पकड़ना और व्याख्यायित करना सम्भव होता है । कहा जाता है कि 'कविता भाषा के भीतर भाषा' है । सवाल यह खड़ा होता है कि क्या आलोचना भी भाषा के भीतर भाषा नहीं है ? स्पष्ट ही जहाँ आलोचक केवल कामचलाऊ या चल्ताऊ भाषा से काम लेने की कोशिश करता है, वहाँ वह प्राय: 'काव्यतत्वार्थबोध' में असफल साबित होता है । श्रेष्ठ रचना जिस प्रकार काव्यानुभूति को पाठक तक सम्प्रेषित करके उसके भीतर वही भाव जगाने में सक्षम होती है, उसी प्रकार आलोचना भी पाठक समुदाय के भीतर साहित्य, समाज, संस्कृति आदि के प्रश्नों को लेकर बेचैनी पैदा करने का काम करती है और स्पष्ट ही आलोचक के विचारों की संप्रेषणीयता बहुत हद तक उसके भाषिक विन्यास पर निर्भर करती है ।

उपर्युक्त विमर्श के आलोक में विजयदेवनारायण साही की आलोचना की भाषा पर विचर करने से स्पष्ट होता है कि वहाँ विश्लेषण के साथ-साथ 'वक्तृत्व' और कई बार अतिनाटकीयता का अंश मौजूद है । साही के पास अपनी बात को पुष्ट करने के लिए अनेकानेक वैचारिक एवं तार्किक प्रक्षेपास्त्र मौजूद है और इनके उपयोग के क्रम में उनका अन्दाजे बयाँ देखने लायक होता है । आलोचना-कृति के नाम पर उनकी जो किताबें प्रकाशित हैं उनसे गुजरते हुए बहुत जल्दी यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें संकलित ज्यादातर निबन्ध ऐसे हैं जो वस्तुत: गोष्ठियों में बतौर व्याख्यान प्रस्तुत किये गये हैं, जिन्हें बाद में लिपिबद्ध करके प्रकाशित किया जाता रहा है । स्मरणीय है कि साही के जीवनकाल में उनकी जो एकमात्र पुस्तक 'मछलीघर' प्रकाशित हुई वह वस्तुत: काव्य-कृति है । लग-भग उनकी सारी चीजें मरणोपरान्त ही छपी हैं जिनमें से ज्यादातर उनके व्याख्यानों का हूबहू टंकित रूप है और कुछ पुनर्लिखित रूप । इसलिए यदि साही की आलोचना में 'वक्तृत्व' और 'नाटकीयता' मौजूद है, तो यह कतई आश्चर्यजनक नहीं है । ध्यान देने की बात यह है कि उनके व्याख्यानों में भी एक अच्छे निबन्ध की किसी ताजगी और वैचारिक दक्षता देखी जा सकती है । हमारे समय में नामवर सिंह के बारे में प्राय: यह कहा जाता है कि वे लिखित के बजाय आलोचना की वाचिक परम्परा के आलोचक हैं और कालान्तर में नामवर सिंह ने भी वाचिक परम्परा को अपनी वास्तविक परम्परा मान लिया है । बावजूद इसके वे उस वाचिक परम्परा में नहीं अट पाते, जिसे वह स्वयं वाचिक परम्परा कहते हैं । वाचिक परम्परा का महत्व बताते हुए स्वयं नामवर सिंह ने कहा है कि "जिस समाज में साक्षरता पचास फीसदी से भी कम हो - हिन्दी समाज में - वहाँ वाचिक परम्परा के द्वारा ही महत्वपूर्ण काम किया

जा सकता है और इसीलिए मैं ने कहा कि मेरी आलोचना को, मेरे बोले हुए को - मौखिक आलोचना को - आप लोक-साहित्य मान लीजिए । 1

इस कथन पर टिप्पणी करते हुए भगवान सिंह ने सही लिखा है कि "उनके व्याख्यानों को लोक साहित्य मानने का अर्थ होगा, क्रिस्टल की सुराही को मिट्टी की ठागरी मान लेना । सच तो यह है कि यह स्वयं एक खीज में की गई टिप्पणी है न सिर्फ उनका इष्ट कथन । नामवर जी जानते हैं कि लोक साहित्य की विशेषता यह नहीं है कि यह अलिखित होता है, इसकी प्रकृति इतनी अलग होती है कि लिखित और मुद्रित होने पर लिखित रूप में भी यह लोक साहित्य ही बना रहता है । उनका अपना वक्तव्य मुद्रित होने पर लिखित हाने का असर पैदा करता है । यदि वह बोलते समय कोरे कागज के कुछ पन्ने अपने सामने रख लें और उन पर ही नजर जमाए हुए अपनी बात कहें, तो कोई संदेह करेगा ही नहीं कि वह एक लिखित निबंध पढ़ रहे हैं ।" 2

कहना न होगा कि ये सारी बातें बहुत हद तक विजयदेवनारायण साही की आलोचना पर भी लागू होती हैं । साही को अच्छी तरह मालूम था कि उनका वक्तव्य केवल उन लोगों के लिए है, जो साक्षर ही नहीं सुपठित होते हैं । तथाकथित आम जनता के लिए उनके केवल वे भाषण ही उपयोगी हो सकते हैं जो उन्होंने कभी समाजवादी पार्टी की बैठकों में दिये होंगे । ऐसे भी साही ने अपने बोले हुए को कदापि लोक साहित्य की श्रेणी में परिगणित करवाने की कोई पेशकश नहीं की । सच तो यह है कि साही, नामवर सिंह आदि आलोचक जिन विषयों पर बोलते रहे हैं, उनके लिए वाचिक परम्परा में कोई गुंजाइश नहीं रही है ।

भगवान सिंह ने लिखा है कि वाचिक परम्परा अभियान की परम्परा है, वह प्रचार की परम्परा है, मजमेबाजी के उत्कृष्ट और सौदेबाजी के निकृष्ट रूपों की परम्परा है । इसमें कुछ ही विचारों और मान्यताओं को लगातार टेक की तरह दोहराया जाता है, इसलिए इसमें नया कुछ होता ही नहीं । नया प्रेषणीयता में बाधक बनता है क्योंकि जिस स्रोता वर्ग को यह सम्बोधित होता है, उसकी शिक्षा, विचारदृष्टि और नैतिक विवेक औसतन निरक्षरों से भी नीचे होते हैं । वाचिक परम्परा अज्ञों की नहीं, अल्पज्ञों की परम्परा है और अल्पज्ञता परमज्ञता का विश्वास रखनेवालों की परम्परा है । इस दृष्टि से वाचिक परम्परा एक अनुर्वर, अधोवर्ती और भविष्यहीन परम्परा है । इसमें वक्ता की वाक्पटुता के अनुसार कुछ नवीनता भले ही दिखाई दे, विचारों के स्तर पर नया कुछ खास देखने को नहीं मिलता और उसे ही नाना व्याजों से दोहराकर स्रोताओं को निष्क्रियता और सर्वग्राह्यता की स्थिति में पहुँचाकर अर्थ सम्मोहन पैदा किया जाता है जिसमें वह निर्देशक या उपदेष्टा के अनर्गल से अनर्गल आदेशवत् संदेश को ग्रहण करके अपने को धन्य समझने की स्थिति में आ जाता है ।"3

इस दृष्टि से यदि विचार किया जाय, तो साही के व्याख्यानों व उनकी आलोचना में कुछ विचारों व मान्यताओं को कई बार दोहराने के बावजूद स्रोता या पाठक को निष्क्रियता की स्थिति में पहुँचाकर उसे सम्मोहित करने का कहीं कोई प्रयास दिखाई नहीं देता । इसके बजाय उनकी आलोचना में विचार विमर्श का कोई अंतिम छोर नहीं है । उसका अंत वस्तुतः उनकी विचारयात्रा का एक पड़ाव मात्र है, जो अन्ततः खुला हुआ है । यह भी अकारण नहीं है कि उनके कई निबन्ध अपूर्ण हैं ।

इसलिए उन्हें सतही अर्थों में वाचिक परम्परा का आलोचक नहीं कहा जा सकता । इससे उनका अवमूल्यन इसलिए भी हो जाएगा कि प्राय: वाचिक परम्परा बुद्धि और विवेक से नहीं भक्ति भाव से चलती आयी है, जबकि साही सबसे पहले इसी पर चोट करते हैं । वस्तुत: उनके सारे व्याख्यानों को विद्वत्ता की परम्परा के अंग-अवयव के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए जिसमें साक्षरता या निरक्षरता या प्रस्तुति विधान से अधिक महत्व अन्तर्वस्तु और वस्तुपरकता का होता है ।

उपर्युक्त विशेषता के बावजूद विजयदेवनारायण साही के कुछ व्याख्यानों में वागाडम्बर भी दिखाई पड़ता है । लिपिबद्ध रूप में उपलब्ध इन व्याख्यानों से गुजरते हुए आज यह प्रतीत होता है कि उनका पाठ मंच पर ही विषय, स्रोता, स्थिति और समय को देखते हुए निर्मित किया गया होगा । इसलिए इन व्याख्यानों का प्रधान गुण है आवेश, जिसके चलते स्रोता या पाठक साही के द्वारा निर्मित स्वप्नलोक में पहुँचने के लिए विवश हो जाता है । ऐसे तो चमत्कार की चर्चा हिन्दी में प्राय: रीतिकाव्य के सन्दर्भ में की जाती है किन्तु साही की आलोचना में भी पाठक को चमत्कृत कर देने की भाषिक क्षमता है । उदाहरण के लिए उनके कुछ वक्तव्य द्रष्टव्य हैं -

1. तुलसीदास तो मध्ययुग के दयानन्द सरस्वती हैं ही, विभोरावस्था को पहुँचे हुए सूरदास भी कालिदास की तरह कृष्ण-लीला को सिर्फ़ देखते ही हैं, चैतन्य की तरह आत्मविस्मृत नहीं हो जाते । सूरदास की तन्मयता जितनी गहरी होती जाती है, आँखें उतना ही साफ़ देखती हैं - और उस देखने में जयदेव या विद्यापति की तरह महकते हुए फूलों से धूम-नशीले, अल्पना और अंगराग से लहकते हुए कुंज कुटीर कम हैं, ज्यादातर

तो उलूखल, मूसल, कछौटी, हरे बाँस की बे-सँवारी वंशी, बिलकुल ही अन-ईस्थिटिक ढंग से फैलाया हुआ मक्खन ही है ।"4

2. हिन्दी की कल्पना चेरापूंजी की जल-थल करने वाली वर्षा से उद्भूत कल्पना नहीं है, उसका सौंधापन आषाढ के पहले दिन तप्त धरती पर पड़ी हुई बूँद जैसा है । जिन राष्ट्रीय परिस्थितियों ने बंगाल में शरतचन्द्र को जन्म दिया, उन्होंने हिन्दी में प्रेमचन्द को । कहने में जैसा भी विरोधाभास लगे लेकिन प्रेमचन्द की आँखें कालिदास के अधिक निकट हैं । होशोहवास की दुरुस्ती की एक सीमा है जिसके बाहर छायावादी कवि-निराला और प्रसाद भी क़दम नहीं रखना चाहते । शरत् बाबू के देवदास की तरह प्रसाद के 'कंकाल' का विजय भी, आदिम भावनाओं द्वारा ग्रस्त है, लेकिन भावना के उन तिमिराच्छन्न प्रदेशों का सफ़र नहीं करता जहाँ से बंगाल के लेखक की यात्रा शुरु होती है ।"5

इसी प्रकार गोदान के बारे में डॉ. रामविलास शर्मा की एक स्थापना का उल्लेख करने के बाद जब साही लिखते हैं कि "होरी को मरे हुए छब्बीस-सत्ताईस वर्ष हो गये और उसके बाद जो नई पीढ़ी आई है, कविता में, गद्य में, उसके सबके सब सदस्य प्रोफेसर मेहता द्वारा शिक्षित होरी के मानस पुत्र हैं, अपराजय विवशता द्वारा पराजित पिता के दार्शनिक पुत्र" 6 - तो उनकी यह उक्ति भी पाठक को चमत्कृत कर देती है । पर साही के चमत्कृत कर देने वाले कथनों में खोखलापन नहीं है । उसके बजाय वहाँ एक जबरदस्त तार्किकता और सम्प्रेषणीय अभिव्यक्ति की ताकत मौजूद है ।

डॉ. सुरेन्द्र चौधरी ने लिखा है कि "आलोचना की भाषा पत्रकारिता की भाषा हो गई है । पत्रकार आज आलोचक हो गया है । आलोचना की भाषा फिकरों, मुहावरों और आन्तरिक सूचनाओं की उत्तेजना से दूषित हो रही हैं । ...आलोचना की पूरी लडाई जैसे शब्दों की सरहदों पर लडी जा रही है ।"7 वस्तुत: आलोचना की भाषा के लिए जरूरी है कि वह अकादमिक जड़ता और चटपटी पत्रकारिता से मुक्त यथातथ्य एवं संवेदनशील भाषा हो। विजयदेवनारायण साही की आलोचना की भाषा व शैली पर विचारते हुए यह देखा जा सकता है कि उसमें जहाँ एक ओर अनावश्यक पण्डिताऊपन से बचने की कोशिश है, वहीं दूसरी ओर अतिरिक्त लोकप्रिय होने के लोभ का संवरण भी । संयोग से साही हिन्दी के बजाय अंग्रेजी के प्रोफेसर थे । इसलिए हिन्दी के आचार्यों द्वारा बहुप्रयुक्त शब्दावली से बच पाना उनके लिए संभव था । दूसरे शब्दों में कहें तो उन्होंने अपनी भाषा में पारिभाषिक शब्दावली का सायास बहिष्कार किया है । इसके साथ ही उन्होंने अपने ढ़ंग से अमूर्तन का उपयोग भी किया है । यह सही है कि अमर्तन की तह में ठोस ऐतिहासिक तथ्यों वाली भाषा भी साथ-साथ चलती है, जिनके बीच बहुत दूर तक उन्होंने सन्तुलन बनाये रखा । सच तो यह है कि "साही ने आलोचना की भाषा को परिभाषित करने का प्रयास किया कि आलोचना में अब तक कोई शब्द किस रूप में प्रयुक्त होता रहा है और वे स्वयं किस अर्थ में उस शब्द का इस्तेमाल कर रहे हैं । हालांकि हिन्दी आलोचना की भाषा आचार्य शुक्ल ने निर्मित की थी । प्रगतिवादी आलोचना ने अवश्य ही शुक्ल जी से जरा हटकर अपनी भाषा बनायी थी । इस भाषा में मुक्तिबोध ने कई नये पद जोड़े । प्रगतिशील आलोचना की अर्थव्यंजक भाषा अपने सशक्त रूप में नामवर सिंह के लेखन में मिलती

है । साही ने इस परम्परा से भिन्न भाषा का प्रयोग किया । उनके यहां इतिहास, परम्परा, काल, यथार्थ दर्शन, विचारधारा, मतवाद, बौद्धिक सघनता का अपना अलग अर्थ है । यह भाषा अज्ञेय से शुरू होकर साही के रास्ते निर्मल वर्मा तक पहुँची है । मलयज ने इस भाषा से लेखन शुरू किया था, परन्तु वे धीरे-धीरे इससे परे हटते चले गए । नामवर सिंह का इस भाषा में संवाद रहा है, अत: उनमें इस भाषा के पद यदा-कदा मिल जाते हैं । हिन्दी आलोचना में यह भाषा निश्चय ही पश्चिम से आयी है । इन पदों का अंग्रेजी अर्थ-साम्य वाले पद आसानी से मिल जाते हैं । कभी-कभी संदेह होता है कि साही ने अंग्रेजी अर्थ को सम्प्रेषित करने के लिए शब्द को प्रचलित से भिन्न अर्थ में प्रयासपूर्वक प्रयुक्त किया है । .. साही एक अध्यापक की तरह पहले अन्य लोगों द्वारा प्रयुक्त पद के अर्थ को स्पष्ट करके तब अपने अर्थ को बताते हैं । इस तरह वे अपने पाठक को भी नयी भाषा में दीक्षित करते रहने का दायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं ।"8

पाठकीय अपील किसी भी रचना या आलोचना की एक महत्वपूर्ण विशेषता है । साही की आलोचना की भाषा में जहाँ एक ओर अपार पाठकीय सौन्दर्य है, वहीं दूसरी ओर वह अपने सौष्ठव एवं संरचना की ताकत से पाठक को बार-बार अपनी ओर खींचती है । दूसरे शब्दों में कहें तो साही का गद्य पाठकीय अपील को उदाहरित करने वाला एक श्रेष्ठ गद्य है । उसमें रचनात्मक गद्य की तरह रमणीयता और लालित्य है । साही की भाषा बहुत कसी हुई, मितव्ययी और लक्ष्योन्मुख है । कुछेक अपवादों को छोड़कर उसमें शब्दों का अपव्यय आस्फालन और निरर्थकता लगभग नहीं है । वहाँ

विचलन भी नगण्य है । बालमुकुन्द गुप्त ने संक्षिप्तता, सरलता और स्वच्छता को अच्छे गद्य के लिए अपरिहार्य माना है । इस दृष्टि से साही की आलोचना में सरलता और स्वच्छता को खास तौर से रेखांकित किया जा सकता है । किन्तु स्मरणीय है कि वहाँ सरलता का मतलब सपाट बयानी नहीं है । संक्षिप्तता निश्चित तौर पर साही के स्वभाव के बहुत अनुकूल नहीं है । इसीलिए उनके आलोचनात्मक निबन्ध आकार की दृष्टि से प्राय: बहुत लम्बे होने के बावजूद अपूर्ण रह गये हैं । आलोचना की भाषा की दृष्टि से संक्षिप्तता का एक अन्य अर्थ यह भी है कि लेखन क्रम में वाक्य विन्यास न तो बहुत बड़ा हो और न ही बहुत छोटा । कुछ लोगों का तो यहाँ तक मानना है कि साँस की गति के अनुसार वाक्यों को छोटा-बड़ा होना चाहिए । अर्थात् जो बात कहने में जितनी दूर तक साँस रहे, वाक्य उतना ही लम्बा होना चाहिए । साही की आलोचना में आये बहुत सारे वाक्यों के मद्देनजर यह कहा जा सकता है कि उन्हें गद्य के सन्दर्भ में स्वीकार किये जाने वाले 'कइनेटिक सिद्धान्त' का पूरा ख्याल था । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

1. "फिर जायसी के बारे में यह दहाड़ती हुई चुप्पी क्यों है ?"9
2. "आलोचना साहित्य का दर्शनशास्त्र है और उसका एक काम यह भी है कि वह संश्लिष्ट उत्तर का विश्लेषण करके उसकी सीमा रेखा को सुस्पष्ट और तीक्ष्ण बनाये ।"10
3. "छायावाद का न सिर्फ बहिर्जगत अध्यात्मविहीन है बल्कि अन्तर्जगत भी आध्यात्मिक नहीं है ।"11

"उत्तर प्रदेश वह सूबा है जहाँ बंगाल की पुरवैया भी आती है और पश्चिम की पछुआ भी । पुरवैया तो तीन ही चार महीने चलती है, लेकिन जाड़ों में अधरों पर पपड़ियाँ छोड़ जाती हैं और गरमियों में लू चलकर झुलसा कर रख देती है । बंगाल की पुरवैया शरत्चन्द्र और रवीन्द्रनाथ को लाती है और पछुआ दयानन्द सरस्वती को और कुल मिलाकर आठ महीने पछुआ का ही राज्य रहता है - रूखा या तप से संयमित ।"12

ग़ौरतलब है कि विजयदेवनारायण साही की आलोचना में श्रेष्ठ गद्य के लिए अनिवार्य 'कइनेटिक सिद्धान्त' के तहत लिखित ऐसी अनेकानेक सूक्तियों की भरमार है । उनके कई निबन्ध तो श्रेष्ठ वक्तृता के उत्कृष्ठ उदाहरण कहे जा सकते हैं, जिनमें मंछस्त वक्ता के रूप में साही के वाक्य बोलचाल के लहजे के आधार पर निर्मित होते हैं । यह ठीक ही कहा गया है कि गद्य का सम्बन्ध हालांकि लिखित परम्परा से माना जाता है, पर वह बोलचाल के लहजे से जीवन्तता प्राप्त करता है । दूसरे शब्दों में कहें, तो जो लेखन केवल लिपि का गुलाम होकर रह जाता है, उसमें जीवन्तता सिरे से गायब हुआ करती है । वाचिक परम्परा का एक महत्वपूर्ण बुद्धिजीवी होने की वजह से साही की आलोचना की भाषा में वह जीवन्तता बहुत हद तक आदि से अन्त तक मौजूद है । ज्ञातव्य है कि आलोचनात्मक लेखन की प्रभविष्णुता के लिए गहरी संवेदनशीलता, बौद्धिक सघनता एवं कथ्य और संप्रेष्य के प्रति जितनी तल्लीनता आवश्यक है उतनी ही आवश्यक है उपयुक्त शब्दचयन का विवेक तथा वाक्य विन्यास की यतियुक्त प्रवहमानता भी । इन्हीं को समष्टिगत रूप में हम किसी लेखक द्वारा अपना पाठ रचने

की प्रक्रिया में सहायक तटस्थता की संज्ञा देते हैं । अपनी व्यक्तिगत विलक्षणता को सुरक्षित रखते हुए तल्लीन मन:स्थिति में भी तटस्थ व जागरूक रहकर ही किसी टेक्स्ट में इन विशेषताओं का समावेश किया जा सकता है । साही के आलोचनात्मक लेखन में ऊपर कथित पाठगत सौष्ठव का सहज समावेश लक्षित किया जा सकता है । इसी वजह से उनके आलोचनात्मक निबन्ध एक हद तक अपने पाठक से वाचन की कला की मांग करते हैं । तात्पर्य यह कि जो पाठक हिन्दी गद्य की जातीय प्रकृति से परिचित नहीं है, हिन्दी और उर्दू की गंगा-जमनी तहजीब से नावाकिफ़ है उसके लिए साही के वाक्य विन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' साबित होंगे । लेखन के क्षेत्र में हिन्दी और उर्दू को क़रीब लाने की जरूरत महसूस करते हुए एक स्थान पर साही ने लिखा है कि "हिन्दी या उर्दू के लेखक अंग्रेजी और यूरोपीय भाषाओं की कृतियां पढ़ते हैं और हिन्दुस्तान की अन्य भाषाओं में भी, परन्तु किसी ऐसे लेखक या आलोचक से भेंट होना जो साहित्य के रूप में हिन्दी-उर्दू दोनों से परिचित हो, बहुत ही असामान्य घटना है । ... उभयनिष्ठ भूमि यह है कि अन्तिम विश्लेषण में हिन्दी-उर्दू एक ही भाषा है । उभय पक्ष के सबसे एकांतिक और अपवर्जक नेता भी मानते हैं, हालांकि भिन्न प्रस्थान-बिन्दुओं से वहां पहुंचते हैं, पर कोई आश्चर्य नहीं है कि किसी ने भी इस परिस्थिति का सामना करने का प्रयास नहीं किया कि इस प्रतिज्ञप्ति के अगले चरण में जाएं । अत: उनके साहित्य के दो अलग-अलग इतिहास नहीं हो सकते । एकीकृत साहित्य का इतिहास, जिसमें दोनों साहित्यों की विभूतियों को सम्मिलित किया गया हो, यही दोनों की बेमतलब कलह का सबसे मुंहतोड़ जवाब है ।"13 साही का कहना है कि निस्संदेह हिन्दी और उर्दू में कुछ फर्क भी है पर इनमें वैसा फर्क नहीं है जैसा कि हिन्दी और गुजराती या बंगाली में है ।

"उनमें बहुत कम भेद है और यह भिन्नता मुख्यत: शब्दयोजना और एक गलत पारम्परिकता के भाव तक सीमित है । एक बार जब हम परिणाम तक पहुँच जाते हैं, तो फिर यह बात कि कौन दूसरे की केवल एक शैली, एक बानगी मात्र है, हमारी बहस में निरर्थक हो जाता है । यह स्पष्ट हो जाता है कि पूरी साहित्यिक परम्परा के और शब्दचयन के सौंदर्यबोधी तर्क के सही परिप्रेक्ष्य में देखने पर हिन्दी-उर्दू का एकीकरण केवल वांछनीय ही नहीं, अवश्यम्भावी भी हो जाता है ।"14

वस्तुत: विजयदेवनारायण साही हिन्दी और उर्दू के बीच कोई द्विभाजकता पसन्द नहीं करते थे । इसलिए उनके लेखन में यथास्थान हिन्दी और उर्दू का संगम अपनी पूरी व्यंजकता के साथ मौजूद है । उनके लेखन में हिन्दी-उर्दू के साथ-साथ अंग्रेजी का भी स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है । एक स्थान पर उन्होंने खुद स्वीकार किया है कि "हिन्दी के विशेष सन्दर्भ में, हमारे देश में प्रचलित अंग्रेजी भाषा के दबाव के कारण हिन्दी का मुहावरा बदला है, बदलता है । शब्दावली, वाक्य विन्यास आदि में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अनुवाद झलकता है । इस पर कभी-कभी गरमागरम बहसें और छींटाकशी भी हो जाती है । शुद्ध भाषा के स्तर पर यह उत्तेजना उसी स्तर की होती है जैसी एक बार भाषा की 'अनस्थिरता' को लेकर हुई थी । खतरा यह है कि सारी बहस इतने तक में सीमित रह जाय कि अनुवाद या छायानुवाद खपा या नहीं खपा ।"15

बावजूद इसके साही की आलोचना की भाषा के सन्दर्भ में अंग्रेजी कभी बोझ के रूप में उसको दबाती दिखाई नहीं देती । स्पष्ट ही बोझ और प्रभाव में फर्क होता है । साही की आलोचना विषयवस्तु एवं अभिव्यक्ति पद्धति, दोनों ही स्तरों पर अंग्रेजी से

बोझिल होने के बजाय प्रभावित दिखाई देता है । अंग्रेजी शब्दों का जितना सटीक प्रयोग साही ने किया है, वह हिन्दी के आलोचनात्मक लेखन में अन्यत्र बहुत कम दिखाई देता है । उनके यहां विवेच्य सन्दर्भ और उर्दू या अंग्रेजी शब्दों के बीच का रिश्ता कभी एकतरफा नहीं होता । सच तो यह है कि सटीक रूप में प्रयुक्त विदेशज शब्द और उनसे निर्मित वाक्य भी कई बार सन्दर्भ का निर्माण करते हैं । एक स्थान पर साही ने लेखन में छविमयता को उत्पन्न करने के लिए शब्द चयन के स्तर पर भाषागत वैविध्य को जरूरी मानते हुए लिखा है : "बराबर एकताा भाषा का प्रयोग करके भी कल्पनात्मक दूरी का निर्माण किया जा सकता है । लेकिन, तब उसमें छविमयता नहीं होगी, अधिक गहरी अर्थवत्ता होगी । तब यह काम ज्यादा कठिन होगा और ज्यादा आन्तरिक भी होगा । छविमयता को उत्पन्न करने के लिए भाषा में तहें या सिलवटें डाली जाती हैं । लगभग उसी तरह जैसे एक ज़माने में शब्दालंकारों के द्वारा भावों को कुछ अधिक भड़कीला, अधिक लक़-दक़ बनाने की कोशिश की जाती थी । छविमयता का काम ग्राम्य-क़स्बाई-पहाड़ी आंचलिकता से भी लिया जा सकता है और अंग्रेजी शब्दावली वाली महानगरीय आंचलिकता से भी । कहाँ तक यह शब्दावली इसमें सफल होती है, यही उसकी कसौटी है । बेशक यहाँ ग्राम्य शब्द इसमें सफल नहीं होते, वहाँ वे स्तर ये गिरने पर भदेस या अत्यधिक सँवारे जाने पर 'बहुमूल्य' लगने लगते हैं, वैसे ही छविमयता में अशक्त अंग्रेजी शब्द गिरने पर बाज़ारू और उठने पर पांडित्य प्रदर्शक लगने लगते हैं ।" 16

ग़ौरतलब है कि साही की आलोचना में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग नगण्य है । किन्तु जहाँ कहीं भी उनका प्रयोग किया गया है वहाँ वे सन्दर्भ की मांग के तहत प्रयुक्त हुए हैं । इसलिए उनका हिन्दी पर्याय या अनुवाद रख देने से बात नहीं बन सकती । लेखन में अनावश्यक रुप में अंग्रेजी शब्दों या अभिव्यक्तिाों के इस्तेमाल को वे अनुचित मानते हैं । एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि "अमीर ख़ुसरो के कमण्डल से निकली हुई जिस हिन्दी को छायावाद की शांकरी जटाओं से मुक्त करने का भगीरथ प्रयत्न पिछले बीस वर्षों के कथा-साहित्य, नाटक, काव्य की 'अधुनिक' मनोभूमि ने किया है, वह अंग्रेजी की जह्नु-जंघाओं में फँस कर रह जाए, इससे बड़ा गतिरोध और क्या होगा ?"17

हमारे समय में लिखी जा रही हिन्दी आलोचना का एक बहुत बड़ा हिस्सा यदि संप्रेषणीय नहीं है, तो इसक सबसे बड़ी वजह है उसकी भाषा पर अत्यधिक बाहरी प्रभाव और दबाव । दूसरे शब्दों में कहें, तो हिन्दी के जातीय मिजाज से नितान्त भिन्न एक कृत्रिम भाषा में लिखित आलोचना किसी के पाण्डित्य प्रदर्शन का नमूना भले ही हो, वह पाठक के भीतर साहित्य के प्रति कोई रुचि पैदा नहीं कर सकती । अपने जमाने में लिखित ऐसे ही आलोचनात्मक निबन्धों की भाषा पर आपत्ति करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था, "अपनी भाषा की प्रकृति की पहचान न रहने के कारण कुछ लोग उसका स्वरुप ही बिगाड़ चले हैं । वे अंग्रेजी के शब्द, वाक्य और मुहावरे तक ज्यों के त्यों उठाकर रख देते हैं । यह नहीं देखने जाते कि भाषा हिन्दी हुई या और कुछ ।"18 सौभाग्य से कुछेक अपवादों को छोड़कर साही की आलोचना की

भाषा हिन्दी की जातीय प्रकृति के अनुकूल है । उनके यहाँ उर्दू और अंग्रेजी के अलावा भाषा के तत्सम और तद्भव रूपों के बीच भी बहुत हद तक सन्तुलन दिखाई देता है । इसी वजह से वहाँ संप्रेषणीयता को लेकर कोई खास कठिनाई नहीं है । डॉ. नामवर सिंह ने ठीक लिखा है कि "सम्प्रेषणीयता की कठिनाई केवल भाषा या साहित्यिक माध्यम की कठिनाई नहीं है, बल्कि किसी गहरे सांस्कृतिक संकट का लक्षण है ।"19 इसलिए किसी भी रचनाकार या आलोचक के सामने सबसे बड़ी चुनौती अपने समय की वास्तविकता के अनुरुप ही यतातथ्य, कठोर चुस्त, संवेदनशील, सजीव भाषा का निर्माण है ।

यह ठीक ही कहा गया है कि हमारे जमाने में "साहित्य का अध्ययन करने वाले मर्मज्ञ समीक्षक और भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले विद्वान् भाषा-वैज्ञानिक, एक दूसरे के दायित्व-क्षेत्र से बहुत दूर जा छिटके हैं । साहित्यिक आलोचक और भाषा-वैज्ञानिक के बीच संवाद की कोई स्थिति ही नहीं दिखलाई पड़ती । हिंदी भाषा और साहित्य के संदर्भ में तो इनके बीच इतनी गहरी खाई आ चुकी है कि अगर कोई साहित्य का क्षेत्र अपना लेता है, तो भाषा विज्ञान का सामान्य ज्ञान भी उसे अनावश्यक बोझ प्रतीत होता है और अगर कोई अपने कार्य-क्षेत्र के रूप में भाषा-विज्ञ ाान को स्वीकार कर बैठता है, तो बोलचाल की भाषा से असंबद्ध होने के कारण साहित्य की अपनी सीमा में अपनाने से ही इनकार कर बैठता है । हिन्दी के एक ओर साहित्य के ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने साहित्य-सिद्धांत पर बहुत कुछ लिखा है पर अपनी आलोचना एवं विवेचना में भाषा-वैज्ञानिक उपलब्धियों का कुछ भी न तो

उपयोग किया और न उसके आधार पर आलोचना को रूप-प्रकृति को समझने-समझाने का तो प्रयत्न किया, पर उस ज्ञान का उपयोग साहित्यिक रचनाओं के अध्ययन-विश्लेषण के निमित्त नहीं किया । एक ही 'अनुशासन' के भीतर से 'दो संस्कृतियों' के बीच की बढ़ती खाई की समस्या का प्रश्न अगर विचारणीय है तब भाषा और साहित्य के अध्ययन-क्षेत्र के दुराव का प्रश्न आज सबसे अधिक हमारा ध्यान आकर्षित करता है ।"20 विजयदेवनारायण साही की आलोचना उनके किसी भाषा वैज्ञानिक अधिगम का परिचय भले न देती हो पर समाज और साहित्य में भाषा के विकास-प्रक्रिया के इतिहास से वे पूरी तरह परिचित हैं । दूसरे शब्दों में कहें, तो समाज और साहित्य के साथ-साथ वे भाषिक प्रयोगों के सन्दर्भ में भी इतिहास-बोध से लैस हैं । उनके मुहावरे अपने हैं और निर्णय भी । किन्तु साही की आलोचना की भाषा हमेशा समकालीन तनाव से प्रतिकृत हो रहे ऐसे आदमी की भाषा है जो साहित्य के प्रति सहज भाव से खुला है और जिसकी सच्ची जिज्ञासा अपने समय के आम आदमी की हालत समझने की है । स्पष्ट ही जब कोई आलोचक अपने समय की विसंगतियों से दो-चार होने का जोखम उठाना छोड़ देता है, तो उसकी आलोचना इकहरी हो जाती है और यह इकहरापन सर्वप्रथम भाषा के स्तर पर झलकता है । परिणामत: ज्यादातर आत्म-मुग्ध और तनावहीन भाषा में एक ऐसी आलोचना लिखी जाती है जो प्रकट रूप में भले ही सूक्ष्म प्रतीत हो लेकिन वास्तविक रूप में वह प्राय: सपाट हुआ करती है । इसके ठीक विपरीत जब कुछ आलोचक अपनी अनैतिहासिक दृष्टि के तहत भ्रमित होकर जरूरत से ज्यादा आक्रामक तेवर अपना लेते हैं, तो वहाँ भी आलोचना की भाषा की वाचकता को गहरा आघात लगता है और सबसे पहले आलोचना क्रम में बार-बार प्रयुक्त पदों की

प्रामाणिकता को लेकर बेतर्तीबी (distortion) की स्थिति पैदा हो जाती है । एक जमाने में हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में व्याप्त इस अराजकता की ओर इशारा करते हुए अशोक वाजपेयी ने लिखा था कि "इसे अजीब ही कहा जायेगा कि आलोचना की भाषा प्रमाणित नहीं है । पदों के अभिप्राय स्थिर करने की कोशिश बहुत कम हुई है । नये साहित्य के साथ बहुत सारी नयी शब्दावली आयी है और प्रचलित शब्दों में नयी अर्थ-छवियाँ आयी हैं । अनुभूति शिल्प, फार्म, रूप, बिम्ब, प्रतीक, मूल्य, मूल्यबोध, परिवेश, जटिलता, दुरुहता, संवेदना, सन्दर्भ, परिप्रेक्ष्य, मानवीय साक्षात्कार, सार्थकता आदि बीसियों शब्द हैं जो आज की आलोचना-भाषा में बहुतायात से इस्तेमाल होते हैं । पर उनका अर्थ निश्चित नहीं है । वे पारिभाषिक होने का आभास देते हुए वास्तविक उपयोग में बहुतों के यहाँ प्रमाणित नहीं हैं । मज़े की बात यह है कि ऐसे कुछ शब्दों का इस्तेमाल एक नयी रुढ़ि बन गया है : लेखकों के वक्तव्य हों, पुस्तक-समीक्षा हो, कविता हो या कहानी, इन रूढ़ियों से छुटकारा नहीं है । छुटकारा पाना भी जरूरी नहीं, क्योंकि ये उपयोगी चिन्तन रुढ़ियाँ है, जिनमें रचनाओं में जो घटता है उसका और उस समूची मानव-स्थिति का जो रचनाओं को घेरती है, उत्कटता से बखान करने की क्षमता है । लेकिन इसके लिए जरुरी है कि इन रुढ़ियों को व्यवस्थित और परिभाषित किया जाये । तभी आलोचना सच्चा और दिलचस्प और उत्कट वार्तालाप हो सकती है जो साहित्य और उसके माध्यम से आदमी की हालत की हमारी समझ को आगे बढ़ा और गहरा कर सकती है । तभी वह साक्षात्कार हो सकती है, वास्तविक रचनाओं से, सच्चे प्रासंगिक और सही सवालों से ।"21 कहना न होगा विजयदेवनारायण साही ने भी हिन्दी आलोचना को नई शब्दावली के साथ-साथ नये

प्रत्यय भी दिये हैं जैसे 'संगीतात्मक सम्प्रेषण', 'पारदर्शी निर्वैयक्तिकता', 'प्रबन्धगत स्वरुप निरूपण' और 'प्रतिध्वनियाँ', 'अलोक' तथा 'इतिहास लोक', 'अनुभूति पुंज' आदि । स्मरणीय है कि साहित्यालोचन में प्रयुक्त इस प्रकार के मूल्यबोधक शब्द स्वभावत: बहुत कुछ अस्पष्ट एवं अनिश्चित अर्थ वाले होते हैं और विज्ञान अथवा तर्कशास्त्र के समान इन साहित्यिक शब्दों को निश्चित अर्थ के साथ बान्ध देना सर्वदा संभव नहीं है । अस्पष्टता निश्चय ही एक दोष है, पर बुनियादी सवाल लक्ष्य का है । क्योंकि कई बार कुछ लोग जान बूझकर कुछ मूल्यबोधक शब्दों को दूसरे लोगों के लिए अस्पष्ट ही रहने देना चाहते हैं । डॉ. नामवर सिंह ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि "स्पष्ट लक्ष्यवाला विचारक अस्पष्ट से अस्पष्ट अवधारणा को भी विचार और विश्लेषण के क्रम में अभीष्ट निश्चितता प्रदान कर देता है । उदाहरण के लिए 'ईमानदारी' शब्द । ईमानदारी भी 'प्रामाणिकता' से कम अस्पष्ट नहीं है और नई कविता की चर्चा में इसका खूब उपयोग किया गया, यहाँ तक कि प्रयोगकर्ताओं ने किसी के मन में इसकी वस्तुनिष्ठ युक्तता के निर्णय का प्रश्न भी नहीं उठने दिया । संभव है उनके लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह पर्याप्त निश्चित और स्पष्ट रहा हो ।"22

साही की आलोचना में भाषा के स्तर पर एक प्रकार की निजता विद्यमान है । इसके चलते वे कई बार दूसरे आलोचकों से अपनी अलग एवं विशिष्ट दृष्टि के कारण ही नहीं, बल्कि भाषिक संरचना की दृष्टि से भी भिन्न प्रतीत होते हैं । यह निजता वहाँ सबसे ज्यादा दिखाई देती है जब वे किसी नई रचना या नये लेखक की कृतियों की व्याख्या करने के लिए आगे आते हैं । ऐसी स्थिति में उनकी आलोचना-भाषा का एक

हद तक अत्यधिक व्यक्तिगत हो उठना असंगत नहीं कहा जा सकता । इस प्रसंग में नामवर सिंह ने ठीक लिखा है कि "शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' का विश्लेषण करते हुए श्री विजयदेवनारायण साही ने इसी प्रकार की व्यक्तिगत भाषा का उपयोग करने की विवशता अनुभव की है, जो प्रथम परिचय में अबूझ प्रतीत होती हुई भी अंततः कवि की रचना के प्रति एक अंतर्दृष्टि प्रदान कर जाती है और इस प्रकार उसके अनेक अलक्षित पक्षों को नए आलोक में रख देती है । स्पष्ट ही आलोचना की यह व्यक्तिगत शब्दावली सार्वजनिक भाषा की पारिभाषिक पदावली का अंग नहीं बन सकती और कदाचित उसका उद्देश्य भी यह नहीं है ।"23

जाहिर है कि आलोचना की भाषा हरदम सामान्य भाषा नहीं हो सकती । उसमें प्राय: व्यंजक काव्य भाषा का इस्तेमाल करना एक तरह की बाध्यता है । बावजूद इसके स्मरणीय है कि साहित्यालोचन में प्राय: भावात्मक भाषा के चलते तथ्य और सत्य से दूर हो जाने का खतरा हमेशा बना रहता है । यही बात पारिभाषिक शब्दावली के उपयोग और आलोचना में सूक्तियों की रचना को लेकर भी लागू होती है । आलोचना की भाषा में पारिभाषिकता की अपेक्षा अनुभव के खुलेपन पर बल देते हुए डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है कि आलोचक अपनी बात को जितनी दूर तक पारिभाषिक शब्दावली नहीं बनने देगा, उतनी ही दूर तक वह आलोचना कर्म में सफल होगा, क्योंकि रचनाकार के साथ-साथ उसका भी धर्म है कि वह अनुभव को जड़ न होने दे ।24 जहाँ तक आलोचना में अलंकृत भाषा के इस्तेमाल का सवाल है, मूल मुद्दा पुन: लक्ष्य पर केन्द्रित हो जाता है । उदाहरण के लिए आलोचना कर्म के बारे में

विजयदेवनारायण साही का एक कथन द्रष्टव्य है : "यन्त्र जगत् की एक स्थूल उपमा के द्वारा हम यों कह सकते हैं कि रेडियो की सुई को उचित लहस्मान पर लगा-भर देना आलोचना का काम है, बाकी ट्रान्समीटर से आता हुआ गायन तो रेडियो सेट स्वयं पकड़ेगा ।"25 साही के इस कथन की भाषा पर टिप्पणी करते हुए नामवर सिंह लिखते हैं कि "यह उपमा देने से पहले ही उसे 'स्थूल' कहना नये आलोचक की आत्म-सजगता का सूचक है, जो पहले विरल थी ।"26

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि विजयदेवनारायण साही ने आलोचना में सर्जनात्मक भाषा के आयामों को खोलने और निरन्तर उसे संवाद के योग्य बनाये रखने की भरपूर कोशिश की है । तमाम देशी-विदेशी विद्धानों को पढ़ने-पढ़ाने और उनके समीक्षा सिद्धान्तों को आत्मसात करने के बावजूद साही की भाषा सर्वथा अनाक्रान्त भाषा है जो न तो दूसरों से आक्रान्त है और न ही दूसरों को आक्रान्त करती है । उनकी आलोचना की भाषा संवेदन क्षम और जीवंत है । वह मात्र व्याख्या अथवा मूल्यांकन तक सीमित न रहकर पाठक के संवेदनों के तार को छेड़ती हुई उसे गहराई और समृद्धि प्रदान करती है । भाषा के स्तर पर भी आलोचना के उच्च साहित्यिक और विश्वस्तरीय स्वरूप के लिए प्रतिबद्ध होने के बावजूद विजयदेवनारायण साही ने उसे हिन्दी के आम पाठक से जुड़ा रखने का पूरा प्रयास किया है, जो वस्तुतः उनके जनतान्त्रिक स्वभाव का प्रतिफलन है ।

सन्दर्भ-सूची

1. वसुधा 54, पृ. 117 पर उद्धृत ।
2. वसुधा 54, पृ. 177.
3. वसुधा 54, पृ. 178.
4. छठवाँ दशक, पृ. 272.
5. -वही- पृ. 272.
6. वाद विवाद संवाद, पृ. 20 पर उद्धृत ।
7. डॉ. रामबक्ष, समकालीन हिन्दी आलोचक और आलोचना, पृ. 214.
8. जायसी, पृ. 25.
9. छठवाँ दशक, पृ. 263.
10. छठवाँ दशक, पृ. 266.
11. छठवाँ दशक, पृ. 271.
12. वर्धमान और पतनशील, पृ. 133.
13. -वही- पृ. 133.
14. -वही- पृ. 17.
15. छठवाँ दशक, पृ. 226.
16. छठवाँ दशक, पृ. 236.
17. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.
18. कहानी नई कहानी, पृ. 34.

19. परमानन्द श्रीवास्तव, शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका, पृ. 98.

20. फिलहाल, पृ. 192.

21. फिलहाल, पृ. 192.

22. वाद विवाद संवाद, पृ. 25.

23. वाद विवाद संवाद, पृ. 26.

24. वाद विवाद संवाद, पृ. 27.

25. छठवाँ दशक, पृ. 260.

26. वाद विवाद संवाद, पृ. 27.

उपसंहार

मुक्तिबोध ने लिखा है : "साहित्य-समीक्षा के मूल बीज वास्तविक जीवन में तजुर्बे के बतौर उपलब्ध होनेवाले ज्ञान-संवेदन और संवेदन-ज्ञान में ही हैं । इस ज्ञान संवेदन और संवेदन-ज्ञान के परे जानेवाली 'समीक्षा' में न 'ईक्षा' यानी देखना या दृष्टि है, न सम्यकृता । जब-जब समीक्षा इस मूलाधार को छोड़कर, विचारों की बारीकी और लक्ष्यों की ऊँचाई प्रदर्शित करने के गोपनीय या प्रकट उद्देश्य से, इधर-उधर भटकी है, उसने लेखकों और पाठकों को सच्ची सहायता देना छोड़ दिया है । ... जब तक समीक्षक उस जीवन को नहीं जानता जिसके प्रतिबिंबों के विभिन्न 'पैटर्न्स' में गुँथी हुई रचना की वह आलोचना करने बैठा है तब तक वह समुद्र-दर्शन के नाम पर लहरें गिनता हुआ बैठा है ।" जाहिर है कि आलोचना की सार्थकता, रचना और उस रचना में व्यक्त जीवन के विश्लेषण का सही परिप्रेक्ष्य उजागर करने में ही है । आलोचना और रचना के सम्बन्ध को लेकर काफ़ी मतभेद है । कई विचारक आलोचना को रचना से स्वतंत्र एक स्वत: संपूर्ण विधा मानते हैं । पश्चिम के प्रमुख विचारक रेने वेलेक ने इस सन्दर्भ में लिखा है : There still remains the problem of the relation between criticism and art. A feeling of art will enter into criticism : many critical forms require artistic skills of composition and style; imagination has its share in all knowledge and science. Still I do not believe that the critic is an artist or the criticism is an art (in the strict modern sense). It's aim is intellectual cognition. It does not create a fictional imaginative world such as the world of music or poetry. Criticism is conceptual knowledge, or aims at such knowledge. It must ultimately aim at

systematic knowledge about literature, at literary theory." उन्होंने नार्थ थरोप फराई की पुस्तक Anatomy of Criticism का हवाला देते हुए उनके इस सिद्धान्त का समर्थन किया है कि 'आलोचना चिन्तन और ज्ञान की एक संरचना है जिसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है ।' वे स्पष्ट शब्दों में इस धारणा को नकारते हैं कि आलोचना साहित्य पर आधारित है । यह सच है कि आलोचना का एक स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, वह ज्ञान और चिन्तन पर आधारित है और रचना की अपेक्षा उसमें अधिक बौद्धिक प्रखरता की अपेक्षा होती है । किन्तु, यह कहना कि आलोचना मात्र बौद्धिक कर्म है, युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता । आलोचना को भी उन तनावपूर्ण चुनौतियों का सामना करना पड़ता है जिनका सामना रचना करती है । किसी रचना के मूल्यांकन के क्रम में चिंतन और ज्ञान के साथ-साथ आलोचक की संवेदना भी उतनी ही महत्वपूर्ण है । मुक्तिबोध की शब्दावली में इसे 'ज्ञान-संवेदन' या 'संवेदन-ज्ञान' कहा जा सकता है । आलोचनात्मक लेखन रचनाकार और पाठक के लिए उपयोगी होगा और वह ज्ञान की एक विशिष्ट शाखा भी है । इस रूप में उसकी स्वतन्त्र सत्ता है । लेकिन इसके मूल में प्रायः रचना ही होती है, जिसके जरिये आलोचना की सत्ता की स्थापना होती है । जिस प्रकार रचना जीवन से जुड़ी होती है उसी प्रकार आलोचना भी जीवन से जुड़ी होती है और प्रकारान्तर से उस जीवन से भी जुड़ जाती है जो रचना में व्यक्त होता है । लेकिन यहाँ रचनाकार के जीवनानुभव और जनानुभव के साथ आलोचक के जीवनानुभव और जनानुभव भी जुड़ जाते हैं जो उस आलोचनात्मक कृति को स्वतन्त्र सत्ता प्रदान करते हैं । सच तो यह है कि आलोचना रचना के माध्यम से रचना के परे चली जाती है । रचना का विश्लेषण

करते-करते वह उस परिप्रेक्ष्य का भी विश्लेषण करती चलती है, जिसमें उस रचना का निर्माण होता है । रचना की समझ के साथ-साथ सामाजिक यथार्थ और वस्तुस्थिति की समझ भी आलोचक के लिए अनिवार्य होती है । स्पष्ट ही इसके अभाव में श्रेष्ठ आलोचना नहीं लिखी जा सकती । वास्तव में साहित्य के रचनात्मक और सामाजिक दोनों पक्षों में आलोचक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । लेकिन इस भूमिका के निर्वाह में आलोचक के पूर्वग्रह, उसकी राजनीतिक पक्षधरता, सिद्धान्त, व्यक्तिगत विचार आदि भी काम करते हैं । इससे मुक्त होकर जब आलोचक व्यापक धरातल पर रचना की व्याख्या करता है तब वह उत्कृष्ट आलोचना-कृति की रचना करता है । परन्तु यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि कोई भी आलोचना (अशोक वाजपेयी से शब्द उधार लेकर कहें तो) पूर्वग्रह विहीन नहीं हो सकती । जिस प्रकार रचनाकार के पूर्वग्रह उसकी रचनात्मक मनोभूमि का निर्माण करते हैं उसी प्रकार आलोचक के पूर्वग्रह भी उसकी आलोचनात्मक मनोभूमि का निर्माण करते हैं । इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण यह होता है कि आलोचक उन पूर्वग्रहों के साथ कहाँ तक संतुलित ढंग से रचना को देख पाता है । कहना न होगा कि प्रायः हर रचना किसी न किसी विचारधारा से परिचालित होती है या उसका समर्थन करती है । कोई रचना तभी श्रेष्ठ या स्वीकार्य होगी जब वह विचारधारा के आत्यंतिक आग्रह से परिचालित न हो । उसी आलोचना में विचारधारा जहाँ तक आलोचनात्मक समझ विकसित करने में सहायक होती है वहीं तक वह काम्य हो सकती है । जब आलोचक के पूर्वग्रह उसकी विचारधारा के आत्यंतिक आग्रह के तहत उसकी आलोचना का दिशा-निर्देश करने लगते हैं तब उसकी आलोचना में मूल्यों का विघटन आरंभ होता है । इसलिए आलोचक के लिए

जरूरी है कि वह अपने सामाजिक दायित्व को ध्यान में रखकर रचना या उसके परिप्रेक्ष्य का उसकी ऐतिहासिकता के मद्देनजर विश्लेषण करे । प्रसंगात् मार्क्स ने लिखा है कि दुराग्रह से मुक्ति सच्ची आलोचना की पहली शर्त है ।

यह ध्यातव्य है कि कोई भी श्रेष्ठ आलोचक किसी रचनाविशेष की आलोचना तक ही सीमित नहीं रहता । वह साहित्यालोचक के साथ-साथ सभ्यतालोचक भी होता है । वह किसी कृति या कृतियों के माध्यम से अपने समय संस्कृति और इतिहास की विवेचना करता है । कई बार इस विवेचना के केन्द्र में केवल कृति का होना आवश्यक नहीं होता । जब एक साहित्यालोचक किसी साहित्यिक कृति पर विचार करता है, तो प्रकारान्तर से उस कृति के पूरे परिप्रेक्ष्य पर विचार कर रहा होता है । उसी प्रकार जब वह समाज संस्कृति राजनीति आदि से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर बात करता है, तो साहित्य से उसकी अपेक्षा अभिव्यक्त होती है ।

विजयदेवनारायण साही ऐसे आलोचक हैं जो साहित्य के माध्यम से समाज, इतिहास, संस्कृति आदि पर विचार करते हैं और सामाजिक सांस्कृतिक मुद्दों पर बात करते हुए साहित्यिक मूल्यों का प्रतिपादन करते हैं । उनकी आलोचना में साहित्यालोचन और सभ्यतालोचन को पृथक करके देखना कठिन है । जब वे धर्मनिरपेक्षता, समसामयिकता, इतिहास, परम्परा आदि को लेकर बहस करते हैं, तो केन्द्र में कहीं न कहीं हिन्दी साहित्य ही होता है । वैसे ही जब वे 'शमशेर' की काव्यानुभूति या 'नयी कविता' पर विचार करते हैं, तो उसके पीछे वही एंतिहासिकता परम्परा, राजनीति आदि को लेकर उनकी मान्यताएँ पृष्ठभूमि में होती हैं ।

साही के चिन्तन का केन्द्र 'सहज मनुष्य' है । वे 'मनुष्य' 'और सहज मनुष्य' को पर्यायवाची मानते हैं । उनके अनुसार मनुष्य की हर परिभाषा सहज मनुष्य की परिभाषा होती है । 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस', 'नितान्त समसामयिकता का नैतिक दायित्व', जैसे निबन्धों के साथ ही 'पद्मावत' के विश्लेषण में भी वे इसी सहज मनुष्य को परिभाषित करने का प्रयत्न करते हैं । कहना न होगा कि इतिहास, परम्परा समसामयिकता, नैतिकता आदि अवधारणाएँ मनुष्य केन्द्रित हैं । इसलिए इनकी चर्चा करना मनुष्य की चर्चा करना ही है । साही का इतिहास-बोध मानवीयता से ही परिचालित है । कई आलोचकों ने उन पर इतिहास विरोधी होने का आरोप इस वक्तव्य के आधार पर लगाया कि 'अतीत और भविष्य की वेदी पर वर्तमान की दी जानेवाली बलि से साहित्य और राजनीति को बचाना चाहिए ।' लेकिन ध्यातव्य है कि साही ने इतिहास का विरोध करने के बजाय उसको एक प्रवाहमान धारा के रूप में देखने का आग्रह किया । इतिहास को उसी प्रकार वर्तमान से अलग करके नहीं देखा जा सकता जिस प्रकार वर्तमान को अतीत से पृथक नहीं किया जा सकता । परन्तु साही इतिहास और परम्परा को महिमामंडित करने के पक्ष में नहीं है । वे परम्परा और परम्परावाद को अलग मानते हुए परम्परावाद का खण्डन करते हैं, जिसमें परिवर्तन की गति समाप्त हो जाती है । 'परम्परा को वे इतिहास बरता जानेवाला अवशेष मानते हैं', जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होता है और उसमें गतिशील तत्व भी विद्यमान रहते हैं । जब कोई युग विशेष इन गतिशील उदीयमान तत्वों को छोड़कर परम्परा के क्षयिष्णु तत्वों को ही परम्परा मान लेता है, तो विकास

की गति रुक जाती है । साही की यह दृष्टि अधिक व्यावहारिक है । वे 'परम्परा' और 'रूढ़ि' में भेद करके 'रूढ़ि-विरोध' को सामाजिक पुनर्जागरण के लिए जरूरी मानते हैं । स्पष्ट ही साही की इतिहास-चेतना के निर्माण में उनके लोकतान्त्रिक समाजवादी विवेक की महत्वपूर्ण भूमिका है । अतीत और परम्परा के बोझ से वे वर्तमान को मुक्त करना चाहते हैं । कृषि और उद्योग के क्षेत्रों में जहाँ वैज्ञानिक विकास की आवश्यकता अधिक है, वहाँ परम्परागत औजारों, पद्धतियों का उपयोग करना वे परम्परा का निर्वाह नहीं, हमारी असमर्थता मानते हैं ।

साही की इतिहास विषयक दृष्टि लोहियावादी समाजवाद से प्रभावित है । वे इतिहास को सामयिक गति मानते हैं । समसामयिकता पर बल देते हुए उन्होंने कहा है कि वह जीवन को किसी पूर्वग्रह के बिना समग्रता, तात्कालिकता में ग्रहण करती है । मार्क्स-एंगेल्स के इतिहास-विषयक विचारों का विरोध वे इस आधार पर करते हैं कि वहाँ सामाजिक परिवर्तन के नियमों को विकास का एकमात्र माध्यम घोषित किया गया है । फिर भी वे स्वीकार करते हैं कि मार्क्सवादी प्रणाली मानव विवेकी प्रणाली है । उनकी आपत्ति कम्युनिस्ट पार्टी को 'इतिहास का अस्त्र' बनाने को लेकर है । वे मार्क्सवादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थन तो करते हैं लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी की राजनीति का विरोध करते हैं । यहीं पर साही के इतिहास-बोध का वह तटस्थ पक्ष सामने आता है जो उनके आलोचनात्मक विवेक का महत्वपूर्ण अंग है । साहित्य-विवेचन में भी साही ऐतिहासिक चेतना को महत्वपूर्ण मानते हैं । किसी साहित्यिक कृति के पुनर्मूल्यांकन के क्रम में विचारकगण प्राय: उस कृति को प्रासंगिक बनाने के

लिए केवल अपने समय से जोड़ते हैं और पहले की मान्यताओं में फेरबदल करते हैं । ऐसे पुनर्मूल्यांकन का साही विरोध करते हैं । साथ ही इतिहास की सतत क्रमबद्धता में पुनर्मूल्यांकन के भी वे विरोधी हैं । वे मानते हैं कि कालान्तर ही इतिहास नहीं है और उसी के आधार पर पुनर्मूल्यांकन नहीं किया जा सकता । खुद साही की व्यावहारिक समीक्षा में भी उनका इतिहासविवेक स्पष्ट होता है । इस दृष्टि से 'जायसी' उनकी इतिहास-चेतना का श्रेष्ठ उदाहरण है । मलिक मुहम्मद जायसी और 'पद्मावत' को इतिहास प्रवाह में गुमनामी से उठाकर प्रतिष्ठित करने का जो महत्वपूर्ण कार्य शुक्ल जी ने किया था, उसको विजयदेवनारायण साही ने न केवल आगे बढ़ाया, बल्कि उसको एक नयी दिशा भी दी है । साही को इतिहास का पूरा बोध है । उन्होंने प्रसिद्ध इतिहासकार जियाउद्दीन बरनी की मौलाना दाऊद के 'चन्दायन' की प्रशंसा और जायसी के 'पद्मावत' के सम्बन्ध में चुप्पी को रेखांकित करके उनके इस रुख का खण्डन किया है । साही ने 'पद्मावत' का मूल्यांकन परम्परा और परिवेश के साथ जोड़कर किया है । 'पद्मावत' के ऐतिहासिक चरित्र का विश्लेषण करने के साथ-साथ उसकी रचनात्मक विशिष्टता को भी उन्होंने उद्घाटित किया है । इतिहास-बोध और कलात्मक विवेक का यह अनोखा योग साही की आलोचनात्मक दृष्टि की विशेषता है । इस सन्दर्भ में साही ने कई ऐतिहासिक मान्यताओं को तोड़ने का साहस भी किया है । वस्तुत: जायसी और 'पद्मावत' को सूफीमत के घेरे से बाहर निकालकर विशुद्ध रचनात्मक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय साही को प्राप्त है । उन्होंने 'पद्मावत' के ऐतिहासिक आधार की छानबीन की है और जायसी की इतिहास सम्बन्धी जानकारी का विश्लेषण किया है । 'पद्मावत' के पहले खंड को वे कल्पना पर

आधारित तो मानते ही हैं दूसरे खण्ड को भी वे इतिहास पर आधारित नहीं मानते जिसको शुक्ल जी ने 'इतिहास-लोक' कहा है । उनका मानना है कि इस दूसरे खण्ड में मोटे रूप से ऐतिहासिक तथ्यों का उपयोग तो जायसी ने किया है लेकिन पूरे वर्णन में रचनाकार की कल्पना ही सक्रिय है । जाहिर है कि इस विश्लेषण क्रम में साही का इतिहास-विवेक मुखर रुप में है । जायसी ही नहीं, शमशेर, अज्ञेय, प्रसाद आदि के काव्य की चर्चा में भी साही का इतिहास-बोध लक्षित किया जा सकता है । जैसे पहले कहा जा चुका है, साही के चिन्तन का केन्द्र मनुष्य है । इसलिए वे मनुष्य के हित को इतिहास की गतिशीलता और वर्तमानता का लक्ष्य मानते हैं । चाहे इतिहास चर्चा हो या समसामयिकता का विवेचन, वे मानवीय मूल्यवत्ता को ही अधिक महत्व देते हैं ।

साही के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विचारों के केन्द्र में भी यही मानवीयता विद्यमान है । धर्मनिरपेक्षता या जातिवाद पर बात करते समय भी उनकी दृष्टि उस सहज मनुष्य पर ही होती है । जातिप्रथा को पूरी तरह ध्वस्त करने में असफल भक्तिकाव्य की चर्चा करते हुए उन्होंने यह स्थापना की कि भक्तिकाव्य ने पहले जाति प्रथा और धर्मान्धता का विरोध तो किया, लेकिन आगे चलकर उसने जातिप्रथा से समझौता कर लिया । कबीर आदि सन्तों ने जाति व्यवस्था की कट्टरता का खण्डन तो किया था लेकिन उनके विचारों ने नये मठ व सम्प्रदायों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया और वे सम्प्रदाय भी कालान्तर में कट्टरतावादी हो गये । कबीर पंथ की परिणति के बारे में उन्होंने सही लिखा है कि सारी तेजी और सारा प्रतिरोध उस

विशिष्ट समाज में एक नये पंथ को जन्म देकर शेष समाज की धार से कट जाने की जोख़म में पड़ गया था । साही ठीक कहते हैं कि एक बार मठ या सम्प्रदाय की जकड़ मजबूत हो जाने पर प्रतिरोध कर्म-काण्ड में बदल जाता है, ताजगी ख़त्म हो जाती है और शेष समाज के मर्म पर फिर वही संकीर्ण पपडियाँ पड़ने लगती हैं । लोग विचलित नहीं होते, मान लेते हैं कि एक बाबा और हुआ और उसका एक पंथ और हुआ । हिन्दुस्तान में बड़ी क्रान्तिकारी आवाजों के सम्प्रदायों और अखाडों में बदल जाने की आवृत्ति बार-बार हुई है । चूंकि साही इतिहास की इस त्रासदी से न केवल अच्छी तरह वाकिफ़ थे बल्कि इसके ख़तरे से चिन्तित भी थे, इसलिए वे साहित्य में वैचारिक आक्रामकता की अपेक्षा मानवीय संवेदनशीलता के हिमायती थे । चूंकि मलिक मुहम्मद जायसी की कविता में उन्हें यह मानवीय सवेदनशीलता अत्यंत तीव्र रूप में दिखाई पड़ी, इसलिए उनकी स्थापना है कि 'एक अर्थ में जायसी हिन्दी के पहले विधिवत कवि हैं ।' वे इस बात से इनकार नहीं करते कि 'कबीरदास ने कविता के द्वारा एक अत्यन्त कठिन समय में अभिव्यक्ति की समर्थ और शक्तिशाली राह बनायी ।' इतना ही नहीं उन्होंने साफ शब्दों में स्वीकार किया है कि 'कबीरदास' के पथ-प्रदर्शन और क्षमता के बिना शायद जायसी के लिए 'पद्मावत' को लिख पाना भी संभव न होता । परन्तु कबीर अपनी प्रतिभा से सहारे भाषा को ठेल-ठेलकर आगे बढ़ाते हैं । उनकी कविता में इस प्रयास के चिह्न बराबर दिख़ते हैं, लेकिन जायसी में पहली बार हिन्दी भाषा सहज काव्य प्रवाह में बहने लगती है । हिन्दी का अवधि रूप, जिसे जायसी ने अपने काव्य माध्यम के लिए चुना समूचा का समूचा काव्यमय हो जाता है । कवि का प्रयास कहीं दिख़ता नहीं । ... जायसी केवल कवि नहीं हैं वे

आत्मसजग कवि हैं । गौरतलब है कि साही ने कविता के किसी एकमात्र निश्चित प्रतिमान के आधार पर 'पद्मावत' का विवेचन-विश्लेषण नहीं किया है । उनका मानना था कि साहित्य या कविता के विश्लेषणात्मक मूल्यांकन के लिए प्रतिमानों का एक समूह होना उचित है । इसलिए उन्होंने जिस प्रतिमान समूह के सहारे अपने समय की रचनाशीलता का विश्लेषण किया है उसी आधार पर 'पद्मावत' पर भी विचार किया है । इस क्रम में उन्होंने 'पद्मावत' जैसे मध्ययुगीन काव्य-ग्रन्थ में ऐसी कई विशेषताएँ दिखलाई हैं जो उनके अपने समय के लिए भी प्रासंगिक थीं । दूसरे शब्दों में कहें, तो 'जायसी' नामक अपनी स्मारक आलोचना कृति के माध्यम से साही ने हिन्दी में पर्याप्त प्रतिष्ठित कवि को नये सिरे से जानने और पहचानने की कोशिश की है । इसी को डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव प्रभृति आलोचक साही द्वारा किया गया 'एक मध्यकालीन कवि का आधुनिक कवि के रूप में आविष्कार' कहते हैं । उल्लेखनीय यह है कि इस ग्रन्थ में यह सब इतनी संवेदनशीलता के साथ किया गया है जिससे प्रतीत होता है कि जायसी न केवल उनके समकालीन हैं बल्कि उनसे अन्तरंग रूप में सम्बन्धित भी हैं । स्वभावत: जो अतीत था वह वर्तमान की तरह मालूम पड़ने लगा है । साही के शब्दों में यदि कहें, तो 'जाना हुआ पहचाना हुआ' की तरह प्रतीत होने लगा है । सच तो यह है कि यह जायसी का एक ऐसा पुनर्मूल्यांकन है जो गैरसाहित्यिक उद्देश्यों से किये जाने वाले पुनर्मूल्यांकन की अनेकानेक श्रृंखलाओं से न केवल भिन्न है बल्कि विशिष्ट भी । साही को यह प्रतीत होता है कि जायसी अपने समय की विचारधाराओं से बहुत कुछ लेते हैं और उनमें भी सूफ़ी तसव्वुफ सबसे प्रमुख और प्रभावशाली है । पर वे किसी एक विचारधारा से बंधे हुए नहीं मालूम

पड़ते । इसी वजह से पुनर्मूल्यांकन के दरम्यान प्रेमाख्यानों के रूप में रचित बहुत सारी काव्य-कृतियों से तुलना करते हुए भी साही ने 'पद्मावत' को उनसे भिन्न और विशिष्ट माना है । उनके अनुसार जायसी को सूफ़ी मानने से दोहरा अन्याय हो रहा है । क्योंकि जब उन्हें सूफ़ी मानने से उनका महत्व अधिक होता, तब सूफ़ी नहीं माना गया और अब सूफ़ी मानने से उनका महत्व कम होता है, तब सूफ़ी मानने का आग्रह होता है । 'पद्मावत' में अरबी फ़ारसी के शब्दों के बदले अवधी शब्दों के प्रयोग के महत्व को रेखांकित करते हुए विजयदेवनारयण साही जायसी को भारत का फिरदौसी प्रभृति कवि बताते हैं । जिस प्रकार फिरदौसी ने इस्लाम को अरबी के बजाय फ़ारसी भाषा में पुनर्रचित किया, लगभग उसी तरह से जायसी और दूसरे प्रेमाख्यानों के कवियों ने अवधी भाषा के माध्यम से कमोवेश इस्लाम के भारतीयकरण का प्रयास किया । यह दूसरी बात है कि यह प्रयत्न कालान्तर में बहुत कुछ निष्फल रहा है । बावजूद इसके साही की इस स्थापना में काफी दम है कि "समूची अवधी भाषा कविता ही है जो जायसी की कलम से अपना स्वरुप ग्रहण करती चलती है ।" मौलाना दाऊद के 'चन्दायन' और कुतुबन की 'मृगावती' की भाषा के साथ 'पद्मावत' की भाषा की तुलना करते हुए साही कहते हैं कि 'दाऊद और कुतुबन दोनों में लगता है कि अवधी भाषा रोड़े अटका रही है । 'पद्मावत' में न सिर्फ ये रोड़े गायब हो गये हैं बल्कि भाषा खुद कविता को जन्म देती और प्रौढ़ करती चलती है । ... जायसी मूलत: कवि हैं - अपनी सृजनात्मक प्रतिभा की दृष्टि से और बारम्बार अपने दावे के अनुसार भी । उसी तरह, जिस तरह कालिदास कवि हैं, जायसी के पूर्ववर्ती अमीर खुसरो कवि हैं, या फारसी के निजामी कवि हैं ।' साही मानते हैं कि 'जायसी हिन्दी

के अति महत्वपूर्ण कवि हैं । बीते हुए काल के एक वरिष्ठ कवि होने के नाते ही नहीं, बल्कि इस अर्थ में कि आज के साहित्यकार साहित्य से सरोकार रखने वाले के लिए जायसी से अपरिचित होना अकिंचन हो जाने जैसा है ।' अपने कवि होने का, गुणी होने का उन्हें पूरा भरोसा, बल्कि गर्व है । कहना न होगा कि 'पद्मावत' की भाषा पर विजयदेवनारायण साही का आलोचक बिलकुल रीझ गया सा दिखाई देता है । बावजूद इसके उनकी आलोचना में जायसी की भाषा पर उतने विस्तार के साथ विचार नहीं किया गया है, जितने विस्तार से आलोचकों ने गोस्वामी तुलसीदास की भाषा पर विचार किया है । साही ने जायसी की भाषागत विशेषताओं की केवल उतनी चर्चा की है, जितनी यह सिद्ध करने के लिए उन्हें जरूरी मालूम पडी कि 'पद्मावत' सृजनात्मक प्रतिभा से सम्पन्न एक विशिष्ट कवि की स्मारक काव्य कृति है । वस्तुतः साही को जायसी की कविता में एक ऐसा रचनात्मक संदेश निहित जान पड़ा, जो उनके अपने युग की निस्सारता के सन्दर्भ में प्रासंगिक था । कहना न होगा कि जायसी अपने युग के निरर्थक युद्धों से बने हुए अमानवीय वातावरण के सन्दर्भ में एक त्रासद दृष्टि का सम्प्रेषण करना चाहते हैं । दूसरे शब्दों में कहें तो वे बतलाना चाहते हैं कि हिन्दुओं और तुर्कों या तुर्कों और तुर्कों के बीच हुए सारे युद्ध निस्सार और निरर्थक हैं । 'पद्मावत' के अन्त में अलाउद्दीन पद्मिनी की चिता की एक मुट्ठी राख लेकर यह अनुभव करता है कि पृथ्वि झूटी है । इसलिए बेवजह छोटी-छोटी बातों को लेकर केवल सामन्ती अहंकार के पोषण के लिए किये जाने वाले युद्ध निरर्थक हैं । चूंकि जायसी साम्प्रदायिक संकीर्णता से रहित एक गहरे मानवीय सरोकार वाले कवि हैं, इसलिए 'पद्मावत' के माध्यम से कविता के रूप में उस जमाने के बारे में एक

मार्मिक टिप्पणी की गई है । विजयदेवनारायण साही को अपने जमाने की निस्सारता के मद्देनजर 'पद्मावत' की मार्मिकता प्रासंगिक प्रतीत हुई जिसके परिणामस्वरूप उस कृति को बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में एक नया अर्थ सन्दर्भ और नया आयाम प्राप्त हुआ । स्मरणीय है कि अनेकानेक महान आलोचकों द्वारा लिखित गौरव ग्रन्थों के बावजूद 'सूरसागर' और 'रामचरितमानस' को साही जैसे किसी आलोचक की आज तक प्रतीक्षा है । कबीर के सन्दर्भ में इस दृष्टि से हजारीप्रसाद द्विवेदी और हमारे समय में लिखित डॉ. धर्मवीर के ग्रन्थों का महत्व सर्वविदित है । पर डॉ. धर्मवीर रचित कबीर विषयक पुस्तकों के विशेष सन्दर्भ में यह कहना अयुक्तियुक्त न होगा कि उनमें सृजनशीलता के बजाय प्रतिक्रिया की मात्रा कहीं ज्यादा है जबकि साही की 'जायसी' नामक पुस्तक में एक गहरी सर्जनात्मकता दिखाई पड़ती है ।

'पद्मावत' की संरचना का विश्लेषण करते हुए साही ने द्वन्द्वात्मक पद्धति का सहारा लिया है । रामचन्द्र शुक्ल से भिन्न ही नहीं, बल्कि कई बार विपरीत ध्रुवान्त पर खड़े होकर साही ने सिंहल के साथ-साथ दिल्ली से जुड़ी हुई कथा को भी जायसी द्वारा कल्पित माना है । एक स्थान पर वे यहाँ तक कहते हैं कि यह कविता की ओर से इतिहास को दिया गया एक तोहफ़ा है । ग़ौरतलब है कि साही बुनियादी तौर पर एक कवि-आलोचक हैं और कवियों की आलोचना की सीमाओं का निर्देश करते हुए टी.एस. एलियट ने जिस 'कार्यशाला की आलोचना' की चर्चा की है, वह कई बार साही के सन्दर्भ में भी सटीक प्रतीत होती है । इस सन्दर्भ में दिल्ली से जुड़ी हुई ऐतिहासिक मानी जानेवाली कथा को कविकल्पित घोषित करने के साथ-साथ

नागमती के विरह वर्णन पर की गई उनकी टिप्पणी ध्यातव्य है । उनकी पहली स्थापना में जहाँ 'कार्यशाला की आलोचना' की सीमा दिखाई पड़ती है वहीं दूसरे सन्दर्भ में साही का कवि उनके आलोचक को सामर्थ्य प्रदान करता हुआ प्रतीत होता है । चूंकि मूल रूप में इसे उन्होंने 'हिन्दुस्तानी अकादमी' इलाहाबाद में एक व्याख्यान माला के रूप में प्रस्तुत किया था, इसलिए यदि एक ओर इसमें बोलचाल की सहज रवानी है, तो दूसरी ओर कई प्रसंगों की बार-बार पुनरावृत्ति भी ।

ऐसे तो विजयदेवनारायण साही 'नई कविता' के जमाने के आलोचक हैं, पर उनके रचना संसार से गुजरते हुए किसी भी प्रबुद्ध पाठक को यह सहज ही एहसास हो सकता है कि उन्होंने जिस गहराई से छायावाद की मनोभूमि को पहली बार समझने की कोशिश की है, उतनी ही गहराई और व्यापकता से वे संभवतः नई कविता की मनोभूमि को विवेचित विश्लेषित करने में सफल नहीं हो पाये हैं । आलोचना को साहित्य का दर्शन शास्त्र माननेवाले साही में विवेकसम्मत दार्शनिकता हर जगह दिखाई देती है । यह अकारण नहीं है कि छायावाद युग पर विचार करते हुए उनकी दृष्टि उसके 'मेटाफिजिक्स' पर ठहर जाती है । हालांकि वे मानते हैं कि 'मेटाफिजिक्स' छायावाद के लिए चिंतन या अनुभव की विद्या उतनी नहीं है जितनी कि एक काव्यात्मक मुद्रा । उल्लेखनीय है कि साही की इस अवधारणा पर किसी न किसी रूप में आचार्य शुक्ल द्वारा छायावाद पर लगाये गये रहस्याभास के आरोप की छाया मंडरा रही है । आगे चलकर हिन्दी कविता का जो एक नया मोड़ सामने आया, उसे साही महामानव का 'सहज' या 'लघुमानव' के रूप में विकास मानते हैं । इस

विकास की सामाजिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि के बारे में उनकी मान्यता है कि वह सत्याग्रह युग का नेहरू युग की ओर विकास है । छायावाद युग उनके लिए यदि सत्याग्रह युग है, तो उत्तर छायावाद युग राजनीति का नेहरू युग । सत्याग्रह युग में चूंकि मानवीय आस्था प्रबल थी इसलिए अपराजेय संकल्प का साहित्य संभव हो सका, किन्तु कालान्तर में इस अपराजेय संकल्प की परिणति अपराजेय विवशता में लक्षित होती है । अर्थात् महामानव का साधारण मानव में रूपान्तरण । साही के अनुसार सत्याग्रह युग में जो रचनाएँ सामने आयीं, उनमें 'नैतिकता में शक्ति के विलयन की कथा' है, जबकि आगे चलकर 'अपराजय विवशता द्वारा पराजित पिता के दार्शनिक पुत्रों का आख्यान रचा गया है ।'

साही की आलोचना में शैली की दृष्टि से स्पष्टता सबसे बड़ा गुण है । फ्लाबियर के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने शैली के तीन गुण माने हैं - स्पष्टता, स्पष्टता और स्पष्टता । तात्पर्य यह कि यदि रचना या आलोचना में एक सीमा से अधिक अमूर्तन की स्थिति पैदा होती है, तो इसका पाठक पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है । यह सुखद है कि अपवादस्वरूप एकाध स्थलों को छोड़कर विजयदेवनारायण साही की आलोचना में अस्पष्टता जैसी कोई स्थिति नहीं दिखाई देती । व्यावहारिक समीक्षा के अलावा जो उनके शुद्ध सैद्धान्तिक लेख हैं, उनमें भी बहुत दूर तक स्पष्टता है । वस्तुत: जब तक साही अमूर्तन की सीमा का अतिक्रमण नहीं करते, उनकी आलोचना में स्पष्टता बनी रहती है । इस सीमा को पार करते ही, चाहे सैद्धान्तिक समीक्षा हो या व्यावहारिक समीक्षा, वे लगभग आलोचना में संध्या-भाषा का प्रयोग

शुरू कर देते हैं । उदाहरण के लिए बिम्ब और बिम्बलोक तथा बिम्बात्मकता और बिम्बलौकिकता के बीच जब वे अपने जबरदस्त अंदाज में अंतर करते हैं, तो आलोचना की संध्या-भाषा प्रकट होती है : "बिम्ब और बिम्बलोक के अंतर को स्पष्ट करना यहाँ आवश्यक है । यह लगभग उसी तरह का अन्तर है जो विष्णु और विष्णुलोक में है । विष्णुतत्व और विष्णुलोक में अंतर है । उसी तरह बिम्ब के बिम्बतत्व और बिम्बलौकिकता में अंतर है । शमशेर की कविता में घिरे हुए असीम को बिम्ब की बिम्बात्मकता नहीं, उसकी बिम्बलौकिकता भरती है ।" सवाल यह खड़ा होता है कि यदि बिम्बलौकिकता अनेकानेक बिम्बों का पुंज है, तो नागार्जुन की 'अकाल और उसके बाद' कविता में आये बहुत सारे बिम्बों के बावजूद शमशेर-काव्य की तरह किसी अमूर्तता के बजाय स्पष्ट मूर्तिमत्ता क्यों दिखाई पड़ती है ? संभवत: साही की दृष्टि में इसका उत्तर यह होगा कि नागार्जुन के यहाँ कोई 'घिरा हुआ असीम' नहीं है और वहाँ यथार्थ के मर्म में किसी फाँक के बजाय एक भरा-पूरा यथार्थ दृश्य उपस्थित किया गया है । जबकि साही के शब्दों में शमशेर इस बिम्बलौकिकता के सहारे 'मालार्मीय विड़म्बना' का हल अपने ढ़ंग से निकालते हैं । इस सन्दर्भ में कवि रघुवीर सहाय रचित 'शराब के बाद अन्धेरा' शीर्षक कविता का स्मरण स्वाभाविक है जिसके मद्देनजर डॉ. नामवर सिंह ने 'विसंगति' और 'विड़म्बना' की अवधारणा का बहुत ही स्पष्ट रूप में पेश किया है ।

साही के साहित्य विषयक सैद्धान्तिक चिन्तन की एक बड़ी विशेषता यह है कि वहाँ साहित्य की शाश्वतता वाली धारणा को ख़ारिज करते हुए सामयिकता या नितान्त

सामयिकता के मद्देनजर उस पर प्रकाश डाला गया । सच तो यह है कि जो साहित्य कालजीवी नहीं होता वह कदापि कालजयी नहीं हो सकता । दूसरे शब्दों में कहें, तो किसी रचना के कालातीत होने के लिए सर्वप्रथम उसमें समाजशास्त्रीय प्रामाणिकता का होना आवश्यक है । सामयिक प्रश्नों और सन्दर्भों से कटकर कोई साहित्य शाश्वतता के सिंहासन पर आसीन नहीं हो सकता ।

कुलमिलाकर यह कहा जा सकता है कि विजयदेवनारायण साही हिन्दी आलोचना के एक मान्य स्तंभ है । जाहिर है कि हिन्दी आलोचना को सौभाग्य से आरंभ में ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसा समर्थ व्यक्तित्व मिला । इस परम्परा को आगे बढ़ानेवाले जिन आलोचकों की चर्चा की जाती है, उनमें हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, डॉ. नामवर सिंह, मलयज, रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी, नन्द किशोर नवल आदि के साथ विजयदेवनारायण साही का नाम भी उल्लेखनीय है । इसका सबसे बडा परिणाम यह है कि हिन्दी के बहुत सारे बड़े आलोचकों ने विभिन्न मुद्दों पर साही से न केवल सहमति असहमति प्रकट की है, बल्कि कई जगह खुद उनका लोहा भी माना है । यह ठीक ही कहा गया है कि आलोचना न तो रचना की पुनरुत्पादित विधा है और न ही उसका अनुचर । क्योंकि खुद रचना के अलावा और सिवाय उसका कोई दूसरा विकल्प नहीं हो सकता । तात्पर्य यह कि वह खुद रचना ही है जो अपने अर्थ व संदेश को सारी मुमकिन संभावनाओं में पेश कर सकती है । इसलिए आलोचना से यह उम्मीद नहीं की जानी चाहिए कि वह रचना के बारे में कोई अंतिम सत्य बयान कर ही

दे । वैसे ही जैसे कि रचना के बारे में समूची सच्चाई उजागर कर दे । वस्तुतः आलोचना रचना से कई मायनों में सापेक्षतः स्वतन्त्र एक बौद्धिक कर्म है । वह समय के साथ अपनी बहस में रचना को दलील, नजीर और गवाह की तरह पेश करती है । स्मरणीय है कि जब बहुत सारी रचनाएँ लिखी जा रही हो, तब अपनी बहस में आलोचना अपने समय की दलील, नजीर और गवाही को नजरअंदाज नहीं कर सकती । विजयदेवनारायण साही के आलोचक को अशोक वाजपेयी ने ठीक ही 'एक बहस करता हुआ आदमी' के रूप में पहचाना है । स्पष्ट ही उनकी सारी बहसें रचना सापेक्ष हैं । हालांकि उन्होंने परिमाण की दृष्टि से डॉ. रामविलास शर्मा प्रभृति आलोचकों की अपेक्षा कम लिखा है, लेकिन गुणात्मकता की दृष्टि से उनके लेखन का हिन्दी आलोचना में स्थायी महत्व है । डॉ. जगदीश गुप्त ने ठीक ही उनकी लघु समीक्षा पुस्तक 'जायसी' के महत्व को दर्शाने के लिए 'पद्मावत' की एक अर्द्धाली को उद्धृत किया है :

'तेजवंत लघु गनिअ न रानी ।'

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ :

1. विजयदेवनारायण साही - छठवाँ दशक - हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद; 1987
2. विजयदेवनारायण साही - जायसी - हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद; 1983
3. विजयदेवनारायण साही - वर्धमान और पतनशील - वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली, 1991
4. विजयदेवनारायण साही - साहित्य और साहित्यकार का दायित्व - हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; 1983
5. विजयदेवनारायण साही - साहित्य क्यों ? - प्रदीपन एकांश, इलाहाबाद; 1988
6. विजयदेवनारायण साही - मछलीघर; वाणी प्रकाशन
7. विजयदेवनारायण साही - साखी; वाणी प्रकाशन

सहायक ग्रन्थ :

1. अग्रवाल पुरुषोत्तम - विचार का अनन्त - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2000
2. अग्रवाल वासुदेव शरण - पद्मावत - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998
3. कुमार विमल - काव्य रचना प्रक्रिया; हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना; 1972
4. गुप्त माताप्रसाद - पद्मावत - भारती भंडार, इलाहाबार; 1973
5. चतुर्वेदी रामस्वरुप - हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं. 1976
6. जैन, प्रेमचंद - बीहड़ पथ के यात्री - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; 1996

7. दिनकर, रामधारी सिंह - संस्कृति के चार अध्याय - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; 1988

8. द्विवेदी, हजारीप्रसाद - अशोक के फूल - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; 1981

9. द्विवेदी, हजारीप्रसाद - कल्पलता - ज्ञानमण्डल लिमिटेड - वाराणसी; 1959

10. द्विवेदी, हजारीप्रसाद - मध्यकालीन बोध का स्वरुप - पब्लिकेशन ब्यूरो, चण्डीगढ़; 1997

11. धर्मवीर - सन्त रैदास का निर्वर्ण सम्प्रदाय - संगीता प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997

12. नवल, नन्दकिशोर - मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 1994

13. पाण्डेय, इन्दु प्रकाश - हिन्दी के आँचलिक उपन्यासों में जीवन सत्य - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली; 1979

14. पाण्डेय, मैनेजर - साहित्य और इतिहास दृष्टि - वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 1981

15. पाण्डेय, श्याम मनोह - सूफी काव्य-विमर्श - विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा; 1968

16. मलयज - कविता से साक्षात्कार - संभावना प्रकाशन, हापुड़; 1979

17. मलयज - संवाद और एकालाप - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 1984

18. मिश्र, भागीरथ - समीक्षालोक - समुदाय प्रकाशन, बम्बई; 1964

19. मुक्तिबोध, गजानन माधव - मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड-4, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली; 1986

20. मुक्तिबोध, गजानन माधव - मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड-5 - राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली; 1986

21. रघुवंश - जायसी : एक नई दृष्टि - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; 1993

22. रामबक्ष - समकालीन हिन्दी आलोचक और आलोचना - हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़; 1991

23. रेनेवेलेक - साहित्य के सिद्धान्त - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

24. लोहिया, राममनोहर - जातिप्रथा - राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद; 1986

25. लोहिया, राममनोहर - धर्म पर एक दृष्टि - राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद; 1986

26. लोहिया, राममनोहर - भाषा - नवहिन्द प्रकाशन, हैदराबाद; 1965

27. लोहिया, राममनोहर - सरकारी मठी और कुजात गाँधीवादी - राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद ; 1986

28. वर्मा, धनन्जय - आलोचना की रचना-यात्रा, विद्या प्रकाशन मंदिर, नई दिल्ली; 1978

29. वाजपेयी, अशोक - फिलहाल - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 1989

30. शर्मा, रामविलास - परम्परा का मूल्यांकन - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 1981

31. शर्मा, रामशरण - भारतीय सामन्तवाद - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998

32. शास्त्री, जानकी वल्लभ - साहित्य दर्शन - भारती भवन, पटना, 1967

33. शुक्ल, रामचन्द्र - जायसी ग्रन्थावली - नागरीप्रचारणी सभा, काशी; 1924

34. शुक्ल, रामचन्द्र - त्रिवेणी - नागरीप्रचारणी सभा, काशी; सं. 2026

35. शुक्ल, रामचन्द्र - हिन्दी साहित्य का इतिहास - नागरीप्रचारणी सभा, काशी; सं. 2053
36. श्रीवास्तव, परमानन्द - शब्द और मनुष्य - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 1988
37. सांकृत्यायन राहुल - वैज्ञानिक भौतिकवाद - किताब महल, प्रयाग; 1947
38. सिंह, कन्हैया - मलिक मुहम्मद जायसी - विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी; 1994
39. सिंह, नामवर - इतिहास और आलोचना - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
40. सिंह, नामवर - कहानी नई कहानी - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
41. सिंह, नामवर - वाद विवाद संवाद - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 1989
42. सिंह, बच्चन - हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास - राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; 1997
43. सिंह, विजेन्द्रनारायण - अशुद्ध काव्य की संस्तुति में - परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद; 1948
44. सिंह, शमशेर बहादुर - प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन; 1990

अंग्रेजी सहायक ग्रंथ :

1. Asraf, K.M. - Life and conditions of the people of Hindustan - Munshiram Manoharlal Publications, New Delhi; 1970
2. Chatopadhyaya B.D. - The Making of Early Medieval India, Oxford University Press, New Delhi; 1997.
3. Jha, D.N. - The Fewdal Order - Manohar Publications, New Delhi; 2000

4. Lohia Ram Manohar - Wheel of History - Ram Manohar Lohia Samata Vidyalaya Nyas, Hyderabad; 1974

5. Ray Chaudhary, S.C. - Social Cultural and Economic History of India, Sujeet Publications, New Delhi; 1978.

पत्र-पत्रिकाएँ :

1. उत्तरार्थ-20, अक्तूबर, 1982; सं. सव्यसाची; मथुरा
2. कसौटी-3, अक्तूबर-दिसंबर, 1999; सं. नन्दकिशोर नवल; पटना
3. जन संस्कृति - जनवरी-फरवरी-मार्च, 1990; सं. अवधेश प्रधान, इलाहाबाद
4. पहल 64-65; अर्पेल, मई, जून - 2000; सं. ज्ञानरंजन, जबलपुर
5. पूर्वग्रह-65, नवम्बर-दिसंबर, 1984, सं. अशाक वाजपेयी, भोपाल
6. पूर्वग्रह-78-79, जनवरी-अप्रैल-1987; सं. अशोक वाजपेयी, भोपाल
7. वर्तमान साहित्य-जनवरी-फरवरी, 2000, सं. असगर वजाहत, दिल्ली
8. वर्तमान साहित्य-5, मई-2002, सं. अरविन्द त्रिपाठी, दिल्ली
9. वर्तमान साहित्य-6, जून, 2002, सं. अरविन्द त्रिपाठी, दिल्ली
10. वर्तमान साहित्य-7, जुलाई, 2002, सं. अरविन्द त्रिपाठी, दिल्ली
11. वसुधा 54, अप्रैल-जून, 2002 सं.प्रो. कमला प्रसाद, दिल्ली
12. सापेक्ष 30 - जनवरी-मार्च, 1994 सं. महावीर अग्रवाल, दिल्ली
13. हंस - अक्तूबर, 1997, सं. राजेन्द्र यादव, नई दिल्ली ।